शुक्रनीति

[राजधर्म का सर्वोत्तम ग्रन्थ]

अनुवादक—

श्री पं० गङ्गाप्रसादजी शास्त्री

श्रीमन्महर्षि श्रीशुक्राचार्य प्रणीत

शुक्रनीति

(मूल संस्कृत और हिन्दी अनुवाद)

अनुवादकः—

श्री पं० गङ्गाप्रसादजी शास्त्री

दिल्ली।

प्रकाशक—

हिन्दू जगत, कार्यालय

शामली

जि० मुजफ्फरनगर

प्रथमबार] १९९८ विक्रमी [मूल्य २।)

प्रकाशकः—
हिन्दू जगत, कार्यालय
शामली ।

मुद्रकः—
संस्कृत यन्त्रालय
शामली ।

❀ निवेदन ❀

भारत आज पराधीन है यहां आज अपना साम्राज्य नहीं है यही कारण है कि आज संसार की दृष्टि में भारत को वह गौरव प्राप्त नहीं है जो किसी एक छोटे से छोटे और असभ्य से असभ्य, किन्तु स्वतन्त्र साम्राज्य को प्राप्त है।

भारत की आज उस हाथी जैसी दशा है जो मृत्यु तुल्य पड़ा है जिसके प्राण पखेरू उड़ना ही चाहते हैं जिसे देख कर वैद्य निराश हो चुके हैं और जिसके एक कुतिया भी लात मार कर हंसती हुई चली जाती है।

भारत और हाथी की दशा में एक अन्तर है वैद्य के पास हाथी के लिये दवा समाप्त हो चुकी परन्तु भारत के लिए अभी कुछ नुसखे हिन्दू जाति के पास सुरक्षित पड़े हैं जिनके देखने मात्र से ही आराम होने की आशा हो सकेगी तथा जिनके सेवन करने से हिन्दू साम्राज्य फिर जीवित जागृत हो उठेगा।

महाभारत, कौटिल्य अर्थशास्त्र और शुक्रनीति आदि ग्रन्थ ही वे नुसखे हैं जिनमें हमारी स्वतन्त्रता छिपी हुई है, जिनमें साम्राज्यों के निर्माण की कलाओं का वर्णन है। परन्तु दुर्भाग्य से हमने अपने पूर्वजों के इन "रत्नों" को छुआ नहीं, इन्हें पढ़ना और इनका मनन करना भी हमने अपराध समझा। जो महाभारत हमें साम, दाम, दण्ड और भेद की शिक्षा देता था हमने उसका पढ़ना और घर में रखना भी अशुभ समझा, जिस

कौटिल्य अर्थशास्त्र के रचयिता आचार्य चाणक्य ने मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी उसकी नीति को हमने पढ़ने में आलस्य किया, भगवान श्रीकृष्ण कूटनीति के भी आचार्य थे परन्तु हमने कूटनीति के ग्रन्थ शुक्रनीति को पढ़ना अधर्म और पाप समझा-यही कारण हुआ कि हम पराधीन होगए-और हमारा साम्राज्य छिन्न-भिन्न होगया। जो जाति नीति निपुण नहीं रहतीवह एक दिन पराधीन हो ही जाया करती है। इसमें सन्देह नहीं है।

एक बार मुगल सम्राट् औरंगजेब ने अपने उस्ताद को यह कहकर धमकाया था कि तुमने मुझे केवल अरबी पढ़ाकर मेरा सारा समय नष्ट कर दिया तुमने मुझे राजनीति की एक भी बात नहीं पढ़ाई-तुम्हें जानना चाहिये था कि मैं मुगल सम्राट का बेटा हूँ मुझे भी एक दिन बादशाह बनना है तुम्हारा कर्तव्य था कि तुम मुझे मजहब के साथ २ राजनीति की भी बातें सिखाते, आज मेरे सामने यह ही कठिनाई उपस्थित हो रही है। परिणाम यह हुआ कि मुगल सम्राट् राजनीति में कोरे रह गये और मुगल साम्राज्य की इतिश्री होगई।

यही दशा हिन्दू जाति की हुई यदि हिन्दू जाति में राजधर्म का अध्ययन भी जारी रहता तो कोई कारण न था कि हिन्दू पराधीन होते।

कुछ ऐसे लोग हैं जो राजधर्म का अध्ययन तो करते हैं परन्तु वह भी दूसरों का-अपना नहीं, यही कारण है कि उनके हृदय में स्वराज्य से कोई प्रेम नहीं, उन्हें यह भी विश्वास नहीं कि हमारे पूर्वजों ने कभी चक्रवर्ती राज्य किये थे या उन्हें भी

हमारी जितनी राजनीति आती थी। यदि आज हमारे पूर्वजों के यह पवित्र ग्रन्थ न मिलते-तो सचमुच यह लोग तुरन्त कह देते कि प्राचीन भारतीय राजधर्म से शून्य थे।

समय के हेर फेर से हमारे साहित्य भण्डार में अग्नि से से बचे हुए हमारे यह "राज्यरत्न" हमें प्राप्त हो चुके हैं जिन पर हमें गौरव है जिनके लिए हम अभिमान पूर्वक यह कह सकते हैं कि यदि हमने इन "रत्नों" को परखा तो हम एक दिन अवश्य स्वतन्त्र होंगे एवं फिर हिन्दू साम्राज्य की स्थापना में पलक भर की भी देर न लगेगी।

हर्ष की बात है कि महाभारत प्रकाशक मण्डल दिल्ली के अध्यक्ष श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी शास्त्री ने इन तीनों ही ग्रन्थों का बड़े परिश्रम से बहुत ही सरल भाषा में अनुवाद करके हिन्दू राष्ट्र का महान् हित सम्पादन किया है।

कागज की भयंकर तेजी तथा अनेक कठिनाइयों और बाधाओं के होते हुए भी यह तीन ग्रन्थ महाभारत, कौटिल्य अर्थशास्त्र और शुक्रनीति आपकी सेवा में उपस्थित है। आपका भी यह परम कर्तव्य है कि आप इन्हें स्वयं अपनावें और अपने मित्रों से अनुरोध करें तथा प्रत्येक हिन्दू के घर घरमें इन ग्रन्थोंका स्वाध्याय हो-ऐसा शक्तिभर प्रयत्न करें तभी भारत स्वतन्त्र होगा और तभी भारत उस गौरव को प्राप्त करेगा जो अन्य देशों को प्राप्त है।

शामली ‖ निवेदकः—

चतुरसेन गुप्त

विषय सूची

राजनीति का महान् ग्रन्थ

कौटिल्य अर्थशास्त्र

(मूल संस्कृत और हिन्दी अनुवाद सहित)

यह वही ग्रन्थ है जो पहले जर्मनी में छप कर ७८) में बिकता था आज तो ऐसा मालूम होता है कि जर्मन इसी ग्रन्थ के बल पर युद्ध लड़ रहा हो क्योंकि इस ग्रन्थ में—युद्ध में महीनों भूख प्यास नष्ट करने के कितने ही नुसखे, शत्रु की फौजों को अन्धा, पागल और बेहोश कर देने वाली गैसों के कितने ही नुसखे, आकृति बदल कर शत्रु को धोखे में डालने के कई उपाय, शत्रु की फौजों में अग्नि वर्षा करने वाले नुसखे और साथ ही हजारों बातें राज्य करने की भरी पड़ी हैं।

इसीलिए इस ग्रन्थ को कलकत्ता, बनारस और बम्बई की यूनीवर्सिटियों ने अपनी पाठविधी में स्थान दिया है।

इसी ग्रन्थ के लिए **राष्ट्रपति पं० जवाहरलाल जी नेहरू ने लिखा था** कि इस अर्थशास्त्र में....राजाओं, मन्त्रियों, और सलाहकारों के कर्तव्यों का, राज सभा का, शासन विभाग का, व्यापार और व्यवसाय का, ग्राम और नगरों की शासन प्रणाली का, कानून और अदालतों का, सामाजिक रीतिनीति का, स्त्रियों के अधिकारों का, विवाह और विवाहविच्छेद का, टेक्सों का, सेना और नौ-सेना का, युद्ध और सन्धि का, कूटनीति का, कृषि का, कताई और बुनाई का, कलाकारों का और जेल तक का उसमें उल्लेख है इस सूची को मैं और भी बढ़ा सकता हूं।

हमारा दावा है कि आप भी इस ग्रन्थ को पढ़कर बड़े प्रसन्न होंगे। मूल्य ७)

हिन्दू जगत् कार्यालय
शामली (जिला मुजफ्फरनगर)

शुक्र नीतिः

पहला अध्याय

प्रणम्यजगदाधारंसर्गस्थित्यंतकारणम् ।
संपूज्यभार्गवःपृष्टोवंदितःपूजितःस्तुतः ॥१॥
पूर्वदेवैर्यथान्यायंनीतिसारमुवाचतान् ।
शतलक्षश्लोकमितंनीतिशास्त्रमथोक्तवान् ॥२॥
स्वयंभूर्भगवाँल्लोकहितार्थंसंग्रहेणवै ।
तत्सारंतुवसिष्ठाद्यैरस्माभिर्वृद्धिहेतवे ॥३॥

अल्पायुर्भूभृताद्यर्थं संक्षिप्तं तर्कविस्तृतम् ।

क्रियैकदेशबोधीनि शास्त्राण्यन्यानि संति हि ॥४॥

पूर्वकाल में विद्वान् ऋषियों ने जगत् के आधार, जगत् की रचना, पालन और संहार के कारण परमात्मा को प्रणाम करके भृगुवंशोत्पन्न श्रीशुक्राचार्य से नीति शास्त्र के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उन्होंने शुक्राचार्य की बहुत सी पूजा, स्तुति और वन्दना की। महर्षि शुक्राचार्य ने भी न्यायानुसार नीति शास्त्र का उन विद्वानों को उपदेश किया। उस उपदेशात्मक नीति-शास्त्र के श्लोकों की संख्या एक करोड़ के लगभग थी। शुक्राचार्य को इस नीति शास्त्र का उपदेश भगवान् ब्रह्मा से प्राप्त हुआ था। लोक के हित की इच्छा से मनुष्यों की वृद्धि के निमित्त वशिष्ठादि हम मुनियों ने उस नीति शास्त्र के सार का संग्रह किया। यह संग्रह यद्यपि संक्षिप्त है, तथापि तर्क पूर्ण है। थोड़ी आयु वाले आज कल के राजाओं को इसी से सिद्धि प्राप्त हो सकती है। अन्य नीति शास्त्र यद्यपि बहुत से हैं, तो भी उनमें नीति की किसी एक ही क्रिया का वर्णन किया गया है॥ १-४ ॥

सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम् ।

धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ॥५॥

यह श्री शुक्राचार्य का नीति शास्त्र, अन्य सारे नीति शास्त्रों की सहायता या पुष्टि करने वाला है। इस शास्त्र के अभ्यास से ही लोक शासन की ठीक २ व्यवस्था हो सकेगी। यह धर्म, अर्थ

और काम की सिद्धि का मूल कारण है। इस नीति शास्त्र के अध्ययन से अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होना भी सम्भव है ॥ ५ ॥

अतःसदानीतिशास्त्रमभ्यसेद्यत्नतोनृपः ।
यद्विज्ञानान्नृपाद्याश्चशत्रुजिल्लोकरंजकाः ॥६॥

इस नीति शास्त्र के अध्ययन से राजा लोग शत्रु के जीतने में समर्थ होते हैं और समीचीन रीति से प्रजा का पालन कर सकते हैं। इस लाभ को दृष्टि में रख कर राजा को सर्वदा नीति शास्त्र का अभ्यास करते रहना चाहिए ॥ ६ ॥

सुनीतिकुशलानित्यंप्रभवंतिचभूमिपाः ।
शब्दार्थानांनकिंज्ञानंविनाव्याकरणाद्भवेत् ॥७॥
प्राकृतानांपदार्थानांन्यायतर्कैर्विनानकिम् ।
विधिक्रियाव्यवस्थानांनकिंमीमांसयाविना ॥८॥
देहाद्यनिश्वरत्वंवेदांतैर्नविनाहिकिम् ।
स्वस्वाभिमतबोधीनिशास्त्राण्येतानिसंतिहि ॥९॥
तत्तन्मतानुगैःसर्वैर्विधृतानिजनैःसदा ।
बुद्धिकौशलमेतद्धितैःकिंस्याद्व्यवहारिणाम् ॥१०॥
सर्वलोकव्यवहारस्थितिर्नीत्याविनानहि ।
यथाशनैर्विनादेहस्थितिर्नस्याद्धिदेहिनाम् ॥११॥

इस नीति शास्त्र के ज्ञान से ही राजा लोग, नीति निपुण होने में समर्थ होते हैं। जिस तरह व्याकरण शास्त्र के बिना शब्द और अर्थ का कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता—सृष्टि के अन्य पदार्थों का ज्ञान, न्याय और तर्क के बिना नहीं होता-तथा मीमांसा शास्त्र के बिना याज्ञिक क्रिया सम्बन्धी कुछ भी ज्ञान नहीं हो पाता। तृण, से लेकर देह पर्यन्त-सारा संसार नश्वर है, यह वेदान्त बिना नहीं जाना जा सकता। ये अनेक शास्त्र अपने अपने मत के बोधक हैं। इनके मतों के जानने वाले विद्वान इन शास्त्रों का अध्ययन अध्यापन करते चले आये हैं। यद्यपि इन शास्त्रों में बुद्धि का चमत्कार बहुत है, परन्तु इससे संसार में व्यवहार करने वाले मनुष्यों की क्या सिद्धि हो सकती है। सारे संसार के सञ्चालन की रीति तो नीति शास्त्र के बिना कोई नहीं बता सकता। इस जगत् की स्थिति नीति शास्त्र के बिना इस तरह नहीं हो सकती, जैसे भोजन के बिना देह की स्थिति नहीं हो सकती है ॥ ७-११ ॥

सर्वाभीष्टकरंनीतिशास्त्रंस्यात्सर्वसंमतम् ।
अत्यावश्यंनृपस्यापिससर्वेषांप्रभुर्यतः ॥१२॥

नीति शास्त्र, मनुष्य के अभीष्ट की सिद्धि करने वाला सब सम्मत शास्त्र है। राजाओं को तो इसका अध्ययन अवश्य ही करना चाहिए। इस नीति-शास्त्र का जब इतना उपयोग है, तो यह अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली और उपयोगी समझना चाहिए ॥ १२ ॥

शत्रवोनीतिहीनानांयथापथ्याशिनांगदाः ।
सद्यः केचिच्चकालेनभवंतिनभवंतिच ॥१३॥

नीति हीन राजाओं के शत्रु इस तरह खड़े हो जाते हैं, जैसे कुपथ्य करने वाले मनुष्य के रोग तत्काल या कालान्तर में उत्पन्न हो जाते हैं। जिससे वह रोगी या राजा जीवित नहीं रह सकता है ॥ १३ ॥

नृपस्यपरमोधर्मःप्रजानांपरिपालनम् ।
दुष्टनिग्रहणंनित्यंननीत्यातौविनाह्युभे ॥१४॥

राजा का परम धर्म, प्रजा का परिपालन और दुष्टों का निग्रह करना है। ये दोनों कार्य विना नीति शास्त्र के अध्ययन के सिद्ध नहीं हो सकते हैं। इससे नीति शास्त्र की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिए॥ १४ ॥

अनीतिरेवसंछिद्रं राज्ञोनित्यंभयावहम् ।
शत्रुसंवर्धनंप्रोक्तंबलहासकरंमहत् ॥१५॥

नीति शास्त्र के विरुद्ध चलना राजा का सब से बड़ा भय जनक छिद्र है। यह शत्रु के बढ़ाने वाला और अपने बल का महान् नाश करने वाला माना गया है ॥ १५ ॥

नीतिंत्यक्त्वावर्ततेयःस्वतंत्रःसहिदुःखभाक् ।
स्वतंत्रप्रभुसेवातुह्यसिधारावलेहनम् ॥१६॥

जो राजा नीति शास्त्र का उल्लंघन करके चलता है, वह उच्छृङ्खल कहाता है और वह दुःख का भागी होता है। ऐसे स्वेच्छाचारी राजा की सेवा करना, तलवार की धार पर नितम्बों का रगड़ना है॥ १६॥

स्वाराध्योनीतिमान्राजादुराराध्यस्त्वनीतिमान् ॥
यत्रनीतिबलेचोभेतत्रश्रीस्सर्वतोमुखी ॥१७॥

जो राजा, नीति का जानने वाला होता है, उसकी सेवा की जा सकती है। अनीतिमान् राजा की सेवा तो बहुत ही कठिन मानी गई है। जिस राजा के पास नीति और सेना की शक्ति विद्यमान् है-उसके पास सर्वतोमुखी होकर लक्ष्मी चली आती है॥ १७॥

अप्रेरितहितकरंसर्वराष्ट्रंभवेद्यथा ॥
तथानीतिस्तुसंधार्यानृपेणात्महितायवै ॥१८॥

राजा को अपने हित के उद्देश्य से ऐसी नीति का अवलम्बन करना चाहिए, जिससे, सारा राष्ट्र, बिना प्रेरणा के ही राजा के हित में तत्पर हो जावे॥ १८॥

भिन्नंराष्ट्रबलंभिन्नंभिन्नोमात्यादिकोगणः।
अकौशल्यंनृपस्यैतदनीतेर्यस्यसर्वदा ॥१९॥

जिस राष्ट्र में फूट पड़ जाती है, सेना फूट जाती है या अमात्यों का गण शत्रु से मिल जाता है, उसमें राजा की ही नीति अनभि-

ज्ञता मानी जाती है। यह सब कुछ राजा की अनीति का ही फल होता है॥ १६॥

तपसातेजआदत्तेशास्त्रीपाताचरंजकः।
नृपःस्वप्राक्तनाद्वृत्तेतपसाचमहीमिमाम् ॥२०॥

राजा अपने तप से तेज का धारण करने वाला, शास्त्र का ज्ञाता, प्रजा का पालक और उसका रञ्जन करने वाला होता है। राजा अपने पूर्व जन्म के पुण्य और इस जन्म के तप से पृथिवी के धारण करने में समर्थ हो सकता है॥ २०॥

वृष्टिशीतोष्णनक्षत्रगतिरूपस्वभावतः॥
इष्टानिष्टाधिकन्यूनाचारैःकालस्तुभिद्यते ॥२१॥

वर्षा, शीत, उष्ण, नक्षत्र गति आदि के स्वाभाविक कारण तथा इष्ट, अनिष्ट, अधिक और न्यून आचरणों के भेद से काल का भेद प्रतीत होता है॥ २१॥

आचारप्रेरकोराजाह्येतत्कालस्यकारणम्।
यदिकालःप्रमाणंहिकस्माद्धर्मोस्तिकर्तृषु ॥२२॥

प्रजा में आचार का प्रेरक राजा होता है, इससे राजा काल का कारण माना गया है। जो काल को ही सब कुछ कर्ता माना जावेगा, तो फिर कर्ताओं में धर्म की स्थिति कैसे मानी जा सकेगी॥ २२॥

राजदंडभयाल्लोकःस्वस्वधर्मपरोभवेत् ।
योहिस्वधर्मनिरतःसतेजस्वीभवेदिह ॥२३॥

सारे मनुष्य, राज के दण्ड के भय से अपने २ धर्म में प्रवृत्त हो रहे हैं। जो मनुष्य इस लोक में धर्म का आचरण करता है, वही तेजस्वी होता है ॥ २३ ॥

विनास्वधर्मान्नसुखंस्वधर्मोहिपरंतपः ।
तपः स्वधर्मरूपंयद्वर्धितंयेनवैसदा ॥२४॥

अपने धर्म के आचरण के विना सुख नहीं हो सकता है। अपने धर्म का आचरण ही बहुत बड़ा तप है, इसीसे तप, धर्म रूप हुआ, और वह तप सर्वदा धर्म की वृद्धि करता है ॥ २४ ॥

देवास्तुकिंकरास्तस्यकिंपुनर्मनुजाभुवि ।
सुदण्डैर्धर्मनिरतःप्रजाःकुर्यान्महाभयैः ॥२५॥

जो राजा, नीति पूर्वक दण्डविधान करता है, उसके देवता भी वश में हो जाते हैं; मनुष्यों की तो चर्चा ही क्या है। महा भयजनक, समीचीन दण्ड से धर्मात्मा राजा, सर्वदा प्रजा को अपने शासन में रखे ॥ २५ ॥

नृपःस्वधर्मनिरतोभूत्वा तेजःक्षयोन्यथा ॥
अभिषिक्तोनभिषिक्तोनृपत्वंतुयदाप्नुयात ॥२६॥

राजा को चाहे, प्रजा ने राज्य सिंहासन पर अभिषिक्त किया या वह स्वयं प्रजा को दबा कर राज्य पर बैठा—उसे सर्वदा धर्म

परायण रहना चाहिए। यदि राजा अपने दण्ड धर्म का परित्याग कर देगा, तो उसके तेज का क्षय हो जावेगा ॥ २६ ॥

बुद्धयाबलेनशौर्येणततोनीत्यानुपालयन् ।
प्रजाःसर्वाःप्रतिदिनमच्छिद्रोदंडधृक्सदा ॥२७॥

जो राजा, बुद्धि, बल, शौर्य और नीति के अनुसार सारी प्रजा का पालन करता है और उचित रीति से दण्ड का प्रयोग करता रहता है, वह सर्वदा अच्छिद्र रहता है अर्थात् शत्रु उसकी न्यूनता नहीं पकड़ सकते हैं॥ २७ ॥

नित्यबुद्धिमतोप्यर्थःस्वल्पकोपिविवर्धते ।
तिर्यञ्चोपिवशंयांतिशौर्यनीतिबलैर्धनैः ॥२८॥

जो राजा बुद्धिमान् होता है, उसका साधारण कार्य भी वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। शूरवीरता, नीति, बल, और धन से तो सर्प आदि तिर्यग्योनि के जीव भी वश में हो जाते हैं, फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है ॥ २८ ॥

सात्त्विकंतामसंचैवराजसंत्रिविधंतपः ।
यादृक्तपतियोत्यर्थंतादृग्भवतिसोनृपः ॥२९॥

तप—सात्विक, राजस, और तामस भेद से तीन तरह का होता है। जो राजा, जिस सत्व-आदि गुण के अधीन होकर राज-व्यवस्था करता है, वह वैसा ही उत्तम, मध्यम और अधम-राजा हो जावेगा॥ २९ ॥

योहिस्वधर्मनिरतःप्रजानांपरिपालकः ।
यष्टाचसर्वयज्ञानांनेताशत्रुगणस्यच ॥३०॥

जो राजा, अपने धर्म में परायण होकर प्रजा का पालन और सब यज्ञों का आरम्भ करता रहेगा—वही शत्रु का विजयी बनेगा।

दानशौंडःक्षमीशूरोनिस्पृहोविषयेष्वपि ।
विरक्तःसात्त्विकःसोहिनृपोंतेमोक्षमन्वियात् ।

जो राजा, बहुत अधिक दानी, क्षमाशील, शूरवीर और विषयों से पृथक् रहेगा तथा जो वैराग्य युक्त होकर सत्वगुण परायण होगा—वही राजा, इस लोक में विजयी होकर अन्त में मोक्ष प्राप्त करेगा ॥ ३१ ॥

विपरीतस्तामसःस्यात्सोंतेनरकभाजनः ।
निर्घृणश्चमदोन्मत्तोहिंसकः सत्यवर्जितः ॥

जो राजा, निर्दयी, मदोन्मत्त, हिंसक और सत्यकर्म से रहित है, वह-राजा, तामसी माना गया है और वह अन्त में नरक में गमन करता है ॥ ३२ ॥

राजसोदांभिकोलोभीविषयीवंचकश्शठः ।
मनसान्यश्चवचसाकर्मणाकलहप्रियः ॥३३॥
नीचप्रियः स्वतंत्रश्चनीतिहीनश्छलांतरः ।
सतिर्यक्त्वंस्थावरत्वंभवितांतेनृपाधमः ॥३४॥

जो राजा, पाखण्डी, लोभी, भोग विलासी, ठग, और शठ हो, मन, वाणी और कर्म, पृथक् २ रखता हो, जो सर्वदा कलह को प्रिय मानता हो, नीच मनुष्यों से प्रेम करता हो, स्वेच्छाचारी हो, नीति विरुद्ध चलता हो और छल परायण हो, वह अधम राजा है। वह मर कर पशुयोनि वृक्षादि-स्थावर योनियों में गमन करता है॥ ३३-३४॥

देवांशान्साात्त्विकोभुंक्तेराक्षसांशांस्तुतामसः
राजसोमानवांशांस्तुसत्त्वेधार्यंमनोयतः ॥३५॥

जो राजा, सात्विक गुणों से युक्त होता है, वह देवांश भोगी जो तामसी है, वह राक्षसांश भोगी और जो राजसी है, वह मानवांश भोगी माना गया है। राजा को सर्वदा, सात्त्विक गुणों में ही मन लगाना चाहिए॥ ३५॥

सत्त्वस्यतमसःसाम्यामानुषंजन्मजायते।
यद्यदाश्रयतेमर्त्यस्तत्तुल्योदिष्टतोभवेत् ॥३६॥

जब मनुष्य की प्रकृति में सत्वगुण और तमोगुण की समानता होती है, तब मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। मनुष्य जिस जिस गुण का आश्रय करता है, वह दैव की प्रेरणा से वैसा ही हो जाता है॥ ३६॥

कर्मैवकारणंचात्रसुगतिदुर्गतिंप्रति।
कर्मैवप्राक्तनमपिक्षणंकिंकोस्तिचाक्रियः ॥३७॥

इस जगत् में उत्तम गति और दुर्गति की प्राप्ति का कारण कर्म ही होता है। पूर्व जन्म के कर्म ही प्रारब्ध बनकर मनुष्य को सुगति और दुर्गति की ओर ले जाते हैं। कोई भी मनुष्य, कभी भी क्षण भर भी कर्म हीन नहीं हो सकता है ॥ ३७ ॥

नजात्याब्राह्मणश्चात्रक्षत्रियोवैश्यएवन ।
नशूद्रोनचवैम्लेच्छोभेदितागुणकर्मभिः ॥३८॥

कोई भी मनुष्य, इस जगत् में बिना कारण जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या मलेच्छ नहीं बन सकता, प्रत्युत इन सब के भेद के कारण उनके पूर्व जन्म या इस जन्म के गुण कर्म ही है ॥ ३८ ॥

ब्रह्मणस्तुसमुत्पन्नाःसर्वेतेकिंनुब्राह्मणाः ।
नवर्णतोनजनकाद्‌ब्राह्मयंतेजः प्रपद्यते ॥३९॥

यदि कोई जन्म मात्र से ब्राह्मण क्षत्रिय आदि होते–तो ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण, सारे ब्राह्मण ही होते। किसी वर्ण या पिता के घर जन्म लेने से किसी को ब्रह्म आदि तेज की प्राप्ति नहीं हो सकती है ॥ ३९ ॥

ज्ञानकर्मोपासनाभिर्देवताराधनेरतः ।
शांतोदांतोदयालुश्चब्राह्मणश्चगुणैःकृतः ॥४०॥

जो मनुष्य, ज्ञान, कर्म, उपासना के द्वारा देवाराधन में तत्पर है तथा, मन और इन्द्रियों का विजेता और प्राणी मात्र पर दया करने वाला है, वह गुणों से ब्राह्मण समझना चाहिए ॥ ४० ॥

लोकसंरक्षणेदक्षश्शूरोदांतःपराक्रमी ।
दुष्टनिग्रहशीलोयः सवैक्षत्रियउच्यते ॥४१॥

जो लोक की रक्षा में तत्पर, चतुर, शूरवीर, उदार, पराक्रमी और दुष्टों के निग्रह में समर्थ है, वह राजा गुणों से क्षत्रिय कहाता है ॥ ४१ ॥

क्रयविक्रयकुशलायेनित्यंपण्यजीविनः ।
पशुरक्षाकृषिकरास्तेवैश्याः कीर्तिताभुवि ॥४२॥

जो क्रय विक्रय में कुशल और व्यापार में कुशल है तथा पशु रक्षा और कृषि में तत्पर हैं, वे वैश्य कहाते हैं ॥ ४२ ॥

द्विजसेवार्चनरताःशूराः शांताजितेन्द्रियाः ।
सीरकाष्ठतृणवहास्तेनीचाःशूद्रसंज्ञकाः ॥४३॥

जो द्विजातियों की सेवा में संलग्न, शूरवीर, शान्त और जितेन्द्रिय हैं, तथा हल, काष्ठ, और तृण घास आदि से वृत्ति करते हैं, वे प्रथम वर्ण वाले शूद्र कहाते हैं ॥ ४३ ॥

त्यक्तस्वधर्माचरणानिर्घृणाःपरपीडकाः ।
चंडाश्चहिंसकानित्यंम्लेच्छास्तेह्यविवेकिनः ॥४४॥

जिन्होंने अपने २ धर्म के आचरण को छोड़ दिया और निर्दयी होकर दूसरों को पीड़ा पहुँचाते रहते हैं, वे उग्र स्वभाव-धारी हिंसक, अज्ञानी—मलेच्छ कहाते हैं ॥ ४४ ॥

प्राक्कर्मफलभोगार्हाबुद्धिःसंजायतेनृणाम् ।
पापकर्मणिपुण्येवाकर्तुं शक्तोनचान्यथा ॥४५॥

पूर्व जन्म के कर्म के अधीन होकर मनुष्य की बुद्धि जब कर्म फल के भोगने को प्रवृत्त होती है, तभी मनुष्य पाप कर्म या पुण्य कर्म करने में प्रवृत्त हो सकता है—विना पूर्व जन्म के कर्मों के कोई शुभ या अशुभ कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता ॥४५॥

बुद्धिरुत्पद्यतेतादृग्यादृक्कर्मफलोदयः ।
सहायास्तादृशाएवयादृशीभवितव्यता ॥४६॥

जिस मनुष्य, के जैसे कर्म का उदय है, वैसी ही उस मनुष्य को बुद्धि उत्पन्न होती है। इसी तरह जैसी पूर्व कर्मों के अनुसार उसकी होनहार है—वैसी ही मनुष्य को सहायता मिलती है ॥४६॥

प्राक्कर्मवशतःसर्वंभवत्येवेतिनिश्चितम् ।
तदोपदेशान्यर्थाःस्युः कार्याकार्यप्रबोधकाः ॥

यदि यह निश्चय है, कि जो कुछ मनुष्य को प्राप्त होता है, वह सब कुछ पूर्व जन्म के कर्मों के अधीन ही होता है, तो कार्य में प्रवृत्त और अकार्य से निवृत्त होने के जितने उपदेश हैं, वे तो सब व्यर्थ हो जावेंगे ॥ ४७ ॥

धीमंतोवंद्यचरितामन्यंतेपौरुषंमहत् ।
अशक्तंपौरुषंकर्तुं क्लीबादैवमुपासते ॥४८॥

दैवेपुरुषकारेचखलुसर्वंप्रतिष्ठितम् ।
पूर्वजन्मकृतंकर्मेहार्जितंतद्द्विधाकृतम् ॥४६॥

बुद्धिमान्, आदर्श चरित पुरुष कभी हाथ पर हाथ धर कर दैव के भरोसे नहीं बैठा करते। वे तो पुरुषार्थ को ही श्रेष्ठ मानते हैं। जो पुरुषार्थ के करने में असमर्थ कायर पुरुष हैं, वे ही—दैव २ पुकारा करते हैं—ऐसा भी बहुतों का कथन है, परन्तु दैव (पूर्व जन्म के कर्म) और पुरुषार्थ (इस जन्म के कर्म) इन दोनों के अधीन ही सिद्धि माननी चाहिए। पूर्व जन्म और इस जन्म के कर्म ही—तो दैव और पुरुषार्थ कहाते हैं अर्थात् एक कर्म के ही तो ये दो भेद हैं—ये कोई पृथक् २ वस्तु नहीं है॥ ४८-४६ ॥

बलवत्प्रतिकारिस्याद्दुर्बलस्यसदैवहि ।
सबलाबलयोर्ज्ञानंफलप्राप्त्यान्यथानहि ॥

दुर्बल पुरुष का सर्वदा दुःख का प्रतिकार करने वाला बलवान् पूर्व कर्म ही होता है। किसी के दुःख की निवृत्ति या अनिवृत्ति रूप फल प्राप्ति से ही पूर्व कर्म ही सबलता या निर्बलता का अनुमान होता है॥ ५० ॥

फलोपलब्धिःप्रत्यक्षहेतुनानैवदृश्यते ।
प्राक्कर्महैतुकीसातुनान्यथैवेतिनिश्चयः ॥५१॥

इस तरह की फल प्राप्ति को प्रत्यक्ष करके नहीं दिखाया जा सकता, परन्तु अनुमान से यह निश्चय है, कि इसमें पूर्व जन्म के

कर्मों का संमिश्रण अवश्य है, नहीं तो अचानक इतनी बड़ी सिद्धि कैसे हो सकती थी ॥ ५१ ॥

यज्जायतेल्पक्रिययानृणांवापिमहत्फलम् ।
तदपिप्राक्तनादेत्रकेचित्प्रागिहकर्मजम् ॥५२॥

जो थोड़ा उद्योग करने पर महान् फल की प्राप्ति होती है, वह भी पूर्व जन्म के कर्म (प्रारब्ध) के अधीन ही माननी चाहिए, क्योंकि जो कुछ लोक में फल प्राप्त होता है, वह तो—सब कुछ पूर्व जन्म का ही संग्रह है—ऐसा बहुत विद्वानों का मत है ॥५२॥

वदंतीहैवक्रियया जायतेपौरुषंनृणाम् ।
सस्नेहवर्तिदीपस्यरक्षावातात्प्रयत्नतः ॥५३॥

कुछ विद्वान् कहते हैं, कि मनुष्य की जो वर्तमान में चेष्टायें हैं, वही पुरुषार्थ है, कोई पूर्व जन्म का बन्धन नहीं है। यदि दीपक में ठीक २ तेल और बत्ती पड़ी हो—वायु की रक्षा की जारही हो, तो दीपक जलता रहेगा—इसमें पूर्व जन्म के कर्मों के मानने की क्या आवश्यकता है। इसी तरह मनुष्य का जीवन चलता रहता है ॥ ५३ ॥

अवश्यंभाविभावानांप्रतीकारोनचेद्यदि ।
दुष्टानांचपरांश्रेयोयावद्बुद्धिबलोदयम् ॥५४॥

यदि पूर्व जन्म के बन्धन के कारण अवश्य होने वाली घटनाओं का प्रतिकार नहीं किया जा सकता, तो यह कथन कैसे

सगत हो सकेगा, कि जितना बुद्धि और बल का उदय हो—उतना उसे दुष्ट के दमन में लगाना चाहिए, क्योंकि होनहार जब टलेगी हीं नहीं तो दुष्टों का दमन कैसे सम्भव है ॥ ५४ ॥

प्रतिकूलानुकूलाभ्यांफलाभ्यांचनृपोप्यतः ।
ईषन्मध्याधिकाभ्यांचत्रिधादैवेविचिंतयेत् ॥

प्रतिकूल और अनुकूल फल के विवेचन को राजा अपने ऊपर भी समझले । इस तरह राजा, अधम, मध्यम और उत्तम—फलों से युक्त तीन प्रकार का दैव समझे॥ ५५ ॥

रावणस्यचभीष्मादेर्वनभंगेचगोगृहे ।
प्रातिकूल्यंतुविज्ञातमेकस्मान्वानरान्नरात् ॥

रावण, जैसे बलवान् के बगीचे का भंग अकेले हनुमान जैसे साधारण व्यक्ति ने कर दिया और विराट गौ हरण के समय भीष्म का पराजय भी अकेले अर्जुन ने कर दिखाया—हम तो इसे प्रतिकूल देव की घटना ही समझते हैं ॥ ५६ ॥

कालानुकूल्यंविस्पष्टंराघवस्यार्जुनस्यच ।
अनुकूलेयदादैवेक्रियाल्पासुफलाभवेत् ॥५७॥

श्रीरामचन्द्रजी और अर्जुन को इस घटना में दैव की अनुकूलता प्राप्त है—यह स्पष्ट है। जब दैव अनुकूल होता है, तब अल्प क्रिया से भी पूरा फल प्राप्त हो जाता है ॥ ५७ ॥

महतीसत्क्रियानिष्टफलास्यात्प्रतिकूलके ।
बलिर्दानेनसंबद्धोहरिश्चंद्रस्तथैवच ॥५८॥

जब दैव प्रतिकूल होता है, तो उत्तम क्रिया, भी प्रतिकूल फल दे डालती है—जिसका उदाहरण राजा बलि और राजा हरिश्चन्द्र हैं, जो ज्ञान करने पर भी बन्धन या विपत्ति में उलझे फिरें ॥५८॥

भवतीष्टं सत्क्रिययानिष्टं तद्विपरीतया ।
शास्त्रतःसदसज्ज्ञात्वात्यक्त्वाऽसत्सत्समाचरेत् ॥५६॥

शुभ कर्म के विपाक के अवसर पर अभीष्ट सिद्धि और अशुभ कर्म के विपाक पर अनिष्ट प्राप्ति होती है। मनुष्य, सत्कर्म और असत्कर्म का ज्ञान शास्त्र द्वारा प्राप्त करे और फिर असत्कर्म को छोड़ कर सत्कर्म का आश्रय करे—यही उत्तमता है ॥ ५६ ॥

कालस्यकारणंराजासदसत्कर्मणस्त्वतः ।
स्वक्रौर्योद्यतदंडाभ्यांस्वधर्मेस्थापयेत्प्रजाः ॥

सत्कर्म और असत्कर्म के प्रचार का कारण राजा ही माना गया है। राजा, अपने तीक्ष्ण स्वभाव और उद्यत दण्ड से प्रजा को अपने २ धर्म में प्रवृत्त करता रहे ॥ ६० ॥

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानिच ।
सप्तांगमुच्यतेराज्यंतत्रमूर्धानृपःस्मृतः ॥६१॥

दृगमात्यासुहृच्छ्रोत्रंमुखंकोशोबलंमनः ।
हस्तौपादौदुर्गराष्ट्रौराज्यांगानिस्मृतानिहि ॥

स्वामी, अमात्य, सुहृत, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सेना ये सात राज्य के अङ्ग माने नए हैं। इनमें सर्व श्रेष्ठ अङ्ग मस्तक राजा

माना गया है अमात्य राज्य के नेत्र, सुहृद् कान, मुख कोश, सेना मन, हाथ दुर्ग और पाद राष्ट्र माना गया है। इस तरह राज्य के सात अङ्ग माने गए हैं ॥ ६१-६२ ॥

अंगानांक्रमशोवक्ष्येगुणान्भूतिप्रदान्सदा ।
यैर्गुणैस्तुसुसंयुक्तावृद्धिमंतोभवंतिहि ॥६३॥

अब हम, क्रम से उन अङ्ग तथा गुणों का वर्णन करते हैं, जिनसे मनुष्य को सर्वदा ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। इन गुणों से युक्त हुए पुरुष सर्वदा वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं ॥ ६२ ॥

राजास्यजगतोहेतुर्वृद्ध्यैवृद्धाभिसंमतः ।
नयनानंदजनकःशशांकइवतोयधेः ॥६४॥

राजा ही जगत् की उन्नति का हेतु है, ऐसा वृद्ध पुरुष मानते आए हैं। जिस तरह समुद्र के आनन्द या वृद्धि का हेतु चन्द्रमा है, उसी तरह प्रजा के नेत्रों का आनन्द दाता राजा होता है ॥६४॥

यदिनस्यान्नरपतिःसम्यङ्नेताततःप्रजाः ।
अकर्णधाराजलधौविप्लवेतेहनौरिव ॥६५॥

यदि प्रजा का समुचित नेता राजा न होवे—तो प्रजा इस तरह विपत्ति में मग्न हो जाती है, जिस तरह विना कर्णधार के समुद्र में नौका डूब जाती है ॥ ६५ ॥

नतिष्ठंतिस्वस्वधर्मेविनापालेनवैप्रजाः ।
प्रजयातुविनास्वामीपृथिव्यांनैवशोभते ॥६६॥

प्रजा पालक राजा के बिना प्रजा, अपने २ धर्म में स्थित नहीं रह सकती है। इस पृथिवी पर प्रजा के बिना राजा की शोभा नहीं होती है ॥ ६६ ॥

न्यायप्रवृत्तोनृपतिरात्मानमथचप्रजाः ।
त्रिवर्गेणोपसंधत्तेनिहंतिध्रुवमन्यथा ॥६७॥

यदि राजा, न्याय मार्ग में प्रवृत्त होता है, तो वह राजा अपनी प्रजा को धर्म, अर्थ और काम से युक्त कर देता है और यदि वह अधर्म में परायण हो जाता है, तो प्रजा को नष्ट कर देता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ६७ ॥

धर्माद्वैपवनोराजाविधायबुभुजेभुवम् ।
अधर्माच्चैवनहुषःप्रतिपेदेरसातलम् ॥६८॥

पवन संज्ञक कोई राजा, धर्म के कारण पृथिवी के भोगने में समर्थ हुआ और अधर्म के कारण, राजा नहुष रसातल को चला गया ॥ ६८ ॥

वेनोनष्टस्त्वधर्मेणपृथुर्वृद्धस्तुधर्मतः ।
तस्माद्धर्मंपुरस्कृत्ययतेतार्थायपार्थिवः ॥६९॥

राजा वेन अधर्म से नष्ट हुआ और राजा पृथु धर्म के कारण वृद्धि को प्राप्त हुआ। इन सब बातों पर विचार करके राजा धर्म प्राप्ति का प्रयत्न करे और अपनी—उन्नति के लिये आगे आगे बढ़ता रहे ॥ ६९ ॥

योहिधर्मपरोराजादेवांशोन्यश्चरक्षसाम् ।
अंशभूतोधर्मलोपीप्रजापीडाकरोभवेत् ॥७०॥

जो राजा, धर्म परायण होता है, वह देवांश और जो अधर्म में संलग्न होता है, वह राक्षस अंश से उत्पन्न समझना चाहिए। राक्षसों के अंश से उत्पन्न राजा, धर्म का लोपकर्ता और प्रजा का पीड़क होता है ॥ ७० ॥

इंद्रानिलयमार्काणामग्नेश्चवरुणस्यच ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चापिमात्रानिहृत्यशाश्वतीः ॥
जंगमस्थावराणांचहीशःस्वतपसाभवेत् ।
भागभाग्रक्षणेदक्षोयथेंद्रोनृपतिस्तथा ॥७२॥

इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर इन आठ देवों के अंश से राजा की उत्पत्ति होती है। यह अपने तप के प्रभाव से जंगम और स्थावर भूतों का स्वामी होता है। राजा प्रजा के रक्षण से कर के ग्रहण का भागी होता है। जिस तरह स्वर्ग में इन्द्र है। इसी तरह पृथिवी पर राजा मान्य माना गया है ॥ ७१-७२ ॥

वायुर्गंधस्यसदसत्कर्मणःप्रेरकोनृपः ।
धर्मप्रवर्त्तकोऽधर्मनाशकस्तमसोरविः ॥७३॥

जिस तरह वायु सुगन्धि को लेकर उड़ता है, उसी तरह राजा प्रजा के कर्म का प्रेरक है। राजा धर्म का प्रवर्तक और अधर्म का नाशक इस तरह है- जैसे सूर्य अन्धकार को नाशक है ॥७३॥

दुष्कर्मदंडकोराजायमःस्याद्दंडकृद्यमः ।
अग्निश्शुचिस्तथाराजारक्षार्थंसर्वभागभुक् ॥

राजा, दुष्कर्म का दण्ड देने वाला और प्रजा का नियमन करने वाला दण्डधारी यम के तुल्य होता है । राजा अग्नि की भांति पवित्र होता है । यह रक्षा करने के कारण सारे करों का भोक्ता होकर भी दोषी नहीं हो सकता है ॥ ७४ ॥

पुष्यत्यपांरसैःसर्वंवरुणः स्वधनैर्नृपः ।
करैश्चंद्रोह्लादयतिराजास्वगुणकर्मभिः ॥

जिस तरह वरुण, जल के रस से सारी प्रजा को पुष्ट करता है उसी तरह अपने धन से राजा, प्रजा को पुष्ट करता है । जिस तरह चन्द्रमा अपनी किरणों से सबको आह्लादित करता है, उसी तरह राजा भी अपने गुण और कर्म से सारी प्रजा को सन्तुष्ट कर देता है ॥ ७५ ॥

कोशानांरक्षणेदक्षःस्यान्निधीनांधनाधिपः ।
चंद्रांशेनविनासर्वैरंशैर्नोभातिभूपतिः ॥७६॥

राजा, निधियों के रक्षक कुबेर की भाँति भी अपने कोश का रक्षक हो—तो भी वह चन्द्रमा के सदृश उत्तम गुणों के विना शोभा को नहीं पा सकता है ॥ ७६ ॥

पितामातागुरुर्भ्रातावंधुर्वैश्रवणोयमः ।
नित्यंसप्तगुणैरेषांयुक्तोराजानचान्यथा ॥

राजा ही पिता, माता, गुरु, भ्राता, बन्धु, कुबेर और यम के सदृश—माना गया है। जो पिता आदि के तुल्य रक्षक है, वही रक्षक है, वही राजा है। इन गुणों से वञ्चित राजा अन्वर्थ राजा—नहीं माना जा सकता है॥ ७७॥

गुणसाधनसंदक्षः स्वप्रजायाःपितायथा।
क्षमयित्र्यपराधानांमातापुष्टिविधायिनी॥

अपनी प्रजा में गुण साधन में समर्थ और कुशल-राजा, पिता माना जाता है। प्रजा की पुष्टि और अपराध क्षमा करने की शक्ति के कारण राजा माता के सदृश माना गया है॥ ७८॥

हितोपदेष्टाशिष्यस्यसुविद्याध्यापकोगुरुः।
स्वभागोद्धारकृद्भ्रातायथाशास्त्रंपितुर्धनात्॥

जिस तरह गुरु, शिष्य को हित का उपदेश करता है और विद्या का अध्ययन कराता है, इससे राजा गुरु माना गया है। शास्त्रानुकूल अपने पिता का धन बाँट देने के कारण राजा भ्राता माना गया है॥ ७९॥

आत्मस्त्रीधनगुह्यानांगोप्ताबंधुस्तुमित्रवत्।
धनदस्तुकुबेरःस्याद्यमःस्याच्चसुदंडकृत्॥

अपने स्त्री धन तथा अन्य गुप्त वस्तुओं की रक्षा के कारण राजा, मित्र के समान बन्धु होता है। धन का दाता होने से कुबेर और न्यायपूर्वक दण्डदायी होने से राजा यम के सदृश माना गया॥ ८०॥

प्रवृद्धिमतिसंराज्ञिनिवसंतिगुणाअमी ।
एतेसप्तगुणाराज्ञानहातव्याःकदाचन ॥८१॥

जो बुद्धिमान् राजा होता है, उसी में ये उत्तम गुण रहते हैं। राजा पूर्वोक्त इन सात गुणों का कभी परित्याग न करे ॥ ८१ ॥

क्षमतेयोपराधं स शक्तः स दमनेक्षमी ।
क्षमयातुविनाभूपोनभात्यखिलसद्गुणैः ॥८२॥

जो राजा अपराधों को क्षमा करदे, वह क्षमावान् कहाता है, और न्यायपूर्वक दण्ड देता है, शक्तिशाली माना गया है। क्षमा के विना राजा अनेक सद्गुणों से युक्त होने पर भी उत्तम नहीं माना जा सकता है॥ ८२ ॥

स्वान्दुर्गुणान्परित्यज्यह्यतिवादांस्तितिक्षते ।
दानैर्मानैश्चसत्कारैः स्वप्रजारंजकः सदा ॥

राजा अपने दुर्गुणों का परित्याग करदे और कोई निन्दा भी करे—तो उसको सह लेवे। राजा को चाहिए कि वह दान मान और सत्कार से सर्वदा प्रजा का रञ्जक बना रहे ॥ ८३ ॥

दांतः शूरश्चशस्त्रास्त्रकुशलोरिनिषूदनः ।
अस्वतंत्रश्चमेधावीज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥८४॥

उदार, शूरवीर, शस्त्रास्त्र में कुशल और शत्रुनाशक, स्वेच्छाचार विहीन, बुद्धिमान्, ज्ञान, विज्ञान से युक्त राजा, ही श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ८४ ॥

नीचहीनोदीर्घदर्शीवृद्धसेवीसुनीतियुक् ।
गुणिजुष्टस्तुयोराजासज्ञेयोदेवतांशकः ॥८५॥

नीच जन समुदाय से रहित, दीर्घ दर्शी, वृद्धों का सेवक, नीतिमान्, गुणवानों से सुसेवित, जो राजा होता है, वही देवों के अंश से प्रादुर्भूत—राजा समझना चाहिए ॥ ८५ ॥

विपरीतस्तुरक्षोंशः सवैनरकभोजनः ॥
नृपांशसदृशोनित्यंतत्सहायगणः किल ॥८६॥

जो पूर्वोक्त गुणों से रहित राजा—होता है, वह राक्षस अंश-युक्त माना गया है। यह राजा नरकगामी होता है। राजा का सहायक-गण भी राजा जैसा ही हो जाता है। यदि राजा देवांश भागी है—तो साथी भी ऐसे ही हो जावेंगे और राक्षसांश भोगी है—तो साथी भी राक्षसांश भोगी ही होंगे ॥ ८६ ॥

तत्कृतंमन्यतेराजासंतुष्यतिचमोदते ।
तेषामाचरणैर्नित्यंनान्यथानियतेर्बलात् ॥८७॥

राजा जिस प्रकृति का होता है, वह अपने सहायकों के वैसे ही कार्यों से प्रसन्न होता है। उनके वैसे ही—आचरणों से प्रमुदित होकर उन्हें पुरस्कार आदि से उत्साहित करता है. क्योंकि प्रकृति के पीछे मनुष्य को परवश होकर जाना पड़ता है ॥ ८७ ॥

अवश्यमेवभोक्तव्यंकृतकर्मफलंनरैः ।
प्रतिकारैर्विनानैवप्रतिकारेकृतेसति ॥८८॥

मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसे उनका फल अवश्य भोगना पड़ता है। इसका कुछ प्रतिकार नहीं हो सकता है। कितना भी प्रतीकार किया जावे—परन्तु किये हुए कर्मों की विना भोग समाप्ति नहीं हो सकती है॥ ८८॥

तथा भोगाय भवति चिकित्सितगदोयथा।
उपदिष्टे निष्ट हेतौ तत्तत्कर्तुं यतेतकः ॥८६॥

जिस प्रकार रोग की चिकित्सा करने पर उसकी समाप्ति होती है, ऐसे ही कर्म भी भोग रूपी चिकित्सा से समाप्त होते हैं। यदि रोग की वृद्धि के किसी अनिष्ट हेतु का कोई उपदेश दे तो उसे कोई भी नहीं करना चाहता—इसी तरह अनिष्ट फल उत्पादक कर्म में भी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए॥ ८६॥

रज्यते सत्फलेस्वांतं दुष्फलेनहि कस्यचित्॥
सदसद्बोध कान्येवद्दष्ट्वा शास्त्राणि चाचरेत्॥

मनुष्य का अन्तःकरण सत्फलदायी कर्म में लगना चाहिए, किन्तु, जिस कर्म का परिणाम दुःख हो, उसमें किसी की प्रवृत्ति नहीं होती। इसके आचरण का यही उपाय है, कि मनुष्य शास्त्रों को देख कर उससे सत् असत् कर्मों का ज्ञान प्राप्त करे और उसमें से असत् का परित्याग करके सत्कर्म का सेवन करे॥६०॥

न यस्य विनयो मूलं विनयः शास्त्र निश्चयात्।
विनयस्येंद्रिय जयस्तद्युक्तः शास्त्रमृच्छति॥

नीति की प्राप्ति का कारण केवल विनय (नम्रता) है और शास्त्र के अध्ययन से विनय के लक्षण ढूंढ़ निकालने चाहिए। इन्द्रियों के विजय करने से विनय को प्राप्ति होती है और जब विनय की प्राप्ति होजाती है, तब समझना चाहिए कि इसको शास्त्र का तत्त्व प्राप्त होगया ॥ ६१ ॥

आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोप पादयेत्।
ततः पुत्रांस्ततो मात्यांस्ततो भृत्यांस्ततः प्रजाः ॥

राजा को चाहिए, कि वह सबसे प्रथम विनय नामक गुण की प्राप्ति करे। इसके अनन्तर पुत्र, अमात्य, भृत्य और प्रजा का संग्रह लाभकारी होसकेगा ॥६२॥

परोपदेश कुशलः केवलो न भवेन्नृपः।
प्रजाधिकार हीनः स्यात्सगुणोपि नृपः क्वचित् ॥

राजा केवल दूसरे को तो उत्तम कर्म करने का उपदेश देता रहे और आप उस कर्म का आचरण न करे-ऐसा नहीं होना चाहिए इस दुर्गुण में फंसे हुए गुणवान राजा भी कभी २ प्रजा के अधिकार से वञ्चित होते देखे गए हैं ॥६३॥

नतु नृप विहीनास्यु दुर्गुणाढ्य पितु प्रजा।
यथा नविधवेंद्राणी सर्वदा तु तथा प्रजा ॥६४॥

यदि प्रजा दुर्गुणों से भी सम्पन्न है और राजा इस उपर्युक्त दुर्गुण से रहित है, तो भी प्रजा राजा से रहित नहीं हो सकती

है अर्थात एक दिन इस राजा के कारण वृद्धि को अवश्य प्राप्त हो सकती है। इस राजा की प्रजा इन्द्राणी के समान कभी विधवा नहीं होती अर्थात् दुःख में नहीं फंसती है ॥६४॥

भ्रष्ट श्रीः स्वामिता राज्ञो नृप एव न मंत्रिणः ।
तथा विनीत दायादो दांताः पुत्रा दयोपि च ॥

अपनी राज्य लक्ष्मी का भ्रष्ट होना या स्वामीपन प्राप्त किए रहना राजा के ही माने गए हैं, मन्त्री आदि के नहीं अर्थात् राजा चाहे मन्त्री के दोष से भ्रष्ट हो या अधिकारी बने-उसका यश राजा को ही होता है । इसी तरह विनय युक्त राजा के बन्धु बान्धव या उदार पुत्रादि भी यश अपयश के कारण नहीं है-इस से राजा को बड़ा ही सावधान रहना चाहिए ॥६५॥

सदानुरक्त प्रकृतिः प्रजा पालन तत्परः ।
विनीतात्माहि नृपतिर्भूय सींश्रियमश्नुते ॥६६॥

जिस राजा की प्रकृति (प्रजा) राजा में अनुरक्त होती है और राजा भी प्रजापालन में तत्पर होता है, वही विनीतात्मा राजा, बहुत काल तक महती राज्य लक्ष्मी का उपभोग करता है ॥६६॥

प्रकीर्ण विषयारण्य धावंतं विप्र माथिनम् ।
ज्ञानां कुशेन कुर्वीत वश मिंद्रिय दंतिनम् ।६७॥

विषयरूपी एक विशाल महावन है, जिसमें इन्द्रिय रूपी मदोन्मत्त हाथी घूम रहे हैं। राजा अपने ज्ञान रूपी अंकुश से इस इन्द्रिय रूपी हाथी को सर्वदा वश में रखता रहे ॥६७॥

विषयामिष लोभेन मनः प्रेरयतींद्रियम् ।
तन्नि रुंधेत्प्रयत्नेन जितेतस्मिञ्जितेन्द्रियः ॥

यह मन रूपी व्याध, विषय रूपी मांस के लोभ से इन्द्रिय रूपी श्येन (बाज) को छोड़ता रहता है। राजा इसी मन को प्रयत्न से रोके। यदि राजा ने मन को रोक लिया-तो फिर उसके जितेन्द्रिय होने में कोई संशय नहीं रह जाता है ॥६८॥

एकस्यै वहियो शक्तो मनसः सन्निबर्हणे ।
महींसागर पर्यंतां सकथं ह्यव जेष्यति ॥६६॥

जो राजा अकेले मन के वश में करने में भी असमर्थ है, वह कायर राजा समुद्र पर्यन्त इस सारी पृथिवी के जीतने में कैसे समर्थ हो सकेगा अर्थात् जिस राजा के मन और इन्द्रियां वश में नहीं हैं, वह पृथिवी के शासन करने के योग्य नहीं है ॥६६॥

क्रियाव सानविरसैं र्विषयैरपहारिभिः ।
गच्छत्या क्षिप्त हृदयः करीव नृपतिर्ग्रहम् ॥

सांसारिक विषय यद्यपि मनुष्य के चित्त को खैंचते हैं, परन्तु विषय भोग लेने पर नीरस हैं। इसमें संशय नहीं है। जिस राजा का मन विषयों में फंस जाता है, वह हाथी के सदृश बन्धन को प्राप्त होता है ॥१००॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गंधश्च पंचमः ।
एकैकस्त्वल मेतेषां विनाश प्रति पत्तये ॥१॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-ये पांच बिषय होते हैं। मनुष्य के विनाश के लिए इनमें से एक भी विषय, पर्याप्त समझना चाहिए-इसपर भी मनुष्य तो पांचों विषयों में उलझा हुआ है ॥

शुचि दर्भा कुराहारो विदूर श्रमणो दमः ।

लुब्धकोद्गीतमोहेन मृगो मृगयते वधम् ॥१०२॥

हिरण कितना उत्तम जन्तु है। वह केवल कुशांकुर खाकर अहिंसक जीवन निर्वाह करता है। इसको व्याध सीधी तरह नहीं मार सकता-क्योंकि यह दूर भागने में समर्थ है। यह सब कुछ है, परन्तु लुब्धक के गान से मोहित, हिरण अपनी मृत्यु आप ढूंढ़ लेता है अर्थात् लुब्धक की बीन पर मोहित होकर हिरण ठहर जाता है जिससे लुब्धक उसका वध कर लेता है ॥

गिरींद्र शिखराकारो लीलयोन्मूलितद्रुमः ।

करिणीस्पर्श संमोहाद्बंधनं यातिवारणः ॥१०३॥

हाथी, पर्वत के तुल्य विशाल आकार धारी होता है, जो साधारण बल के प्रयोग से ही वृक्षों को उखाड़ फैंकता है। इतना शक्तिशाली हाथी भी हथिनी के संभोग के मोह से बन्धन को प्राप्त हो जाता है अर्थात् गढ्ढे पर कागज की हथिनी बनाकर खड़ी करदेने से हाथी गढ्ढे में गिर कर बन्धन को प्राप्त को जाता है ॥

स्निग्ध दीप शिखा लोक विलोलित विलोचनः ।

मृत्युमृच्छति संमोहात्पतंगः सहसा पतन् ॥१०४॥

सुन्दर चिकनी दीप शिखा के आकर्षण से पतंग जन्तु की आँखें खिच—जाती हैं। इसी रूप के संमोह से-पतंग, एकदम मृत्यु के मुख में जा-गिरता है अर्थात् दीपक पर झुलस कर मरता है ॥ १०४ ॥

अगाध सलिले मग्नो दूरोऽपिवसतो वसन् ।
मीनस्तु सामिषं लोहमास्वादयतिमृत्यवे ॥१०५॥

मत्स्य, अगाध जल में निमग्न और बधिकों से सर्वदा दूर रहता है, तो भी वह मांस के आह्लाद के लालच से-अपनी मृत्यु आप बुला लेता है ॥ १०५ ॥

उत्कर्तितुं समर्थोपि गंतुं चैवसपत्रकः।
द्विरेफो गंधलोभेन कमले याति बंधनम् ॥१०६॥

भ्रमर, कमल की पंखड़ियों के काट देने में भी समर्थ है और पंख होने से वह दूर तक उड़कर जा भी सकता है. तो भी गन्ध के लोभ से वह कमल पुष्प में बन्द हो जाता है, और अन्त में हाथी के द्वारा मारा जाता है ॥ १०६ ॥

एकैक शोविनिघ्नन्ति विषया विषसन्निभाः ।
किं पुनः पंचमिलिताः न कथं नाश यंतिहि ॥१०७॥

ये प्रत्येक शब्दादि—विषय, विष के समान होकर प्रत्येक प्राणी के मार देने में समर्थ है-फिर जिस पर इन पांचों विषयों का भूत सवार हो, ऐसे मनुष्य की तो चर्चा ही क्या है-उसका तो विनाश अवश्यम्भावी समझना चाहिए ॥ १०७ ॥

द्यूतं स्त्री मद्य मेवैतत्त्रितयं बह्वनर्थकृत् ।
अयुक्तं युक्ति युक्तंहि धन पुत्र मति प्रदम् ॥१०८

जुआ, स्त्री सम्भोग और सुरापान, ये तीनों अयुक्ति से सेवन किए हुए बहुत ही अनर्थ के हेतु माने गये हैं परन्तु यदि इनका युक्ति के साथ सेवन किया जावे-तो ये तीनों, धन, पुत्र और बुद्धि के देने वाले माने गये हैं ॥ १०८ ॥

नल धर्म प्रभृतयः सु द्यूतेनविनाशिताः ।
स कापट्यं धनायालं द्यूतं भवति तद्विदाम् ॥१०९

नल और धर्मराज युधिष्ठिर आदि जुआ से ही नष्ट हो गए जो शकुनि की भाँति द्यूत को कपट से खेलते हैं, उनको यह धन के आगम का कारण बन जाती हैं ॥ १०९ ॥

स्त्रीणां नामापि संह्लादिविकरोत्येव मानसम् ।
किं पुनर्दर्शनं तासां विला सोल्लासित भ्रुवाम् ॥११

कामनियों का नाम भी कामी पुरुषों के मन को विकार युक्त और प्रफुल्लित कर देता है । विलास के साथ उठाई हुई भ्रुकुटी वाली वरारोहा स्त्रियों के दर्शन से तो फिर कौन नहीं आकर्षित होगा ॥ ११० ॥

रहः प्रचार कुशला मृदु गद्गद भाषिणी ।
कं न नारी वशीकुर्यान्नरं रक्तां तलोचना ॥१११॥

एकान्त में की जाने वाली मैथुन आदि की क्रियायें—कुशल, मधुर और मुसकुराहट के साथ बोलने वाली, रक्त नेत्र, प्रान्त से सुशोभित स्त्री किसको—वश में नहीं कर सकती है ॥ १११ ॥

मुनेरपि मनो वश्यं सरागं कुरुतेंगना।
जितेंद्रियस्य कावार्ता किं पुनश्च जितात्मनाम् ॥११२॥

जो जितेन्द्रिय मुनि होते हैं, उनके मन को भी जब यह स्त्री जाति, अपनी ओर खैंचकर अनुरक्त बना लेती है तो फिर कामी लोलुप मनुष्यों के वश में करने की तो बात ही क्या है? ॥११२॥

व्यायच्छंतश्च बहवः स्त्रीषु नाशं गता अमी।
इंद्र दंडक्य नहुष रावणाद्याः सदा हृतः ॥११३॥

पर स्त्री की कामना करने-वाले बहुत से मनुष्य संसार में नष्ट हो गए-उनमें इन्द्र, दण्डक्य, नहुष, और रावण के उदाहरण जगत् प्रसिद्ध हैं। इन्द्र अहल्या, नहुष, इन्द्राणी और रावण सीता की अभिलाषा में नष्ट होगया ॥ ११३ ॥

अतत्पर नरस्यैव स्त्री सुखाय भवेत्सदा।
साहाय्यिनी गृह्य कृत्येतां विनान्यान विद्यते ॥११४॥

जो मनुष्य, स्त्री के हाथ की कठपुतली नहीं बनता-वही सुखी रहता है स्त्री का परित्याग नहीं किया जा सकता क्योंकि गृहस्थ के कार्य इसके बिना कभी नहीं चल सकते हैं। यह गृहकुल में बड़ी ही सहायक मानी गई है ॥ ११४ ॥

अति मद्यं हि पिबतो बुद्धि लोपो भवेत्किल।
प्रतिभां बुद्धि वैशद्यं धैर्यं चित्त विनिश्चयम् ॥११५॥
तनोति मात्रया पीतं मद्य मन्यद्विनाशकृत्।
काम क्रोधौ मद्यतमौनियोक्त व्यौयथोचितम् ॥११

जो बहुत अधिक सुरापान करता है–उसकी बुद्धि अवश्य लु
हो जाती है। मदिरा, यदि औषध के रूप में ठीक २ मात्रा
ग्रहण की जावे, तो यह प्रतिभा का विकाश, बुद्धि की विशदत
धैर्य-वृद्धि और चित्त की दृढ़ता को करती है और यदि इस
अनुचित रीति से उपयोग किया जावेगा–तो यह नाश कर दे
है। मदिरा से काम और क्रोध–दो की उत्पत्ति होती है! मनु
को इन्हें अच्छी तरह रोकना–चाहिए॥ ११५-११६॥

कामः प्रजापालने च क्रोधः शत्रु निबर्हणे।
सेना संधारणे लोभो योज्यो राज्ञा जयार्थिना ॥११

जो राजा–अपनी विजय का अभिलाषी हो, उसे प्रजा
पालन में काम, शत्रु केनिग्रह में क्रोध और सेना के संग्र
में लोभ प्रदर्शित करना चाहिए॥ ११७॥

पर स्त्री संगमे कामो लोभो नान्य धनेषुच।
स्व प्रजा दंडने क्रोधो नैव धार्यो नृपैः कदा ॥११८॥

राजा को पर स्त्री संभोग में कान, अन्य के धनापहरण
लोभ और प्रजा के दण्ड देने में क्रोध का कभी उपयोग नहीं
करना चाहिए॥ ११८॥

किमुच्यते कुटुंबीति परस्त्री संगमान्नरः ।
स्व प्रजा दंडनाच्छूरो धनिको न्यधनैश्चकिम् ॥

मनुष्य, क्या पर स्त्री के संग से सद्गृहस्थ कहा सकता है। क्या कोई राजा अपनी प्रजा के दण्ड देने से शूरवीर और अन्य के धन के अपहरण से धनवान् कहा-सकेगा ॥ ११६ ॥

अरक्षितारं नृपतिं ब्राह्मणांचातपस्विनम् ।
धनिकं चा प्रदातारं देवाघ्नंति त्यर्जंत्यधः ॥१२०॥

जो राजा, प्रजा की रक्षा न करता हो, और जो ब्राह्मण, तप परायण न हो, और जो धनवान् होकर दान-न करता हो-उसको देवता, विनष्ट कर देते हैं और उसे नीचे गिरा देते हैं ॥ १२० ॥

स्वामित्वं चैव दातृत्वं धनिकत्वं तपः फलम् ।
एनसः फल मर्थि त्वं दास्य त्वं च दरिद्रता ॥१२१॥

स्वामिता, दानपरायणता और धनिकता-ये तप के बिना नहीं प्राप्त हो सकती हैं। जगत् में याचकता, दासता और दरिद्रता—ये तीनों पाप का फल मानी गई हैं ॥ १२१ ॥

दृष्ट्वा शास्त्राण्यतोत्मानं सन्नि यम्य यथोचितम् ।
कुर्यान्नृपः स्ववृत्तं तु परत्रेह सुखायच ॥१२२॥

राजा धर्म शास्त्र का अध्ययन करके यथोचित अपने मन और इन्द्रियों को रोकता रहे। राजा अपने आचार को ऐसा बनावे, जिससे इस लोक में यश और परलोक में सुख की प्राप्ति हो सके ॥ १२२ ॥

दुष्ट निग्रहणं दानं प्रजायाः परिपालनम् ।
यजनं राजसूयादेः कोशानांन्यायतोर्जनम् ॥१२३॥
करदी करणं राज्ञां रिपूणां परिमर्दनम् ।
भूमेरु पार्जनं भूयो राजवृत्तं तु चाष्टधा ॥२४॥

(१) दुष्ट को दण्ड, (२) दान, (३) प्रजा का परिपालन (४) राजसूय आदि यज्ञों का यजन, (५) न्यायानुसार को[ष] का अर्जन (६) अन्य राजाओं का वशीकरण, (७) शत्रु [का] परिमर्दन, (८) तथा भूमि का संग्रहण—ये आठ कर्म राजा [के] कर्तव्य माने गए हैं ॥ १२३-१२४ ॥

नवर्धितं बलं यैस्तु न भूपाः करदी कृताः ।
न प्रजाः पालिताः सम्यक्ते वैषंढ तिला नृपाः ॥

जिन राजाओं ने न तो अपना बल (सेना) बढ़ाया, [न] राजाओं को अपने अधीन बनाकर कर दाता किया तथा [न] अच्छी तरह प्रजा का पालन ही किया—वे राजा केवल नाम मा[त्र] के राजा हैं। उन दोनों को षण्ढतिल अर्थात् नपुंसक मान[ना] चाहिए ॥ १२५ ॥

प्रजा सुद्विजते यस्माद्यत्मर्म परि निंदति ।
त्यज्यते धनिकै र्यस्तु गुणिभिस्तु नृपाधमः ॥१२६॥

जिस राजा से प्रजा उद्विग्न हो उठी हो। जिसके कामों [की] नित्य प्रजा निन्दा करती हो तथा धनिक और गुणी लोगों [ने]

जिसका परित्याग कर दिया हो-वह अधम राजा माना गया है ॥ १२६ ॥

नट गायक गणिका मल्ल षंढाल्प जातिषु ।
योति शक्तो नृपो निंद्यः सहि शत्रु मुखेस्थितः ॥

जो राजा, नट, गायक, गणिका, मल्ल (पहलवान) नपुंसकों (हिजड़ों) के नाच और नीच जाति के लोगों से सम्पर्क रखता है—वह निन्दनीय होता है-उसे तो शत्रु के मुख में ही स्थित समझना चाहिए ॥ १२७ ॥

बुद्धि मंतं सदाद्वेष्टि मोदते वंचकैः सह ।
स्व दुर्गुणं नैव वेत्ति स्वात्मना शायसो नृपः ॥२८॥

जो राजा, सर्वदा बुद्धिमान मनुष्यों से द्वेष करता रहे और वञ्चक-लोगों के साथ मित्रता गांठ लेवे एवं अपने दुर्गुणों की ओर ध्यान न देवे-वह राजा अपने नाश को आप ही-उद्यत हो जाता है ॥ १२८ ॥

नापराधं हि क्षमते प्रदंडो धन हारकः ।
स्व दुर्गुण श्रवणतो लोकानां परिपीडकः ॥२९॥
नृपो यदातदालोकः क्षुभ्यते भिद्यते यतः ।
गूढ चारैः श्रावयित्वा स्व वृत्तं दूषयंतिके ॥३०।
भूषयंति वंचकैर्भा वैर मात्याद्याश्चतद्विदः ।
मयिकी दृक् च संप्रीतिः केषाम प्रीतिरेववा ॥१३१॥

ममा गुणे गुंणे र्वापि गूढं संश्रुत्य चाखिलम् ।
चारैः स्वदुर्गुणं ज्ञात्वा लोकतः सर्वदा नृपः ॥१३२॥
सुकीर्त्यै संत्यजेन्नित्यं नावमन्येत वै प्रजाः ।
लोको निंदति राजंस्त्वां चारैः संश्रावितो यदि ॥१३३
कोपं करोति दौरात्म्यादात्म दुर्गुणलोपकः ।
सीता साध्व्यपि रामेण त्यक्ता लोकापवादतः ॥१३४

जो राजा, अपनी प्रजा के अपराधों को क्षमा न करे और अधिक दण्ड देकर उसके धन का अपहरण करे। अपने दुर्गुण सुनकर लोगों को पीड़ा पहुँचावे–तो उस समय लोग उद्विग्न-होकर भड़क उठते हैं। राजा–गुप्तचरों से यह पता रखे, कि कौन मनुष्य, किस तरह राजा के आचरण की किस प्रकार निन्दा करता है तथा कौन मन्त्री–आदि पुरुष, मेरे चरित्र की प्रशंसा करते हैं। उसको इसका भी पता लगाना चाहिए कि मुझ में कौन कैसी प्रीति करता है और कौन मुझ से द्वेष रखता है। कौन मेरे गुणों से सन्तुष्ट है और कौन मेरे अवगुणों की निन्दा करता है। इन सब बातों को राजा, गुपचुप में गुप्तचरों द्वारा जान लेवे। अपनी कीर्ति की रक्षा की निमित्त राजा उस बात का परित्याग करदे, प्रजा जिस बात की निन्दा कर रही हो, इससे प्रजा राजा की निन्दा नहीं कर–सकेगी। जब गुप्तचर यह सुनावें कि हे राजन! प्रजा के लोग, तुम्हारी निन्दा करते हैं, तो इतना सुनकर दुष्टता के कारण जो राजा, क्रोध कर बैठना और अपने दुर्गुणों

को छुपाना चाहता है, वह-अधम नृपति है। इस लोक के अपवाद से डरकर ही साध्वी सीता का राम ने परित्याग कर दिया था ॥ १२६-१३४ ॥

शक्तेनापि हिन धृतो दंडोल्पोरजके क्वचित् ।
ज्ञान विज्ञान संपन्ने राजदत्ता भयोपिच ॥१३५॥

रामचन्द्र जी यद्यपि सब कुछ शक्ति रखते थे, तो भी उन्होंने सीता की निन्दा करने वाले, धोबी को कुछ भी दण्ड नहीं दिया। धोबी भी सब कुछ जानकर ही निन्दा कर रहा था, परन्तु भगवान् राम ने उसको अभयदान ही प्रदान किया ॥ १३५ ॥

समक्षं वक्ति न क्षयाद्राज्ञो गुर्वपि दूषणम् ।
स्तुति प्रियाहि वै देवा विष्णु मुख्या इति श्रुतिः ।
किं पुन र्मनुजानित्यं निंदाजः क्रोध इत्यतः
राजा सुभाग दंडीस्यात्सुक्षमी रंजकः सदा ॥१३७॥

राजा का कितना ही भारी या स्पष्ट दोष हो-उसके सन्मुख-कोई भी भय से उसके दोष का वर्णन नहीं कर सकता है। निन्दा से सब भड़क उठते हैं और प्रशंसा से-प्रसन्न होते हैं। विष्णु आदि देव भी स्तुति से प्रसन्न होते है-यह वेदादिशास्त्र में स्पष्ट लिखा है। जब देवों की यह दशा है, तो मनुष्यों की तो चर्चा ही क्या है। निन्दा से क्रोध उत्पन्न होता है। राजा तो जितना उचित हो, उतना कर ग्रहण करे। न्यायानुकूल दण्ड देवे।

क्षमाशील बना रहे और उस प्रजा का रञ्जक होना—चाहिए ॥ १३६-१३७ ॥

यौवनं जीवितं वित्तं छाया लक्ष्मीश्च स्वामिता ।
चञ्चलानि षडैतानि ज्ञात्वा धर्मरतो भवेत् ॥१३८॥

यौवन, जीवन, चित्र, कान्ति, लक्ष्मी और स्वामिपन—ये छः चञ्चल होती हैं—ऐसा जान कर राजा नित्य धर्म में परायण रहे ॥ १३८ ॥

अदानेनापमानेन छलाच्च कटु वाक्यतः ।
राज्ञः प्रबल दंडेन नृपं मुंचति वै प्रजा ॥१३९॥

जब राजा वृत्ति देने में असमर्थ हो, अपमान करे, छल और कटु वाक्य परायण होवे, और प्रबल दण्ड देवे—तो ऐसे—राजा को प्रजा छोड़ देती है ॥ १३९ ॥

विपरीत गुणैरेभिः सान्वया रज्यते प्रजा ।
एकस्तनोति दुष्कीर्तिं दुर्गुणः संघ शोनकिम् ॥१४०॥

इन पूर्वोक्त निन्दनीय अवगुणों से विपरीत राजा सबको वेतन देवे, मान करता रहे, किसी से छल न करे, और मधुर बोले—कठिनता न देवें तो उससे प्रजा अपने परिवार सहित बड़ी प्रसन्न रहती है। जब एक भी दुर्गुण राजा की अपकीर्ति कर सकता है, तो सारे अवगुण उसकी अपकीर्ति या विनाश में क्यों न समर्थ होंगे ॥ १४० ॥

मृगया चास्तथा पानं गर्हितानि महीभुजाम् ।
दृष्टास्तेभ्यस्तु विपदो पांडु नैषध वृष्णिषु ॥१४१॥

मृगया (शिकार) जुआ, सुरापान, ये दुर्व्यसन राजा के पतन के कारण होने से बड़े निन्दनीय माने गए हैं। इन तीनों दुर्गुणों से ही नल युधिष्ठिर और यादवों पर विपत्ति टूट पड़ी थी ॥ १४१ ॥

काम क्रोधस्तथा मोहो लोभो मानो मदस्तथा ।
षड्वर्ग मुत्सृजेदेनमस्मिस्त्यक्ते सुखी नृपः ॥१४२॥

काम, क्रोध, मोह, लोभ, मान और मद ये छः दुर्गुण राजा को छोड़-देने चाहिए। जब राजा इनको छोड़ देगा-तभी वह सुखी हो सकता है ॥ १४२ ॥

दंडक्यो नृपतिः कामात्क्रोधाच्च जनमेजयः ।
लोभादैलस्तु राजर्षि र्मोहाद्वाता पिरासुरः ॥१४३॥
पौलस्त्यो राक्षसो मानान्मदाद्दंभोद्भवो नृपः ।
प्रयाता निधनं ह्येते शत्रु षड्वर्ग माश्रिताः ॥१४४॥

कोई दण्डक्य नामक राजा काम के वशीभूत होने से नष्ट हो चुका है। राजा जनमेजय क्रोध से, राजर्षि ऐल लोभ से और वातापि असुर मोह से, पुलस्त्य वंशोत्पन्न राक्षसराज अभिमान से राजा दम्भोद्भव मद से नष्ट हो गए। ये इस ही शत्रुभूत षड्वर्ग में फँसने से नष्ट हुए हैं ॥ १४३-१४४ ॥

शत्रु षड्वर्ग मुत्सृज्य जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
अम्बरीषो महाभागो बुभुजाते चिरं महीम् ॥१४५॥

महाप्रतापी जमदग्नि पुत्र परशुराम ने इसी कामादि षडवर्ग को छोड़ दिया था। जिससे वह विजयी हुआ। महानुभाव राजा अम्बरीष ने इसी षड्वर्ग के त्याग से चिरकाल तक लक्ष्मी का उपभोग किया ॥ १४५ ॥

वर्धयन्निह धर्मार्थौ सेवितौ सद्भिरादरात् ।
निगृहीतेंद्रिय ग्रामो कुर्वीत गुरुसेवनम् ॥१४६॥

धर्म और अर्थ का सज्जनों ने बड़े आदर से संग्रह किया है। इससे प्रत्येक मनुष्य को इनकी वृद्धि करनी चाहिए। इनकी सिद्धि तभी होती है, जब मनुष्य, अपने इन्द्रिय समूह को रोक-गुरु की सेवा में तत्पर होता है ॥ १४६ ॥

शास्त्राय गुरु संयोगः शास्त्र विनय वृद्धये ।
विद्या विनीतो नृपतिः सतां भवति संमतः ॥१४७॥

गुरु की सेवा, शास्त्र प्राप्ति का कारण है। शास्त्र का अध्ययन विनय सिखाता है। जो राजा विनय और विद्या से युक्त होता है, वह सज्जनों में बड़ा आदर पाता है ॥ १४७ ॥

प्रेर्य माणोप्य सद्वृत्तैर्नाकार्येषु प्रवर्तते ।
श्रुत्या स्मृत्या लोकतश्च मनसा साधु निश्चितम् ॥
यत्कर्म धर्म संज्ञं तद्व्यवस्यति च पंडितः
आददान प्रतिदान कला सम्यङ् महीपतिः ॥॥१४८॥

जब नीच दुर्जन सहचारी मनुष्य, राजा को अनुचित कार्य में प्रवृत्त करें और वह तब भी उस अकार्य में प्रवृत्त न होवे। वेद, स्मृति या लोक व्यवहार और अपने मन से सर्वदा उत्तम कार्य का निश्चय करे। जो कर्म धर्मार्थ संयुक्त हो—उसी में तत्पर होवे—वही राजा पण्डित है। राजा तो समयानुसार दान लेकर दान करते रहने में ही प्रशंसित होता है॥ १४८-१४९ ॥

जितेंद्रियस्य नृपते नीति शास्त्रानुसारिणः।
भवंत्युच्चलितालक्ष्म्यः कीर्तयश्च नभस्पृशः॥१५०॥

जो राजा जितेन्द्रिय रहकर नीतिशास्त्र के अनुसार चलता है उसकी अलक्ष्मी नष्ट हो जाती है, तथा उसकी कीर्ति स्वर्ग तक पहुँच जाती है॥ १५० ॥

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दंडनीतिश्च शाश्वती।
विद्याश्चतस्र एवैता अभ्यसेन्नृपतिः सदा॥१५१॥

राजा सदा न्यायादि दर्शन विद्या, वेद विद्या, व्यापार नीति और राजनीति इन चारों विद्याओं का अभ्यास करे। इन विद्याओं के ज्ञान से ही सब कुछ धर्म की स्थिति रह सकती है॥ १५१ ॥

आन्वीक्षिक्यां तर्कशास्त्रं वेदांताद्यं प्रतिष्ठितम्।
त्रय्यां धर्मोह्य धर्मश्च कामो कामः प्रतिष्ठितः॥१५२॥

आन्वीक्षिकी विद्याओं के अन्तर्गत न्याय और वेदान्त सब कुछ आजाता है। वेदत्रयी में धर्म, अधर्म, काम और मोक्ष सब कुछ वर्णित होता है॥ १५२ ॥

अर्थानर्थौ तु वार्तायां दंड नीत्यां नयानयौ ।
वर्णाः सर्वाश्रमाश्चैव विद्यास्वासु प्रतिष्ठिताः ॥१५३॥

धन सञ्चय या उसके विनाश के वर्णन वार्ता शास्त्र में हैं और नीति अनीति का वर्णन दण्ड नीति में है। इन चारों विद्याओं के भीतर वर्ण धर्म और आश्रम धर्म सब कुछ अन्तर्भूत रहते हैं ॥ १५३ ॥

अंगा निवेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय विस्तरः ।
धर्मशास्त्र पुराणानि त्रयीदं सर्व मुच्यते ॥१५४॥

शिक्षा आदि छः अङ्ग, चारों वेद, मीमांसा; न्याय शास्त्र, धर्म शास्त्र, पुराण-ये सारी विद्याएँ त्रयी धर्म के अन्तर्गत मानी गई हैं ॥१५४॥

कुसीद कृषि वाणिज्यं गोरक्षावार्तयोच्यते ।
संपन्नो वार्तया साधु र्नवृत्ते र्भय मृच्छति ॥१५५॥

ब्याज लेना, कृषि करना, व्यापार चलाना, गो रक्षा-ये सब वार्ता शास्त्र का विषय है। जो इस वार्ता शास्त्र से अभिज्ञ होता है, उसको कभी वृत्ति का भय नहीं हो सकता है ॥१५५॥

दमोदंड इति ख्यातस्तस्माद्दंडो महीपतिः ।
तस्य नीति दंडनीति र्नयनान्नीतिरुच्यते ॥१५६॥

दुष्टों के दमन का नाम दण्ड है-इससे राजा को मूर्तिमान् दण्ड मानना चाहिए। दण्ड या राजा की नीति को दण्ड नीति

या राज नीति कहते हैं। प्रजा का सञ्चालन करने के कारण राज का न्यायानुकूल कर्म नीति कहाता हैं ॥१५६॥

आन्वीक्षिकयात्म विज्ञानाद्धर्ष शोकौ व्युदस्यति।
उभौ लोकापवाप्नोति त्रय्यां तिष्ठन्यथा विधि ॥१५७॥

आन्वीक्षिकी विद्या (न्याय वेदान्त) आत्मज्ञान का कारण होने से हर्ष और शोक का उच्छेद करने वाली है। जो मनुष्य, वेद त्रयी के अनुसार चलता है, वह दोनों लोकों में सद्गति प्राप्त करता है ॥१५७॥

आनृशंस्यं परो धर्मस्सर्वप्राण भृतांयतः।
तस्माद्राजा नृशंस्येन पालयेत्कृपणं जनम् ॥१५८॥

सारे प्राणियों का दयालु होना-परम धर्म माना गया है। राजा को चाहिए कि वह भी कृपालु होवे-और दुःखी जन की रक्षा करता रहे ॥१५८॥

नहि स्वसुख मन्विच्छन्पीडयेत्कृपणं जनम्।
कृपणः पीडयमानः स्व मृत्युना हंति पार्थिवम् ॥१५९

राजा अपने सुख के ध्यान से कभी दीन मनुष्य को पीड़ा नहीं पहुंचावे जब राजा, दीन प्रजा को पीड़ा पहुंचाता है, पीड़ित हुआ दीन जन अपनी मृत्यु से राजा को मार देता है॥१५९॥

सुजनैः संगमं कुर्याद्धर्माय च सुखाय च।
सेव्यमानस्तु सुजनै र्महानति विराजते ॥१६०॥

राजा सर्वदा, सज्जनों का समागम करे, जिससे धर्म और सुख की वृद्धि होती है। जब सज्जन लोग, राजा की सेवा करते हैं, तो वह बहुत ही गौरव को प्राप्त हो जाता है ॥१६०॥

हिमांशु मालीव तथा नवोत्फुल्लोत्पलं सरः ।
आनंदयति चेतांसि यथा सुजन चेष्टितम् ॥१६१॥

जिस तरह चन्द्रमा, नवीन कमलों से युक्त सरोवर को विकसित करता है, इसी तरह सज्जनों की चेष्टा राजा और प्रजा दोनों के चित्त को विकसित कर देती है ।।१६१॥

ग्रीष्म सूर्यांशु संतप्त मुद्वेजन मनाश्रयम् ।
मरुस्थल मिवोदग्रं त्यजेद्दुर्जन संगतम् ॥१६२॥

दुर्जन की सङ्गति, छाया रहित, विस्तृत उस मरुस्थल के तुल्य है, जिसमें प्रचण्ड सूर्य तप रहा हो । इसमें गमन करने वाले प्राणी को जैसा कष्ट होता है-उसी तरह दुर्जन की सङ्गति में क्लेश समझना चाहिए ॥१६२॥

निः श्वासोद्गीर्ण हुत भुग्धूम धूम्री कृताननैः ।
वरमाशीविषैः संगं कुर्यान्नत्वे व दुर्जनैः ॥१६३॥

जिस सर्प के मुख से विष की आग की लपटें निकल रही हो और धुएं से मुख भरा हो-उसके मुख में अंगुलि देना अच्छा है, परन्तु दुर्जन का संग अच्छा नहीं मानना चाहिए। राजा सर्वदा दुर्जन के संग से बचता रहे ॥१६३॥

क्रियतेऽभ्यर्हणीयाय सुजनाय यथांजलिः ।
ततः साधुतरः कार्यो दुर्जनाय हितार्थिना ॥१६४॥

जिस तरह आदर प्रदर्शन करने और अपने कल्याण के निमित्त सज्जन को हाथ जोड़ कर नमस्कार की जाती है, उसी तरह जो अपना हित चाहे, वह दुर्जनों को दूर से ही हाथ जोड़ लेवे-अर्थात् उनके साथ कभी न रहे ॥१६४॥

नित्यं मनोपहारिण्या वाचा प्रह्लाद येज्जगत् ।
उद्वेजयति भूतानि क्रूरवाग्धनदोपिसन् ॥१६५॥

राजा अपनी मधुर वाणी से सारी प्रजा को आल्हादित रखे जो कठोर बोलने वाला होता है, वह कुबेर के समान धनी और दानी भी क्यों न हो, उससे प्रजा भड़क उठती है ॥१६५॥

हृदि विद्ध इवात्यर्थं यथा संतप्यते जनः ।
पीडितोपि हिमेधावीनतां वाचमुदीरयेत् ॥१६६॥

जिस वाणी से मनुष्य, का हृदय बाण की तरह बेंध लिया जावे, उस वाणी को कठिनाई पड़ने पर भी मनुष्य कभी न बोले ॥१६६॥

प्रिय मेवाभि धातव्यं नित्यं सत्सुद्विषत्सुवा ।
शिखीवकेकां मधुरां वाचं ब्रूते जन प्रियः ॥१६७॥

सज्जन या हो दुर्जन-सबके साथ राजा, मधुर वाणी से भाषण करे। जो मनुष्य मयूर की भांति मधुर वाणी बोलता है, वह सब का प्रिय हो जाता है ॥१६७॥

मद रक्तस्य हंसस्य कोकिलस्य शिखंडिनः ।
हरंति न तथा वाचो यथा वाचो विपश्चिताम् ॥

मदोन्मत्त हंस, कोमल, और मयूर की वाणी भी मनुष्यों के चित्त का इतना अपहरण नहीं कर सकती हैं; जैसा चित्त का आकर्षण विद्वान की वाणी कर सकती है ॥१६८॥

ये प्रियाणि प्रभाषंते प्रियमिच्छंति सत्कृतम् ।
श्रीमंतो वंद्य चरिता देवास्ते नर विग्रहाः ॥१६९॥

जो मनुष्य, मधुर बोलता है, और सत्कार पूर्वक सबका हित चाहते हैं, वे ऐश्वर्य शाली मनुष्य, मनुष्य रूप में वास्तव में देवता समझने चाहिए ॥१६९॥

नहीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक् ॥१७०॥

जो दया, प्राणियों से मित्रता और मधुर वाणी के साथ दान करना है-इससे अधिक वशीकरण तीनों लोकों में नहीं है ॥१७०॥

श्रुतिरा स्तिक्य पूतात्मा पूजयेद्देवतां सदा ।
देवता वद्गुरु जनमात्मवच्च सुहृज्जनान् ॥१७१

आस्तिकता से पवित्र बुद्धि वाला, राजा सर्वदा श्रुति की देवता की तरह पूजा करे । या श्रुति और देवों की पूजा करता रहे । इसी तरह देवों के समान गुरुजन और आत्मा की तरह सुहृद जनों की राजा पूजा करे ॥१७१॥

प्रणिपातेनहि गुरून्सतोनूचान वेष्टितः ।
कुर्वीताभि मुखान्देवान्भूत्यै सुकृत कर्मणाम् ॥१७२॥

अच्छे २ वेदपाठियों से घिरा हुआ राजा प्रणाम आदि के द्वारा सर्वदा गुरुजन और सज्जनों की पूजा करे। जो उत्तम कर्म करने वाले हैं, उनके कल्याण के निमित्त सर्वदा देवों की पूजा द्वारा सन्तुष्ट रखे ॥ १७२ ॥

सद्भावेन हरेन्मित्रं सद्भावेन च बांधवान् ।
स्त्री भृत्यौ प्रेममानाभ्यां दाक्षिण्ये नेतरंजनम् ॥१७३॥

सद्भाव से मित्रों का चित्त वश में करे और सद्भाव से ही बांधवों को मुग्ध रखे। स्त्री और सेवक जनों को प्रेम और दान मान से प्रसन्न रखे—तथा अन्य मनुष्यों को राजा अपने चातुर्य से अपनी ओर खैंच लेवे ॥ १७३ ॥

बलवान्बुद्धिमान्शूरो योहि युक्त पराक्रमी ।
वित्त पूर्णां महीं भुंक्ते सभूपो भूपतिर्भवेत् ॥१७४॥

जो राजा, बलवान बुद्धिमान्, शूरवीर और समय पर उचित पराक्रम दिखाने वाला है वही इस वसुपूर्ण वसुधा के भोगने में समर्थ होता है और वही सच्चा भूपति भी है ॥ १७४ ॥

पराक्रमो बलं बुद्धिः शौर्यमेतेव रागुणाः ।
एभिर्हीनोन्य गुणयुग्महो भुक्स धनोपिच ॥१७५॥
महीं स्वल्पां नैव भुंक्ते द्रुतं राज्याद्विनश्यति ।
महा धनाच्च नृपते विभात्यल्पो पिपार्थिवः ॥१७६॥

पराक्रम, बल, बुद्धि और शूरवीरता—ये राजा के उत्तम गुण माने गए हैं। इन गुणों से हीन तथा अन्य गुणों से युक्त भी धन सम्पन्न राजा, थोड़ी भी भूमि के भोगने में समर्थ नहीं हो सकता है। वह थोड़े ही काल में राज्य से नष्ट हो जाता है। वह अपने महान ऐश्वर्य से भ्रष्ट होता है। ऐसे राजा से तो थोड़े ऐश्वर्य वाला राजा भी पूर्वोक्त गुणों से युक्त होने के कारण शोभा को प्राप्त हो जाता है ॥ १७५-१७६ ॥

अव्याहताज्ञस्तेजस्वी एभिरेवगुणैर्भवेत् ।
राज्ञः साधारणास्त्वन्येन शक्ताभू प्रसाधने ॥१७७

जो पराक्रम आदि गुणों से युक्त राजा होता है, उसकी आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। राजा—इन ही गुणों से सम्पन्न होने के कारण तेजस्वी कहाता है। इन गुणों से—पृथक साधारण गुण माने गए हैं, वे इस पृथिवी के शासन में समर्थ नहीं हो सकते, अर्थात इन गुण से अन्य गुण सम्पन्न राजा भी पृथिवी के शासन करने में समर्थ नहीं हो सकता है ॥ १७७ ॥

खनिः सर्वधनस्येयं देवदैत्य विमर्दिनी ।
भूम्यर्थे भूमिपतयः स्वात्मानं नाशयंत्यपि ॥१७८

यह भूमि, सारे रत्नादि धन की खान है। इसके निमित्त देव और दानव लड़ २ कर मर गए। इसी भूमि की प्राप्ति के लिए राजा लोग, अपने को रणाग्नि में हवन कर देते हैं ॥१७८

उपभोगाय च धनं जीवितं येन रक्षितम् ।
न रक्षितातु भूर्येनकिं तस्य धन जीवितैः ॥१७९॥

धन और जीवन उपभोग के लिए है। जिस राजा ने इनकी तो रक्षा की और भूमि की रक्षा न की—तो उसके धन और जीवन के बचने से क्या लाभ है—वह तो जीवन निरर्थक ही है॥ १७९ ॥

न यथेष्टव्ययायालं संचितंतु धनं भवेत् ।
सदा गमाद्विनाकस्य कुबेरस्या पिनांजसा ॥१८०॥

जब तक यथेष्ट आय और व्यय नहीं हो तो सञ्चित धन तो कुबेर का भी नष्ट हो सकता है। आमदनी के विना किसका धन नहीं समाप्त होगा। हमारी सम्मति में तो कुबेर का धन का भण्डार भी विना आय के बहुत शीघ्र खाली हो सकेगा॥ १८० ॥

पूज्यस्त्वेभिर्गुणै भूपोनभूपः कुल संभवः ।
नकुले पूज्यते यादृग्बल शौर्य पराक्रमैः ॥१८१॥

जिस राजा में पूर्वोक्त पराक्रमादि गुण हैं, उसी की पूजा होती है। राजकुल में उत्पन्न होने से किसी की पूजा या आदर नहीं हो सकता है। बल, शौर्य और पराक्रम की ही पूजा सच्ची पूजा है, इनके समान कुल की कौन पूजा करता है॥ १८१ ॥

लक्ष कर्षमितो भागो राजतोयस्य जायते ।
वत्सरे वत्सरेनित्यं प्रजानां त्व विपीडनैः ॥१८२॥

सामंतः सनृपः प्रोक्तो यावल्लक्षत्रयावधि ।
तदूर्ध्वं दश लक्षांतो नृपो मांडलिकः स्मृतः ॥१८३॥
तदूर्ध्वं तु भवेद्राजायाव द्विंशति लक्षकः ।
पंचा शल्लक्ष पर्यंतो महाराजः प्रकीर्तितः ॥१८४॥
ततस्तु कोटि पर्यंतः स्वराट् संम्राट् ततः परम् ।
दश कोटिमितोयावद्विराट् तु तदनंतरम् ॥१८५॥
पंचा शत्कोटि पर्यंतं सार्व भौमस्ततः परम् ।
सप्त द्वीपाच पृथिवी यस्य वश्या भवेत्सदा ॥१८६॥

जिसके भूमि कर का राज्य की ओर से एक लक्ष रुपया प्रति वष का नियत हो और वह प्रजा की विना पीड़ा के वसूल किया जाता हो—वह छोटा राज सामन्त कहाता है। सामन्त तीन लक्ष का भी होता है। प्रतिवर्ष तीन लाख से अधिक आमदनी वाला दश लाख तक का राजा माण्डलिक राजा कहाता है। इसके आगे जिसकी भूमि कर की—आय बीस लाख तक है, वह राजा होता है। पचास लाख की प्रतिवर्ष भूमिकर की आय वाला महाराज कहाता है। दश लाख से एक करोड़ तक स्वराट् कहाता है और इससे अधिक आमदनी वाले राजा की सम्राट संज्ञा होती है। जिसकी आय दश करोड़ पर्यन्त मानी गई है। दशकरोड़ से पचास करोड़ के अधिपति की विराट् संज्ञा है। इससे आगे—अरबों की संख्या की वार्षिक कर की आमदनी वाले राजा को

सार्वभौम कहते हैं। इसके वश में सातों द्वीपों से सुशोभित पृथिवी होती है ॥ १८२-१८६ ॥

स्वभाग भृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः ।
ब्रह्मणा स्वामि रूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा ॥१८७॥

कर लेने से राजा की वृत्ति चलती है, इससे राजा को विधाता ने प्रजा का दास बनाया है, परन्तु यही राजा एक ओर से प्रजा का पालन करता है, इससे वह प्रजा का स्वामी—माना गया है ॥ १८७ ॥

सामंतादि समायेतु भृत्या अधिकृता भुवि ।
तेनु सामंत संज्ञाः स्यू राजभागहराः क्रमात् ॥१८८॥

सामन्तों के समान वेतन देकर जिन भृत्यों को राजा अपनी भूमि का अधिकार दे देते हैं, वे अनुसामन्त कहाते हैं। ये भी राजा के कर के भाग के भागी माने गए हैं ॥ १८८ ॥

सामंतादि पद भ्रष्टास्तत्तुल्यं भृति पोषिताः ।
महाराजादिभिस्तेतु हीन सामंत संज्ञकाः ॥१८९॥

जिन सामन्तों को उनके पद से पृथक् कर दिया गया, परन्तु-उनको उतना ही वेतन देकर उसी पद पर स्थापित रखा-तो उन भ्रष्ट सामन्तों को हीन सामन्त कहते हैं ॥१८९॥

शत ग्रामाधिपोयस्तु सोपि सामंत संज्ञकः ।
शत ग्रामेचाधिकृतोनु सामंतो नृपेण सः ॥१९०॥

जिसके पास सौ गांव का अधिपति होता है, वह भी सामन्त होता है। सौ ग्रामों का अधिकार देकर जिस भृत्य को सामन्त की ही आपके बराबरी का वेतन देकर नियत किया गया-वह भी अनुसामन्त कहाता है ॥ १६० ॥

अधिकृतो दश ग्रामे नायकः स च कीर्तितः ।

आशा पालोयुतग्राम भाग भाक् च स्वराडपि १६१॥

जिस व्यक्ति को दश-गांवों का अधिकार दिया गया-वह नायक कहाता है। जो दश सहस्र गांवों का कर ग्रहण करता है, वह भी आशापाल या स्वराट् कहाता है ॥ १६१ ॥

भवेत्क्रोशात्मको ग्रामो रूप्य कर्ष सहस्रकः ।

ग्रामार्धकं पल्लि संज्ञं पल्ल्यर्धं कुंभ संज्ञकम् ॥१६२॥

जिसकी लम्बाई-चौड़ाई का घेरा एक कोश का हो और एक सहस्र राजकीय कर देता हो-वह ग्राम कहाता है। गांव से आधे प्रमाण और पांच सौ कर दायी गांव पल भी कहाता है-और इससे आधा कुम्भ माना गया है ॥ १६२ ॥

करैः पंच सहस्रैर्वाक्रोशः प्रोक्तः प्रजापतेः ।

हस्तैश्चतुः सहस्रैर्वा मनोः क्रोशस्य विस्तरः ॥१६३॥

प्रजापति के मत पांचसौ हाथ के परिमाण वाला एक कोश होता है। मनु जी का मत है, कि उसकी चौड़ाई चार हजार हाथ होनी चाहिए।.१६३॥

साधं द्विकोटि हस्तैश्च क्षेत्रं क्रोशस्य ब्रह्मणः।
पंच विंशशतैः प्रोक्तं क्षेत्रं तद्वि निवर्तनैः ॥१६४॥

ब्रह्मा के मत में ढ़ाई करोड़ हाथ के परिमाण वाला, कोश का क्षेत्र होता है। पचीससौ हाथ के विनि वर्तन से भी क्रोश के क्षेत्र का प्रमाण माना गया है ॥१६४॥

मध्यमामध्यमं पर्व दैंर्घ्यंयच्चतदंगुलम्।
यवो दरैरष्ट भिस्तद्दैंर्घ्यंस्थौल्यं तु पंचभिः ॥१६५ ॥

मध्यमा अंगुलि के मध्य भाग की लम्बाई तक एक अंगुल माना गया है। इसकी लम्बाई आठ जों के मध्य भाग के तुल्य होती है और मुटाई पांच जौ के मध्य भाग के बराबर मानी गई है ॥ १६५ ॥

चतुर्विंशत्यंगुलैस्तैः प्राजापत्यः करः स्मृतः।
स श्रेष्ठो भूमि मानेतु तदन्यास्त्वधमामताः ॥१६६॥

चौबीस अंगुल का प्रजापति के मत में हाथ का परिमाण होता है। यदि पृथिवी को नाप की जावे-तो इसी हाथ का परिमाण ग्रहण करना चाहिए। अन्य परिमाणों का ग्रहण अधम माना गया है ॥१६६॥

चतुः करात्मकोदंडोलघुः पंचकरात्मकः।
तदङ्गलं पंच यवैर्मानवं मानमेव तत् ॥१६७॥

चार हाथ अथवा किसी के मत में पांच हाथ का लघुदण्ड माना गया है। पांच जौ के मध्य भाग की मुटाई और लम्बाई

इसकी अंगुल होती है। इस प्रमाण की चौबीस अंगुल का मनु के मत में हाथ का परिमाण होता है ॥१६७॥

वसुषण्मुनिसंख्या कैर्यवैर्दंडः प्रजापतेः ।
यवोदरैः षट्शतैस्तु मानवो दंड उच्यते ॥१६८॥

सातसौ अड़सठ यवों के प्रमाण धारी प्रजापति के और छः यवों के प्रमाण से युक्त, मनु के मत में दण्ड का प्रमाण माना है ॥१६८॥

पंचविंशति भिर्दण्डैरुभयोस्तु निवर्तनम् ।
त्रिशच्छतैरंगुलैर्यवैस्त्रि पञ्च सहस्रकैः ॥१६६॥

प्रजापति और मनु इन दोनों के मत में पच्चीस सौ दण्ड का निवर्तन माना है। तीन सहस्र अंगुल, या पन्द्रह हजार यव के प्रमाण से भी निवर्तन का प्रमाण माना है ॥१६६॥

सपाद शत हस्तैश्च मानवंतु निवर्तनम् ।
ऊन विंशति साहस्रै र्द्विशतैश्च यवोदरैः ॥२००॥

सवा सौ हाथ का मनु के मत में निवर्तन होता है। उन्नीस हजार दो सौ यव के मध्य भाग से भी विनिवर्तन का प्रमाण होता है ॥ २०० ॥

चतुर्विंश शतैरेवह्यं गुलैश्चनिवर्तने ।
प्राजापत्यं तु कथितं शतैश्चैव करैः सदा ॥२०१॥

चौबीससौ अंगुल तथा सौ हाथ का प्रजापति के मत में निवर्तन होता है ॥२०१॥

सपाद षट्शतं दंडा उभयोश्च निवर्तने ।
निवर्तनान्यपि सदोभयोर्वै पंच विंशतिः ॥२०२॥

इन दोनों प्रकार की नाप निवर्तन में सवाछः सौ दण्ड के परिमाण से होती है। इन दोनों के सर्वदा पच्चीस निवर्तन माने गए हैं ॥ २०२ ॥

पंच सप्तति साहस्रैरंगुलैः परिवर्तनम् ।
मानवं षष्टि साहस्रैः प्राजापत्यं तथांगुलैः ॥२०३॥

पिचहत्तर सहस्र अंगुल का मनु के मत में परिवर्तन होता है और साठ हज़ार अंगुल का प्रजापति के मत में परिवर्तन का प्रमाण स्वीकृत किया गया है ॥२०३॥

पंच विंशाधिकैर्हस्तैरेक त्रिंशच्छतैर्मनोः ।
परिवर्तनमाख्यातं पंच विंशशतैः करैः । २०४॥

इकतीस सौ पच्चीस हाथों का मनु के मत में और पच्चीस सौ पच्चीस हाथों का प्रजापति के मत में परिवर्तन होता है ॥२०४॥

प्राजापात्यं पाद हीन चतुर्लक्षय वैर्मनोः ।
अशीत्यधिक साहस्र चतुर्लक्षय वैः परम् ॥२०५॥

तीन लाख पिचहत्तर हज़ार यवों के प्रमाण से प्रजापति का और चार लाख अस्सी हज़ार यव प्रमाण का मनु का परिवर्तन माना गया है ॥२०५॥

निवर्तनानि द्वात्रिंशन्मनुमानेन तस्यवै ।
चतुः सहस्र हस्ताः स्युर्दंडाश्चाष्ट शतानिहि ॥२०६॥

मनु के मान से बत्तीस निवतनों के चार सहस्र हाथ या आठ सौ दण्ड होते हैं ॥२०६॥

पञ्च विंशतिभिर्दंडैर्भुजः स्यात्परिवर्तने ।
करैरयुत संख्याकैः क्षेत्रं तस्य प्रकीर्तितम् ॥२०७॥

पच्चीस दण्डों की भुजा मानी गई है । दश हज़ार हाथों का उसका क्षेत्र कहा गया है ॥२०७॥

चतुर्भुजैः समं प्रोक्तं कृष्ट भू परिवर्तनम् ।
प्राजापत्येन मानेन भूभाग हरणं नृपः ॥२०८॥
सदा कुर्याच्च स्वापत्तौ मनुमानेन नान्यथा ।
लोभात्संकर्षयेद्यस्तु हीयते स प्रजो नृपः ॥२०९॥

जोती जाने वाली भूमि का परिवर्तन चतुर्भुज के समान होना चाहिए। जहां तक हो सके राजा प्रजापति के मान से ही भूमि का कर ग्रहण करे। यदि युद्ध आदि की कठिनाई उपस्थित हो जावे, तो मनु के मान से भी कर ग्रहण किया जा सकता है। यदि राजा, लोभ से मनु के प्रमाण से भूमि को नांप कर अधिक कर ग्रहण करता है, वह प्रजा के सहित नष्ट हो जाता है ॥

न दद्याद् द्व्यंगुलमपि भूमेः स्वस्व निवर्तनम् ।
वृत्त्यर्थं कल्प येद्धा पियावद्ग्राहस्तु जीवति ॥२१०॥

राजा अपनी भूमि का दो अंगुलि का भाग भी बिना कर ग्रहण के न छोड़े। कर का ग्रहण तो अपने निर्वाह के लिए हैं। राजा का तो जीवन तब तक है, जब तक वह कर का ग्रहण करता रहता है ॥२१०॥

गुणीता वद्देवतार्थं विसृजेच्च स दैवहि ।
आरामार्थं गृहार्थं वा दद्याद् दृष्ट्वा कुटुम्बिनम् ॥

धर्मात्मा राजा, देवता के मन्दिर, बगीचे या सदाचारी गृहस्थ के निमित्त भूमि दान में दे सकता है ॥२११॥

नाना वृक्षलता कीर्णे पशु पक्षि गणा वृते ।
सुबहूदक धान्ये च तृण काष्ठ सुखे सदा ॥२१२॥
आसिंधु नौगमा कूले नाति दूर महीधरे ।
सुरम्य सम भूदेशे राजधानीं प्रकल्पयेत ॥२१३॥

अनेक वृक्ष लताओं से भरे हुए, पशु और पक्षियों से व्याप्त बहुत से जल और अन्न से सम्पन्न, तृण काष्ठ से समन्वित, नौकाओं के सञ्चारण के योग्य नदियों से संयुक्त, पर्वतों से सुशोभित, सुन्दर सम भूमितल से मनोहर प्रदेश में राजा अपनी राजधानी का निर्माण करे ॥२१२-२१३॥

अर्ध चांद्रां वर्तुलांवा चतुरस्रां सुशोभनाम् ।
स प्राकारां सपरिखां ग्रामादीनां निवेशिनीम् ॥२१४॥

राजधानी का आकार अर्धचन्द्र के तुल्य वक्र, तथा गोल या सुन्दर चौकोर होना चाहिए। इसके चारों ओर परकोटा तथा खाई का निर्माण अत्यन्त आवश्यक है। ग्राम पल्ली घोष आदि जिसके नीचे लगे रहना चाहिए॥ २१४॥

सभा मध्या कूप वापी तडागादि युतां सदा।
चतुर्दिक्षु चतुर्द्वारां सुमार्गाराम वीथिकाम् ॥२१५॥

इस राजधानी के मध्य में राज सभा का—भवन बनवाना उचित है। राजधानी में अनेक कूप वापी तड़ाग बने हों इसके चारों दिशाओं में चार द्वार हों तथा सुन्दर सड़कें, बगीचे और गली बननी चाहिए॥ २१५॥

दृढ सुरालय मठ पांथ शाला विराजिताम्।
कल्पयित्वावसेत्तत्र सुगुप्तः सप्रजो नृपः ॥२१६॥

राजधानी के मध्य में बड़े दृढ़ सुरम्य, देवालय मठ, धर्मशाला आदि की रचना की जावे। इस प्रकार राजधानी निर्माण कराके राजा बड़ी रक्षा के साथ वहाँ निवास करे॥ २१६॥

राज गृहं सभा मध्यं गवाश्व गज शालिकम्।
प्रशस्त वापी कूपादि जलयंत्रैः सुशोभितम् ॥२१७॥

जहाँ राजसभा बने, वहीं पर राजमहल बनने चाहिए जिसमें गौ, अश्व, और गजों के रहने की सुरम्य शाला बनी होवें। उस राजप्रासाद में नाली, कूप, जलयन्त्र (फव्वारे) आदि बड़ी उत्तम रीति से निर्माण कराने योग्य हैं॥ २१७॥

सर्वतः स्यात्समभुजं दक्षिणोच्च मुदङ् नतम् ।
शालां विनानैकभुजं तथाः विषम बाहुकम् ॥२१८॥

राजधानी की भुजा सब ओर से समान हो तथा वह दक्षिण दिशा में ऊँची और उत्तर की-ओर झुकी होनी चाहिए। राज-महल शाला और भुजासे हीन न बने। और न उसमें विषम भुजा होनी चाहिए॥ २१८ ॥

प्रायः शालानैक भुजा चतुः शालं विनाशुभा ।
शस्त्रास्त्र धारि संयुक्तं प्राकारं सुष्ठ यंत्रकम् ॥२१९॥

जो राजभवन में शाला (गज शाला) आदि बनाई जावे, वे एक भुजा की न हों। राजसभा में चारों ओर शाला न भी हो तो भी वह शुभ मानी गई है शस्त्रास्त्र धारण के स्थान हों और प्राकार (शहर पनाह) के ऊपर तोप आदि गोले फैंकने के यन्त्र लगे रहने चाहिए॥ २१९ ॥

सत्रिकक्ष चतुर्द्वारं चतुर्दिक्षु सुशोभनम् ।
दिवा रात्रौ सशस्त्रास्त्रैः प्रतिकक्षा सुगोपितम् ॥२२०॥
चतुर्भिः पंचभिः षड्भिर्यामिकैः परिवर्तकैः ।
नाना गृहोपकार्याढ्य संयुतं कल्पयेत्सदा ॥२२१॥

इस राजसभा के चारों द्वारों में तीन कक्षा (मंजिलें) होनी उचित है, जो चारों—दिशाओं में बड़ी सुन्दर बनी हों। इस पर चार पांच या छः पहरेदार प्रहर प्रहर में बदलते रहें। इसमें

अनेक कमरे, कोठरी, अटारी भी अच्छी तरह निर्माण की जावें। इसकी प्रत्येक कक्षा में सैनिक—शस्त्रास्त्र से रात दिन सुसज्जित रहकर राजधानी की रक्षा करते रहें ॥ २२०-२२१ ॥

वस्त्रादि मार्जनार्थं च स्नानार्थं यजनार्थकम् ।
भोजनार्थं च पाकार्थं पूर्वस्यां कल्पयेद् गृहान् ॥२२२

राजभवन के पूर्व की ओर वस्त्रप्रक्षालनगृह, स्नानागार, अग्निहोत्रशाला, पाक—बनाने को भोजन शाला बनवानी चाहिए ॥ २२२ ॥

निद्रार्थं च विहारार्थं पानार्थं रोदनार्थकम् ।
धान्याद्यर्थं घरट्टार्थं दासी दासार्थ मेवच ॥२२३॥
उत्सर्गार्थं गृहान्कुर्याद्दक्षिणस्यामनुक्रमात् ।
गो मृगोष्ट गजाद्यर्थं गृहान्प्रत्यक् प्रकल्पयेत् ॥२२४॥

सोने, विहार, सुरापान, रोदन, धान्यसंग्रह, घरट्ट (कूटने झड़ने) दासी-दास के निवास स्थान, मलमूत्र त्याग स्थान भवन के दक्षिण की ओर बनवाने उचित हैं। गौ, ऊँट, गज, कुत्तादि पशुओं के स्थान राजमहल के पश्चिम की ओर बनवाने का विधान है ॥ २२३-२२४ ॥

रथ वाज्यस्त्र शस्त्रार्थं व्यायामा यामिकार्थकम् ।
वस्त्रार्थ कंतुद्रव्यार्थं विद्याभ्यासार्थ मेव च ॥२२५॥
उदग्गृहान्प्रकुर्वीत सुगुप्तान्सुमनोहरान् ।
यथा सुखा निवाकुर्याद्गृहाण्येतानि वै नृपः ॥२२६॥

रथ, अश्व, अस्त्र, शस्त्र, व्यायाम, आयाम (टहलने) के स्थान तथा वस्त्र, द्रव्य के सुरक्षित रखने के स्थान, विद्याभ्यास का भवन, उत्तर की ओर बनवाया जावे। ये बड़े सुन्दर और सुगुप्त होने चाहिए। राजा अपनी आवश्यकता के अनुसार भी शाला निर्माण शास्त्र के अनुकूल राजभवन बनवा सकता है।२२५-२२६।

धर्माधिकरणं शिल्पशालां कुर्यादुदग्गृहात् ।
पंचमांशाधिकोच्छ्रायाभित्तिर्विस्तारतो गृहे ॥२२७॥
कोष्ठ विस्तार षष्ठांश स्थूला सा च प्रकीर्तिता ।
एक भूमेरिदं मानमूर्ध्वमूर्ध्वं समंततः ॥२२८॥

धर्माध्यक्ष की कचहरी, शिल्पशाला भी इसके उत्तर में ही होनी उचित है। शाला (कमरे) के विस्तार से पंचगुणी ऊँची भीत बननी चाहिए। कोष्ठ (कमरे) के विस्तार से छठा भाग भित्ति की मुटाई का होवे। एक प्रमाण एक (भूमि) (मंजिल) का है। इससे ऊपर इसी तरह भूमि का (मंजिलें) बनाई जा सकती हैं॥ २२७-२२८॥

स्तंभैश्च भित्तिभिर्वापि पृथक्कोष्ठानि संन्यसेत् ।
त्रिकोष्ठं पंचकोष्ठं वा सप्तकोष्ठं गृहंस्मृतम् ॥२२९॥

भीतों के कमरे पृथक् और खम्भों पर बने हुए कमरे पृथक् होने योग्य है। तीन, पांच या सात कोठों से युक्त जो स्थान हो उसे ही गृह या भवन कहते हैं॥ २२९॥

द्वारार्थमष्टधा भक्तं द्वारस्यां शौतु मध्यमौ ।
द्वौ द्वौज्ञेयौ चतुर्दिक्षु धन पुत्र प्रदौ नृणाम् ॥२३०॥

द्वार के लिए जितनी भूमि ली—उस के आठ भाग बनावे। उसमें दो भाग बीच के निकाल कर द्वार की रचना करे। चारों दिशाओं में दो २ द्वार होने चाहिए। इससे मनुष्य को धन और पुत्रादि की प्राप्ति होती है॥ २३०॥

तत्रैव कल्पयेद्द्वारं नान्यथातु कदाचन ।
वातायनं पृथक्कोष्ठे कुर्याद्या दृक्सुखावहम् ॥२३१॥

इस भूमि के मध्य के ही भाग में द्वार की रचना करे, इससे उलट पलट कभी न बनावे। प्रत्येक कोष्ठ (कमरे) से पृथक वायु सञ्चार का स्थान बरामदा या झरोखा बनाया जावे, जिसे निर्माण कराने वाला अपने सुख की भावना के अनुसार बनवा लेवे॥ २३१॥

अन्य गृह द्वार विद्धं गृहद्वारं न चिंतयेत् ।
वृक्ष, कोणस्तम्भ, मार्ग पीठकूपैश्च वेधितम् ॥२३२॥

अपने घर का द्वार अन्य के घर के द्वार से बिंधा नहीं होना चाहिए। वृक्ष, अन्य—गृहकोण, स्तम्भ, मार्ग, चबूतरा, तथा कूप इनसे विंधा हुआ भी घर का द्वार नहीं बनाना चाहिए॥ २३२॥

प्रासाद मंडप द्वारे मार्ग वेधोन विद्यते ।
गृह पीठं चतुर्थांश मुद्रायस्य प्रकल्पयेत् ॥२३३॥

राजमहल और यज्ञमण्डप के द्वार में मार्ग का बंधन ही माना जाता है, परन्तु यह तभी होगा—जब इनका गृहपीठ (चबूतरा) चतुर्थांश तक विस्तृत हो ॥ २२३ ॥

प्रासादानां मंडपानामर्धांशंवा परेजगुः ।
पर वातायनै विंद्धं ना पिवातायनं स्मृतम् ॥२३४॥

किसी २ के मत में प्रासार और मण्डप का अर्धांश गृहपीठ में हो—तब मार्ग बंध नहीं माना जाता है। दूसरे के वातायन (झरोखे) से विंधा हुआ अपना वातायन (झरोखा) नहीं होना चाहिए ॥ २३४ ॥

विस्तारार्धांश मूलोच्चाछदिःखर्परसंभवा ।
पतितं तु जलं तस्यां सुखं गच्छतिवाप्यधः ॥२३५॥

कोठे के विस्तार से अर्धांश नीव वाली ऊँची खप्परों का छाज बनावे, जिससे उस पर पड़ा हुआ पानी सुख से नीचे चला जावे ॥ २३५ ॥

हीना निम्नाछदिर्नस्यात्तादृक्कोष्ठस्य विस्तरः
स्वोच्छ्रायस्यार्ध मूलोवा प्राकारः सममूलकः ॥२३६॥

कोठे के विस्तार से हीन हलकी और नीची खप्परों की छाज नहीं होनी चाहिए। प्राकार की ऊंचाई से आधी या उसके बराबर उसकी नींव होनी चाहिए। इस तरह प्राकार (परकोटा) की रचना की जावे ॥ २३६ ॥

५

तृतीयां शक मूलो वाह्युच्छ्रायार्ध प्रविस्तरः ।
उच्छ्रितस्तु तथा कार्यो दस्यु भिर्नविलंघ्यते ॥२३

किसी प्रकार की नींव का भाग ऊँचाई से तृतीयांशयी हो
है। उसकी चौड़ाई नींव से आधी मानी गई है। प्राकार
ऊँचाई इतनी हो, कि उसका चोर उल्लंघन न कर सके ॥२३

यामिकै रक्षितो नित्यं नालिकास्त्रैश्च संयुतः ।
सुबहु दृढ़ गुल्मश्च सुगवाक्ष प्रणालिकः ॥२३८॥

इस प्राकार पर पहर देने वाले सैनिक नियुक्त रहें, जिन
पास सुसज्जित बन्दूक होवे। उसके दृढ़ गुल्म (कंगूरे) औ
गवाक्षों की प्रणाली होनी चाहिए, जिनसे बन्दूक की गो
मारी जावे ॥ २३८ ॥

स्वहीन प्रतिप्राकारोह्य समीप महीधरः ।
परिखाचततः कार्याखाताद्द्विगुण विस्तरा ॥२३६

परकोटे से छोटा प्रतिप्राकार बनवाया जावे। जिसके पा
पर्वत लगा हुआ न-होवे। खात के प्रमाण से द्विगुण-प्रमा
वाली खाई खुदवानी चाहिए ॥ २३६ ॥

नाति समीप प्राकाराद्ध्यगाध सलिला शुभा ।
युद्ध साधन संभारैः सुयुद्ध कुशलै र्विना ॥२४०

यह खाई प्राकार के पास ही बननी चाहिए, जिसमें अगा
जल भरा होवे। युद्ध के साधनों की सामग्री और युद्ध में कुश

योद्धाओं के-विना इस खाई और प्राकार से प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है॥ २४० ॥

न श्रेयसे दुर्ग वासो राज्ञः स्याद्बंध नायसः।
राज्ञा राज सभा कार्या सुगुप्ता सु मनोरमा ॥२४१॥

राजा को दुर्ग में वास करना अच्छा नहीं है। किन्तु-वह तो बन्धन का हेतु हो जाता है। इससे दुर्ग में सुरङ्ग होनो चाहिए। राजा अपनी राजसभा सुन्दर और सुगुप्त निर्माण करवावे॥२४१॥

त्रिकोष्ठैः पञ्चकोष्ठैर्वा सप्तकोष्ठैः सुविस्तृता।
दक्षिणोदक्तथा दीर्घा प्राक्प्रत्यग्द्विगुणाथवा ॥ २४२॥
त्रिगुणा वा यथाकाममेक भूमिर्द्वि भूमिका।
त्रिभूमिका वा कर्तव्यासोपकार्या शिरोगृहा ॥ २४३॥

राजसभा मे तीन, पांच, सात कोष्ठ होने उचित हैं। यह सभा दक्षिण उत्तर जितनी लम्बी हो उससे पूर्व पश्चिम दुगुनी या तिगुनी होनी चाहिए। उसमें अपनी इच्छानुसार एक भूमि (मंजिल) या दो भूमि (मंजिल) या तीन भूमि बनालेवे। उसकी ऊपर की मञ्जिल युद्ध सामग्री से युक्त छोटे कमरों से सुशोभित हो॥ २४२-२४३ ॥

परितः प्रतिकोष्ठे तु वातायन विराजिता।
पार्श्व कोष्ठात्तु द्विगुणो मध्य कोष्ठस्य विस्तरः॥१४४॥
पञ्चमांशाधिक स्त्वौच्चं मध्य कोष्ठस्य विस्तरात्।
विस्तारेणसमंत्वौच्चं पञ्चमांशाधिकं तु वा ॥२४५॥

इसके प्रत्येक कोष्ठ के आगे वातायन (झरोखा) होना-चाहिए। पार्श्व कोष्ठ से दुगुना-मध्य कोष्ठ का विस्तार माना-गया है। मध्यम कोष्ठ के विस्तार से पञ्चमांश अधिक उसकी ऊँचाई हो विस्तार के समान या पञ्चमांश अधिक ऊँचाई-जैसी इच्छा हो-रख लेनी चाहिए ॥ २४४-२४५ ॥

कोष्ठकानांच भूमिर्वाछदिर्वातत्र कारयेत् ।

द्वि भूमिके पार्श्व कोष्ठे मध्यमंत्वेक भूमिकम् ॥२४६॥

उन कोष्ठ (कमरों) के ऊपर छत या छान-डालनी चाहिए। पार्श्व कोष्ठों की ऊँचाई में दो मञ्जिल और मध्य कोष्ठ की इतनी ऊँचाई हो, कि उसकी एक ही मञ्जिल बन सके ॥ २४६ ॥

पृथक्स्तं भांत सत्कोष्ठा चतुर्मार्गागमा शुभा ।

जलोर्ध्व पातियंत्रैश्च युता सुस्वर यंत्रकैः ॥२४७॥

इन भिन्न कोठों (कमरों) में उत्तम २ स्तम्भ लगे हों चारों ओर से आने जाने के मार्ग हों। इसमें जल यन्त्र (फव्वारे) और स्वर यन्त्र (गाने के यन्त्र) लगे होने चाहिए ॥ २४७ ॥

वात प्रेरक यन्त्रैश्च यन्त्रैः काल प्रबोधकैः ।

प्रतिष्ठिता च स्वादर्शैस्तथाच प्रतिरूपकैः ॥२४८॥

कहीं पर वायु के करने वाले यन्त्र हों और कहीं पर काल बतलाने वाले यन्त्र घण्टे आदि लटकने चाहिए। कहीं पर शीशे और कहीं पर तसवीर सुशोभित होवें ॥ २४८ ॥

एवं विधाराज सभा मंत्रार्था कार्य दर्शने ।
तथा विधामात्यलेख्य सभ्याधि कृत शालिका ॥

राजा को अपने कार्य विचार के निमित्त ऐसी पूर्वोक्त राज-सभा बनवानी चाहिए, जिसमें—मन्त्रणा की सुगमता रह सके। इसीकी अमात्यों (मन्त्रियों) की सभा (कचहरी) और अन्य अध्यक्षों के स्थान होने उचित है ॥ २४९ ॥

कर्तव्याश्च पृथक्त्वेतास्तदर्थाश्च पृथक्पृथक् ।
शत हस्त मितां भूमिंत्यक्त्वा राज गृहात्सदा ॥२५०

इन पृथक् २ अधिकारियों को पृथक् २ राजसभा बनवावे। उनके काम भी पृथक् २ होने चाहिए। राजभवन से कम से कम सौ सौ हाथ की दूरी पर ये कार्यालय भिन्न २ बनने चाहिए।२५०।

उदग्द्विशतहस्तां प्राक्सेना संवेशनार्थिकाम् ।
आराद्राज गृहस्यैव प्रजानां निलयानिच ॥२५१॥

राजभवन के उत्तर में दो सौ हाथ की दूरी पर उत्तर या पूर्व में सेना की छावनी डाले। राजभवन के समीप नागरिक प्रजा के घर बनने चाहिए ॥ २५१ ॥

स धन श्रेष्ठ जात्यानुक्रमतश्च सदाबुधः ।
समंताच्च चतुर्दिक्षु विन्यसेच्चततः परम् ॥२५२॥

जो धनवान और कुलीन हों—उनके घर राजभवन के समीप बने। ये—गृह राजभवन के चारों ओर बन जाने देना उचित है ॥ ९५३ ॥

प्रकृत्य नु प्रकृत योह्यधिकारिगणस्ततः ।
सेनाधिपाः पदातीनां गणाः सादिगणस्ततः ॥२५३॥

प्रथम अमात्य आदि प्रकृति, फिर बन्धु बान्धव अनुप्रकृति उसके पीछे अधिकारी गण, सेनाध्यक्ष, पैदल सैनिक, अश्वारोही के घर बने ॥ २५३ ॥

साश्वश्च सगजश्चापि गजपाल गणस्ततः ।
बृहन्नालिक यन्त्राणि ततः स्वतुरगी गणाः ॥२५४॥

इनके आगे अश्व, गज, गजपालों के गणों के घर हों, यहां पर भी बड़ी-बड़ी तोपों के स्थान हों। उसके आगे घोड़ा व घोड़ियों के पालकों के भवन हों ॥ २५४ ॥

ततः स्वगोपक गणोह्यारण्यक गणस्ततः ।
क्रमादेषां गृहाणिस्युः शोभनानि पुरेसदा ॥२५५॥

इसके अनन्तर अपना गोपाल गण और फिर आरण्यक सैनिकों का समूह होना चाहिए। राजधानी के मध्य में इन लोगों के सुन्दर २ भवन बने होने चाहिए ॥ २५५ ॥

पांथ शालाततः कार्या सुगुप्ता सुजलाशया ।
सजातीय गृहाणांहि समुदायेन पंक्तितः ॥२५६॥

राजधानी के मध्य में पांथशाला (सराय या धर्मशाला) सुरक्षित और जलाशय से युक्त बनानी चाहिए। राजधानी में प्रत्येक जाति के पृथक् घर पंक्ति रूप में बना देवे अर्थात् प्रत्येक जाति के मुहल्ले बना दिए जावें ॥ २५६ ॥

निवेशनं पुरे ग्रामे प्रागुदङ्मुख मेववा ।
सजाति पण्यनिवहै रापणेपण्य वेशनम् ॥२५७॥

पुर या ग्राम में घुसने के द्वार पूर्व और उत्तर के सर्वदा खुले रहने चाहिए। राजधानी या पुर में आपण (बाज़ार) में एक सी चीजों की दुकान एक ओर बनी रहनी चाहिए अर्थात वस्त्रों का बाज़ार एक ओर, अन्न का एक ओर इस तरह पृथक् २ बाज़ार बना दिए जावें ॥ २५७ ॥

धनिकादि क्रमेणैव राजमार्गस्य पार्श्वयोः ।
एवं हि पत्तनं कुर्याद्ग्रामं चैव नराधिपः ॥२५८॥

राजमार्ग (सड़क) के इधर उधर धनवानों की दुकानें और मकान हों । राजा स्वयं नगर ग्राम को इसी तरह पर बसवावे ॥ २५८ ॥

राज मार्गास्तु कर्तव्याश्चतुर्दिक्षु नृप गृहात् ।
उत्तमो राजमार्गस्तु त्रिंशद्धस्तमितो भवेत ॥२५९॥
मध्यमो विंशति करोदश पंच करोधमः ।
पण्य मार्गास्तथा चैते पुरग्रामादिषु स्थिताः ॥२६०॥

राजभवन से चारों दिशाओं में सड़क जावें, जिसकी चौड़ाई तीस हाथ से कम न हो । ऐसा राजमार्ग उत्तम माना गया है— बीस हाथ का राजमार्ग मध्यम और पन्द्रह हाथ का निकृष्ट होता है। पुर और ग्राम में बाज़ारों की सड़क भी इतनी ही चौड़ी होनी चाहिए ॥ २५९-२६० ॥

कर त्रयात्मिका पद्यावीथिः पंच करात्मिका ।
मार्गो दशकरः प्रोक्तो ग्रामेषु नगरेषु च ॥२६१॥

जिसकी तीन हाथ की चौड़ाई होती है, वह पद्या कहाती है पांच हाथ की वीथि, दश हाथ के प्रमाण का मार्ग माना गया है नगर और गांव सर्वत्र इनका यही परिमाण नियत है ॥ २६१॥

प्राक्पश्चाद्दक्षिणो दक्तान्ग्राम मध्यात्प्रकल्पयेत ।
पुरं दृष्ट्वा राज मार्गान्सुबहून्कल्पयेन्नृपः ॥२६२॥

पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण की नगर के बीच से राजमार्ग बनाये जावें। जितना बड़ा नगर हो—राजा उसी के प्रमाण से उसमें उतनी ही सड़क (बाजार) निकाल देवे । २६२

नवीथिंन च पद्यांहि राजधान्यां प्रकल्पयेत् ।
षड्योजनां ततेरण्ये राजमार्गंतु चोत्तमम् ॥२६३॥

तीन या पांच हाथ पद्या तथा वीथि राजधानी में नहीं होनी चाहिए। वन में चौबीस कोश के अन्तर पर राजमार्ग (सड़क) बने होवें। यही उत्तम है ॥ २६३ ॥

कल्पयेन्मध्यमं मध्येतयोर्मध्ये तथाधमम् ।
दशहस्तात्मकं नित्यंग्रामेग्रामे नियोजयेत् ॥२६४॥

अरण्य में जो सड़क निकाली जावें-यदि उनका अन्तर बारह कोश का हो—वह मध्यम है और इसके बीच में भी सड़क हो—अर्थात् छः कोश पर हो तो मध्यम माना गया है। गांव गांव में दश दश हाथ की गली होनी चाहिए ॥ २६४ ॥

कूर्मपृष्ठामार्ग भूमिः कार्या ग्राम्यैः सुसेतुका ।
कुर्यान्मार्गान्पार्श्वखातान्निर्गमार्थं जलस्य च ॥२६५॥

उत्तम पुल के ढंग की कछुवे के पीठ के तुल्य ढाल और दृढ़ मार्ग की भूमि गांव वालों को बना लेनी चाहिए। इसी तरह पानी के निकल जाने को गाँव वाले गांव के पास नाली खोद देवें ॥ २६५ ॥

राजमार्ग मुखानिस्यु गृहाणि सकलान्यपि ।
गृह पृष्ठेदासवीथिंमलनिर्हरणस्थलम् ॥२६६॥

नगर या गांव में घरों के द्वार सड़क पर होने चाहिये। घर के पीछे सेवकों के घर और घर के पीछे की गली में मल-मूत्र के उत्सर्ग का स्थान हो ॥ २६६ ॥

पंक्तिद्वयगतानांहिगेहानां कारयेत्तथा ।
मार्गान्सुधाशर्करैर्वाघटितान्प्रतिवत्सरम् ॥२६७॥

दोनों ओर बने हुए घरों के मध्य में कंकर और कली से कूट कर पक्की सड़क बनानी चाहिए। जिसकी रचना (मरम्मत) प्रति वर्ष होती रहे ॥ २६७ ॥

अभियुक्तनिरुद्धैर्वा कुर्यात् ग्राम्य जनै नृपः
ग्राम द्वयां तरे चैव पांथशालाः प्रकल्पयेत ॥२६८॥

राजा, अभियुक्त (जिनका निर्णय नहीं हुआ) या निरुद्ध (कैदियों) तथा गांव के मनुष्य (मजदूरों) से इस सड़क को

बनवाता रहे। दो गांवों के मध्य में पांथशाला [सराय] बननी बनानी चाहिए॥ २६८॥

नित्यं संमार्जितां चैव ग्रामपैश्चसु गोपिताम् ।
तत्रागततु सपृच्छेत्पांथंशालाधिपैः सदा ।२६९॥

जो ग्राम के अधिपति रूप से नियत है वह उस पांथशाला में नित्य सफ़ाई करवावे—तथा उसकी रक्षा करे। पांथशाला का अधिपति आने वाले पांथों [मुसाफिरों] से आवश्यक पूछ ताछ करले॥ २ ॥

प्रयातोसि कुतः कस्मात्क्वगच्छसि ऋतं वद ।
ससहायोऽसहायो वा किंशस्त्रः किंसवाहनः ॥२७०॥

काजातिः किंकुलं नामस्थितिः कुत्रास्ति तेचिरं ।
इति पृष्ट्वा लिखेत्सायं शस्त्रं तस्य प्रगृह्यच ॥२७१॥

तुम कहाँ से किस लिए आए हैं। कहाँ तुम्हें जाना है—यह ठीक २ बताओ ? तुम्हारे साथी कौन है--क्या तुम अकेले हो ? तुम्हारे पास क्या शस्त्र और क्या वाहन हैं। क्या तुम्हारी जाति है। किस कुल में उत्पन्न हुए। तुम्हारा क्या नाम है। कहाँ तुम बहुत काल से रहते हो। इस प्रकार के आने वाले-पांथ से प्रश्न करके सायंकाल में उन्हें लिखले और उनके शस्त्र को अपने पास रखवाले॥ २७०-२७१॥

सावधान मनाभूत्वा स्वापं कुर्विति शासयेत् ।
तत्रस्थान्गणयित्वातु शालाद्वारं पिधायच ॥२७२॥

संरक्षयेद्यामि कैश्च प्रभाते तान्प्रबोधयेत ।
शस्त्रं दद्याच्च गणयेद्द्वार मुद्घाटय मोचयेत ॥२७३॥

पांथशाला का अधिपति आये हुए, पांथ [मुसाफिर] को चेतावनी देदे, कि सावधान होकर शयन करना। पांथशाला [सराय] के मनुष्यों को गिन कर उसका दरवाजा बन्द कर दे। उसके द्वार पर पहरेदारों को नियुक्त करके अधिपति चला जावे और प्रातःकाल आकर उनको जगा देवे। उनकी गणना करे और उनको उनके शस्त्र देकर अपनी २ इच्छानुसार जाने की अनुज्ञा [इजाजत] देदे ॥ २७२-२७३ ॥

कुर्यात्सहाय्यं सीमांतं तेषां ग्राम्य जनस्सदा ।
प्रकुर्याद्दिन कृत्यंतु राजधान्यां वसन्नृपः ॥२७४॥

गांव का चौकीदार, सीमा के अन्ततक उनकी सहायता करके उन्हें पहुँचादे। राजधानी में रहता हुआ, राजा, दिन में अपने न्याय कृत्यों को सम्पादित करे ॥ २७४ ॥

उत्थाय पश्चिमेयामे मुहूर्तं द्वितयेनवै ।
नियतायश्च कत्यस्ति व्ययश्च नियतः कति ॥२७५॥
कोशभूतस्य द्रव्यस्य व्ययः कति गतस्तथा ।
व्यवहारे मुद्रिताय व्ययशेषं कतीतिच ॥२७६॥

राजा रात्रि के पीछे के भाग में दो घड़ी रात रहते उठ खड़ा हो। उस समय यह देखे, कि हमारी नियत आमद कितनी है और नियत व्यय कितना है। कोश में प्रविष्ट हुए धन का कितना

भाग व्यय हो चुका है। राज व्यवहार में कितनी आय और कितना व्यय हुआ। इस प्रकार कर्मचारी से पूछ कर या लेख से देखकर भविष्य में होने वाले आय व्यय का अनुमान करे और इसके बाद राजा तदनुसार कोश से द्रव्य निकाले ॥२७५-२७६॥

प्रत्यक्षतो लेखतश्च ज्ञात्वाचाय व्ययः कति ।
भविष्यति च तत्तुल्यं द्रव्यं कोशात्तु निर्हरेत् ॥२७७॥

इसके बाद राजा पुरीषोत्सर्ग [पाखाना] को चला जावे। एक घण्टे के भीतर स्नान आदि से निवृत्त होकर सन्ध्या करे और पुराण आदि श्रवण तथा दान में दो घण्टे से कम लगा देवे ॥२७७

पश्चात्तु वेगनिर्मोक्षं स्नानं मौहूर्तिकं मतम् ।
संध्या पुराणदानैश्च मुहूर्तद्वितयं नयेत् ॥२७८॥
पारितोषिक दानेन मुहूर्तं तुनयेत्सुधीः ।
धान्य वस्त्र स्वर्ण रत्न सेनादेश विलेखनैः ॥२७९॥

इसके बाद जिस कर्मचारी ने उत्तम काम किया है, उसको पुरस्कार देवे। इसमें भी बुद्धिमान राजा एक मुहूर्त [दो घड़ी] समाप्त करे। फिर अन्न, वस्त्र, सुवर्ण, रत्न, सेना, और देश के विषय में, नवीन आवश्यक बातें जानने में एक घण्टा बिता दे॥

आयव्ययै मुहूर्तानां चतुष्कंतु नयेत्सदा ।
स्वस्थ चित्तो भोजनेन मुहूर्तंस सुहृन्नृपः ॥२८०॥

इस प्रकार सर्वदा आप व्यय के निरीक्षण में चार मुहूर्त (चार घण्टे से कम) राजा के लगने चाहिए। इसके बाद अपने सुहृद जनों के साथ भोजन करके एक घण्टे तक आराम करलेवे ॥

प्रत्यक्षी करणाज्जीर्ण नवीनानां मुहूर्तकम् ।
ततस्तु प्राड्विवाकादि बोधि त व्यवहारतः ॥२८१॥

इसके बाद पुरानी और नवीन वस्तुओं के देखने में एक मुहूर्त लगावे । इसके बाद मुकदमों की सुनवाई और प्राड् विवाक (वकीलो) की बहस सुने और दीवानी के व्यवहार या फौजदारी के अभियोगों का निर्णय करे ॥२८१॥

मुहूर्तद्वितयंचैव मृगया क्रीडनैर्नयेत् ।
व्यूहाभ्यासे मुहूर्तंतु मुहूर्तं संध्यया ततः ॥२८२॥
मुहूर्तं भोजनेनैव द्विमुहूर्तं च वार्तया ।
गूढचारः श्रावितया निद्रयाष्ट मुहूर्तकम् ॥२८३॥

इसके पीछे दो मुहूर्त (दो घण्टे) से कम मृगया (शिकार) खेलने में व्यतीत करे । फिर सेना के व्यूह रचना या युद्ध के अभ्यास में तत्पर हो और अन्तमें सायंकाल की संध्या करे । एक घण्टे तक फिर सायंकाल का भोजन करे, दो घण्टे गुप्त चरों से बातों का पता लगावे । जब गुप्तचरों से बात होले-तो आठ मुहूर्त तक शयन करे ॥१८२-१८३॥

एवं विहरतो राज्ञः सुखं सम्यक्प्रजायते ।
अहोरात्रं विभज्यैवं त्रिंशद्भिस्तु मूहूर्तकैः ॥२८४॥

जो राजा इस प्रकार से अपनी दिनचर्या बनाता है वह सुख से अपने काल को व्यतीत करता है। दिन और रात को इस प्रकार राजा तीस मुहूर्त में बांट लेवे ॥ २८४ ॥

नयेत्कालं वृथा नैवययेत्स्त्री मद्य सेवनैः ।
यत्काले ह्युचितं कर्तु तत्कार्यंद्रागशंकितम् ॥२८५॥
काले वृष्टिः सुपोषाय ह्यन्यथा सुविनाशिनी ।
कार्यस्थानानि सर्वाणि यामि कैरभितो निशम् ॥
नयवान्नीति नतिवित्सिद्ध शस्त्रादिकैर्वरैः ।
चतुर्भिः पंचभिर्वापि षड्भिर्वागोपयेत्सदा ॥२८७॥

राजा कभी अपने समय को वृथा न खोवे और न स्त्री सेवन और सुरापान में बितावे। जो समय पर करना उचित हो-उसे शंका रहित होकर झटपट कर डाले, समय पर हुई वर्षा अन्न की वृद्धि करती है और असमय की वर्षा अन्न को मार देती है। न्यायशील, नीतिमान्, नम्रतायुक्त, राजा, उत्तम शस्त्रादि से युक्त उत्तम २ वीर, पहरेदारों को काम के स्थानों पर सदा अच्छी तरह सब ओर नियुक्त करके कार्योपयोगी स्थानों पर यथा योग्य, चार, पांच या छः प्रहरियों को सावधानी से राजा लगावे ॥२८५-२८७॥

तत्रत्यानि दैनिकानि शृणुयाल्लेखकाधिपैः ।
दिने दिने यामिकानां प्रकुर्यात्परिवर्तनम् ॥२८८॥

इन कार्यालयों के दैनिक कृत्य, लेखकों के अधिपतियों के मुख से सुने, जहाँ तक हो सके प्रतिदिन यामिकों (पहरेदारों) का परिवर्तन होता रहे ॥ २८८ ॥

गृहपंक्ति मुखे द्वारं कर्तव्यं यामिकैः सदा ।
तैस्तद्वत्तांतुशृणुयाद्गृहस्थ भृति पोषितैः ॥२८९॥

यामिक लोक, गृहपंक्ति (गली) के द्वार पर अपना डेरा डाले रहें। इन सिपाहियों का वेतन इस गली के रहने वाले गृहस्थों से कर द्वारा ग्रहण किया जावे। राजा, उन यामिकों से वहाँ के गृहस्थों के कुशल समाचार जाने॥ २८९ ॥

निर्गच्छंति च ये ग्रामाद्योग्रामं प्रविशंति च ।
तान्सुसंशोध्य यत्नेन मोचयेद्वत्तलग्नकान् ॥२९०॥

जो लोग, गांव से बाहर जावें या पुर या ग्राम में प्रविष्ट होवें उनकी अच्छी तरह संशोधन (तलाशी) करके राजा उनको मुहर लगा हुआ आने जाने का पत्र देवे ॥ २९० ॥

प्रख्यात वृत्त शीलांस्तु ह्य विमृश्य विमोचयेत् ।
वीथिवीथिषु यामार्धैर्निशिपर्यटनं सदा ॥२९१॥
कर्तव्यंयामिकैरेवं चौर जार निवृत्तये ।
शासनं त्वीदृशं कार्य राज्ञानित्य प्रजासु च ॥२९२॥

जिन पुरुषों का शुद्धाचार प्रसिद्ध है, उनको विना संशोधन या विना मुहर के पत्र के आने जाने दिया जावे। यामिक लोग गली के भीतर डेढ़ २ घण्टे में चक्कर लगावे जिससे चोर अभिचारियों की दाल न गलने पावे राजा को इस तरह सर्वदा प्रजा पर शासन करना उचित है॥ २९१-२९२ ॥

दासे भृत्येथ भार्यायां पुत्रे शिष्ये पिवा क्वचित् ।
वाग्दंड परुषान्नैव कार्यं मद्देश संस्थितैः ॥२६३॥

राजा यह आज्ञा देदे, कि दास, भृत्य, भार्या, पुत्र, और शिष्य के साथ मेरे देश के निवासी जन कभी वाणी के दण्ड के सिवा अन्य कोई दण्ड प्रदान न करे ॥२६३॥

तुला शासन मानानां नाणकस्या पिवा क्वचित् ।
निर्यासानां च धातूनां सजातीनां घृतस्यच ॥२६४॥
मधु दुग्ध वसादीनां पिष्टादीनां च सर्वदा ।
कूटं नैव तु कार्यं स्याद्बलाच्च लिखितं जनैः ॥२६५॥

तराजू, आज्ञापत्र, मान (बाट) सिक्का, वृक्षादिकारस (लाक्षा-आदि) धातु, सजातीय बान्धव घृत, मधु, दुग्ध, वसा (चर्बी) पिष्ट (आटा) आदि के विषय में मिथ्या लेख या बलपूर्वक कोई लेख न होना चाहिए ॥२६४-२६५॥

उत्कोच ग्रहणान्नैव स्वामिकार्य विलाभनम् ।
दुर्वृत्त कारिणं चोरं जारम द्वेषिणं द्विषम् ॥२६६॥
नरचंत्व प्रकाशं हित थान्यानपकारकान् ।
मातृणां पितृणां चैव पूज्यानां विदुषामपि ।२६७॥
नाव मानं नोपहासं कुर्युः सद्वृत्त शालिनाम् ।

उत्कोच (रिश्वत आदि अनुचित लाभ) से राजा का कोई लाभ नहीं हो सकता दुराचारी, चोर, व्यभिचारी, राजा के शत्रु

से द्वेष नहीं करने वाला और राजा का द्वेषी-ऐसे पुरुषों की कभी भी रक्षा न करे। इसी तरह अन्य अपकारी मनुष्यों की भी सहायता न करे। माता, पिता, पूज्य सदाचारी तथा विद्वान् पुरुषों का कभी अपमान या उपहास न करे ॥२९६-२९७॥

नभेदं जनयेयुर्वै नृनार्योः स्वामि भृत्ययोः ॥२९८॥
भ्रातृणां गुरुशिष्याणां न कुर्युः पितृपुत्रयोः।

राजा, स्त्री, पुरुष, स्वामी सेवक भाई-भाई, पिता-पुत्र तथा गुरु और शिष्यों में झगड़ा न होने देवे ॥२९८॥

वापी कूपाराममसीमा धर्मशाला सुरालयान् ॥२९९॥
मार्गान्नैव प्रबाधेयुर्हीनां गविकलांगकान्।
द्यूतं च मद्यपानंच मृगयां शस्त्रधारणम् ॥३००॥
गो गजाश्वोष्ट्र मषीनृणां नौ स्थावरस्यच ।
रजत स्वर्ण रत्नानां मादकस्य विषस्यच ॥३०१
क्रयंवा विक्रयंवापि मद्यसंधान मेवच।
क्रय पत्रंदान पत्रमृण निर्णय पत्रकम् ॥३०२॥
राजाज्ञया विनानैवजनैः कार्यं चिकित्सितम्।
महापापाभिशपन निधिग्रहण मेवच ॥३०३॥

बावड़ी कूप, बगीचे, सीमा, धर्मशाला, देवालय, एवं हीन और विकल अंग वाले, लोगों के मार्गों को कभी बाधा न पहुंचावे द्यूत (जुआ) सुरापान, मृगया (शिकार) शस्त्र धारण गौ, हाथी,

अश्व, ऊंट, भैंस, मनुष्य, स्थावर चाँदी, सुवर्ण, रत्न, माद
और विषैले पदार्थ, क्रयविक्रय सुराकर्षण, गृह आदि बेचने
पत्र (पट्टा) दान पत्र, ऋण के निर्णय का पत्र (दीवानी मिसल
इन कामों को राजा की आज्ञा के बिना मनुष्य कभी न क
महापाप का अभिशपन (फर्द जुर्म) लगाना किसी अधिकारी
उचित नहीं है, और न वह किसी के धन का ग्रहण [जब्र]
सकता है ॥२९९-३०३॥

नवसमाज नियमं निर्णयं जाति दूषणम् ।
अस्वामिनास्ति कधनं संग्रहं मंत्र भेदनम् ॥३०४॥

कोई भी अधिकारी, नवीन समाज के नियम, निर्णय [अन्ति
फैसला] जाति दूषण, स्वामि हीन या नास्तिक के धन का सं
मंत्र का भेद न करे ॥३०४॥

नृप दुर्गुण लोपंतु नैवकुर्युः कदाचन ।
स्वधर्म हानिमनृतं परदाराभिमर्शनम् ॥३०५॥

जो राजा के दुर्गुण हों, उनको छुपा कर उनकी वृद्धि को
न करे। अपने कर्तव्य का त्याग, असत्य भाषण और पर
से भोग भी किसी अधिकारी को नहीं करना चाहिए ॥३०५॥

कूटसाक्ष्यं कूटलेख्यम प्रकाशप्रतिग्रहम् ।
निर्धारितकराधिक्यं स्तेयं साहसमेवच ॥३०६॥

किसी भी अधिकारी को झूंठे साक्षी, झूंठा लेख, गुप्त
धन ग्रहण [रिश्वत] नहीं करना चाहिए और न नियत कर

अधिक ग्रहण करे। न किसी प्रकार की चोरी या साहस का अनुचित कार्य करे ॥३०६॥

मनसाऽपिनकुर्वंतु स्वामि द्रोहं तथैवच ।
भृत्या शुल्केन भागेन वृद्धया दर्प बलाच्छलात् ॥

कोई भी अधिकारी, वेतन, शुल्क [महासूल] भाग, सुद, अहंकार के बल और छल के द्वारा मन से भी अपने स्वामी का द्रोह न करे ॥३०७॥

आधर्षणं न कुर्वंतु यस्य कस्यापि सर्वदा ।
परिमाणोन्मानमानं धार्यं राज विमुद्रितम् ॥३०८॥

कोई भी अध्यक्ष, प्रजा के किसी मनुष्य को न दबावे। जितना राजा ने नियत कर दिया, उतनी ही परिमाण में नांप तोल राजा की मुद्रा [मुहर] से नियत रहनी चाहिए ॥३०८॥

गुण साधन संदक्षा भवंतु निखिलाजनाः ।
साहसाधिकृते दद्यु र्विनिगृह्याततायिनम् ॥३०९॥

सारे जन, प्रजा के सुखकारी कार्य की वृद्धि में संलग्न रहें। चोर आदि दुष्ट पुरुष को पकड़ कर प्रजा के लोग उसे साहसाधिपति [मजिष्ट्रेट] के यहां पेश कर दें ॥३०९॥

उत्सृष्टा वृषभाद्या स्तैस्तेधार्याः सुयंत्रिताः ।
इतिमच्छासनं श्रुत्वा येन्यथा वर्तयन्तितान् ॥३१०॥
विनेष्यामिच दंडेन महता पापकारकान् ।
इति प्रबोधयेन्नित्यं प्रजाः शासन डिंडिमैः ॥३११

जिन लोगों ने वृषभ आदि छोड़े हैं, वे ही उनको रोक र
रखे। राजा, प्रजा में घोषित करवादे, कि जो मेरी आज्ञा सुनक
उसके विरुद्ध चलेंगे, मैं उन अपराधियों को महान दण्ड देक
शिक्षा प्रदान करूंगा ॥३१०-३११॥

लिखित्वाशासनं राजा धारयीत चतुष्पथे ।
सदा चोद्यत दंडः स्यादसाधुषुच शत्रुषु ॥३१२॥

राजा अपने आज्ञापत्र को लिखवा कर चौराहों पर चिपका
देवे। राजा सर्वदा अपने दण्ड को असाधु पुरुष और शत्रुओं प
डालता रहे॥ ३१२॥

प्रजानां पालनं कार्यं नीति पूर्वं नृपेणहि ।
मार्ग संरक्षणं कुर्यान्नृपः पांथ सुखायच ॥३१३॥

राजा नीति के साथ प्रजा का पालन करता रहे। राहगीरों
सुख के निमित्त राजा मार्ग की रक्षा अच्छी तरह करवाये ॥३१

पांथ प्रपीडकाये येहंतव्यास्ते प्रयत्नतः ।
त्रिभिरंशैर्बलं धार्यं दानमर्धांशकेनच ॥३१४॥
अर्धांशेन प्रकृत योह्यर्धांशेनाधिकारिणः ।
अर्धांशेनात्म भोगश्च कोशोंशेन स रक्ष्यते ॥३१५॥

जो दस्यु, पथिकों को पीड़ा देने वाले हैं, उन्हें राजा प्रय
पूर्वक नष्ट करदे। राजा अपनी आय के तिहाई भाग से सेना
संग्रह करे। उसका-आधा भाग दान में लगाया जावे

आधे भाग से प्रजा की रक्षा और आधे भाग में अधिकारी गणों की वृत्ति हो। अर्धांश से राजा अपना काम चलावे, तथा एक अंश सर्वदा कोश में पड़ा रहे ॥ ३१४-३१५ ॥

आयस्यैवं षड्विभागैर्व्ययं कुर्यात्तु वत्सरे।
सामंतादिषु धर्मोयंनन्यूनस्य कदाचन ॥३१६॥

इस प्रकार राजा प्रतिवर्ष आय का विभाग करके व्यय करे। सामन्त से छोटे जमीदारों पर यह नियम लागू नहीं है ॥ ३१६ ॥

राज्यस्य यशसः कीर्तेर्धनस्य च गुणस्यच।
प्राप्तस्य रक्षणे न्यस्य हरणे चोद्यमोपिच ॥३१७॥

राजा सर्वदा अपने राज्य, यश, कीर्ति, धन और गुण की वृद्धि करता रहे। जो धन प्राप्त हो गया उसे रक्षा के स्थान में रख कर फिर शत्रु के धन के अपहरण में प्रयत्न करता रहे ॥ ३१७ ॥

संरक्षणे संहरणेसु प्रयत्नो भवेत्सदा।
शौर्य पांडित्य वक्तृत्वं दातृत्वं नत्यजेत्क्वचित् ३१८॥

राजा को अपने धन की रक्षा और शत्रु के धन के अपहरण में सर्वदा प्रयत्नशील होना चाहिए। राजा कभी शूरता, पाण्डित्य, वक्तृता, दातृता आदि को कदापि न छोड़े ॥ ३१८ ॥

बलं पराक्रमं नित्यमुत्थानं चापि भूमिपः।
समितौ स्वात्मकार्येवा स्वामिकार्ये तथैवच ॥३१९॥

राजा बल, पराक्रम और उद्योग का भी त्याग न करे। ज
युद्ध आकर उपस्थित हो—राजा या सामन्त अपने या अपने स्वामी
के कार्य में प्राणों तक का उत्सर्ग—करदे ॥ ३१६ ॥

त्यक्त्वा प्राणभयं युध्येत्स शूरस्त्वविशंकितः ।
पक्षं संत्यज्य यत्नेन बालस्यापि सुभाषितम् ॥३२०

गृह्णाति धर्मतत्त्वंच व्यवस्यति सपंडितः ।
राज्ञोपि दुर्गुणान्वक्ति प्रत्यक्षमवि शंकितः ॥३२१

सवक्ता गुण तुल्यांस्तान्न प्रस्तौति कदाचन ।

जो प्राणों के भय का त्याग करके युद्ध में कूद पड़ता है, वह
निसन्देह शूरवीर है। जो मनुष्य, अपने दुराग्रह को छोड़कर
बालक के भी युक्ति-युक्त बचन को स्वीकार करता है, और धर्म
तत्व का विवेचन करता है—वही पण्डित समझना चाहिए। जो
निःशङ्क होकर राजा के भी दुर्गुण कहदे। तथा गुणों के स्तुति
करे—व्यर्थ प्रशंसा न करे—वही सच्चा वक्ता है ॥ ३२०-३२१ ॥

अदेयंयस्यनेवास्ति भार्या पुत्रादिकं धनम् ॥३२२

आत्मानमपि संदत्ते पात्रेदाता स उच्यते ।

जिस राजा को संकट के समय अपने पुत्र, स्त्री और धन
स्वाहा करने में आनाकानी न हो, और समय पर अपने आपको
भी बलिदान करदे, वही सच्चा दाता कहाता है ॥ ३२२ ॥

अशंकितत्त्वमोयेन कार्यंकतु बलं हि तत् ॥३२३॥
किंकराइवयेनान्ये नृपाद्याः स पराक्रमः ।
युद्धानुकूल व्यापार उत्थानमति कीर्तितम् ॥३२४॥

जो राजा जिसके आधार पर निःशङ्क होकर कार्य कर डाले-वही-बल कहाता है। अन्य राजा आदि अपने राजापन को खोकर जिससे दास बन जावे-वही पराक्रम माना गया है। युद्ध के अनुकूल व्यापार को उत्थान कहते हैं॥ ३२३-३२४ ॥

विष दोष भयादन्नं विमृश्य कपि कुक्कुटैः ।
हंसाः स्खलंति कूजंति भृंगा नृत्यंति मायुराः ॥
विरौति कुक्कुटो मत्तः क्रौंचो वैरेचते कपिः ।
हृष्ट रोमाभवेद्बभ्रुः सारिकावमते तथा ॥३२६॥
दृष्टैवंवं सविषं चान्नं तस्माद्भोज्यं परीक्षयेत् ।
भुंजीत षड् रसंनित्यं नद्विन्त्रिरस संकुलम् ॥३२७॥
हीनाति रिक्तांन कटु मधुर क्षार संकुलम् ।

राजा, विष दोष की शङ्का से अन्न की-वानर, कुक्कुट (मुर्गे) आदि से परीक्षा करवावे। विष मिश्रित के देखते ही हंस चकराने, भ्रमर शब्द करने लगते हैं और मयूर नाच उठते हैं। मुर्गा-बुरी तरह कूकलाता है। क्रौंच पक्षी उन्मत्त हो जाता है, वानर मल मूत्र छोड़ने लगता है। नोले के रोमांच खड़े हो-जाते हैं और मैना वमन करने लगती है। ऐसी दशा में राजा भोजन को छोड़

दे। राजा को षड्रस भोजन करना चाहिए दो या तीन रस से मिश्रित अन्न का भोजन राजा को शोभा नहीं देता। राजा कम या अधिक भोजन न करे और न चरपरा, मीठा, खट्टा मिलाकर खावे ॥ ३२५-३२७ ॥

आवेदयति यत्कार्यं शृणुयान्मन्त्रिभिः सह ॥३२८॥
आरामादौ प्रकृतिभिः स्त्रीभिश्च नटगायकैः।
विहरेत्सावधानस्तु मागधैरैन्द्र जालिकैः ॥३२९॥

जो कोई निवेदन करने-वाला आकर कुछ प्रार्थना करे, उसे मन्त्रियों के साथ राजा सुने। राजा अपने मन्त्री आदि प्रकृति, स्त्री, नट, गायक, मागध तथा इन्द्रजालिक (बाजीगरों) लोगों के साथ बगीचे आदि में बड़ी सावधानी से घूमे ॥ ३२८-३२९ ॥

गजाश्वरथ यानांतु प्रातः सायं सदाभ्यसेत्।
व्यूहाभ्यासं सैनिकानां स्वयं शिक्षेच्चशिक्षयेत् ॥

राजा को गज, अश्व और रथ की सवारी का नित्य अभ्यास करना चाहिए। इसी तरह सेना के दुर्ग की रचने की शिक्षा स्वयं ग्रहण करे और अपने योद्धाओं को करवावे ॥ ३३० ॥

व्याघ्रादि भिर्वनचरैर्मयूराद्यैश्च पक्षिभिः
क्रीडयेन्मृगयां कुर्याद्दुष्ट सत्त्वानि पातयन् ॥३३१॥

राजा, सिंह आदि वनचर और मयूर आदि पक्षियों के द्वारा अपने चित्त को बहलावे। राजा मृगया में दुष्ट सिंह आदि जन्तुओं का ही वध करे ॥ ३३१ ॥

शौर्यं प्रवर्धते नित्यं लक्ष्य संधान मेवच।

अकातरत्वं शस्त्रास्त्र शीघ्रपातन कारिता ॥३३२।

मृगयायां गुणाएते हिंसादोषो महत्तरः।

मृगया से शूरवीरता बढ़ती है, नित्य लक्ष्य बेंधन का अभ्यास सिद्ध हो जाता है। कायरता भाग जाती है, शस्त्र अस्त्र चलाने की फुर्ती भी राजा में बनी रहती है—यह सब कुछ मृगया (शिकार) के गुण हैं, परन्तु इसमें हिंसा का एक महान दोष है॥ ३३२॥

इंगितं चेष्टितं यत्नात्प्रजानामधिकारिणाम् ॥३३३॥

प्रकृतीनांच शत्रूणां सैनिकानांमतं च यत्।

सभ्यानां बांधवानां च स्त्रीणामंतः पुरेचयत् ॥३३४॥

शृणुयाद्गूढचारेभ्यो निशिचात्ययिके सदा।

सावधानमनाः सिद्धशस्त्रास्त्रः संल्लिखेच्चतत् ॥३३५॥

राजा, प्रजावर्ग और अधिकारी वर्ग के इङ्गित और चेष्टा का प्रयत्न पूर्वक बोध करता रहे। अमात्य आदि प्रकृति, शत्रु और सैनिक के मत को भी जाने। सभ्य पुरुष, बान्धवगण, स्त्री जन-तथा अन्तःपुर के वृत्तान्त को भी गुप्तचरों से रात में या रात की समाप्ति में सुने। शस्त्रास्त्र से सावधान होकर राजा उस वृत्तान्त को लिखता भी रहे तो बड़ी अच्छी बात हो॥ ३३३-३३५॥

असत्य वादिनं गूढचारं नैवच शास्ति यः ।
सनृपो म्लेच्छइत्युक्तः प्रजाप्राण धनापहः ॥३३६॥

जो असत्य बोलने वाले गुप्तचर को दण्ड नहीं देता– उस राजा को म्लेच्छ समझना चाहिए, क्योंकि इस चेष्टा से वह प्रजा के प्राण और धन का अपहरणकर्त्ता बन जाता है ॥३३६॥

वर्णीतपस्वी संन्यासी नीच सिद्ध स्वरूपिणम् ।
प्रत्यक्षेणाच्छलेनैव गूढचारं विशोधयेत् ॥३३७॥

ब्रह्मचारी, तपस्वी, सन्यासी कापालिक आदि नीच सिद्धक रूप के धारण करने वाले, गुप्तचर की प्रत्यक्ष या गुप्तरीति से राजा परीक्षा करता रहे ॥ ३३७ ॥

विनातच्छोधना तत्त्वं न जानातिच नाप्यते ।
अशोधक नृपान्नैव बिभ्यत्यनृत वादने ॥३३८॥

यदि राजा, गुप्तचरों पर दृष्टि–नहीं रखेगा तो उसे सच्चे वृत्तान्त का पता ही नहीं लगेगा। और न वह कुछ जान सकेगा। जो राजा उनकी पड़ताल नहीं करता–तो वे राजा के सन्मुख भी मिथ्या भाषण करने में नहीं हिचकते हैं ॥ ३३८ ॥

प्रकृति भ्योधिकृतेभ्यो गूढचारंसुरक्षयेत् ।
सदैकनायकं राज्यं कुर्यान्न बहुनायकम् ॥३३९॥
नानायकं क्वचिदपि कर्तुमीहेत भूमिपः ।
राजकुलेतु बहवः पुरुषायदि संतिहि ॥३४०॥

तेषु ज्येष्ठो भवेद्राजा शेषास्तत्कार्यसाधकाः ।
गरीयांसो वराः सर्व सहायेभ्योभि वृद्धये ।।३४१।।

अमात्य आदि प्रकृति और अधिकारि वर्ग के पीछे भी राजा गुप्तचर लगाये रहे। राजा अपने राज्य में एक ही नायक बनावे, वह कभी एक कार्य पर अनेक नायक न बना देवे। किसी भी कार्य को विना नायक [स्वामी] के राजा न छोड़े। यदि राजकुल में बहुत से पुरुष [पुत्र] होवें तो उनमें सबसे ज्येष्ठ, राजा बनाया जाता है, अन्य तो राजा के कार्य के ही साधक हैं। ये लोग अन्य सहायकों की अपेक्षा राजा की वृद्धि के निमित्त माने गए हैं ।। ३३९-३४१ ।।

ज्येष्ठोपि बधिरः कुष्ठी मूकोंधः षंढ एव यः ।
सराज्यार्होभवेन्नैव भ्राता तत्पुत्र एवहि ।।३४२।।

यदि ज्येष्ठ भ्राता, बहरा, कुष्ठी, गूंगा, अन्धा नपुंसक हो-तो वह राज्य सिंहासन के योग्य नहीं माना जा सकता। उसके स्थान पर तो उसका भ्राता या उसका पुत्र ही अधिकारी होता है ।।३४२।।

स्व कनिष्ठोपि ज्येष्ठस्य भ्रातुः पुत्रस्तु राज्य भाक् ।
दाया दानामैकमत्यं राज्ञः श्रेयस्करं परम् ।।३४३।।

जब बड़े भाई की यह दशा हो तो उसका छोटा भाई या उसका पुत्र-राज्य का अधिकारी माना गया है। राज्य के हिस्सेदारों का एक मत होना ही राज्य के हित के लिए परमश्रेयस्कर है ।। ३४३ ।।

पृथग्भावो विनाशाय राज्यस्यैव कुलस्यच ।

अतः स्वभोग सदृशान्दायादान्कारयेन्नृपः ॥३४४॥

यदि राजकुल में फूट पड़ जावे—तो राज्य और कुल का विनाश हो जावेगा। राजा को चाहिए कि वह अपने बान्धवों को उनका भाग प्रदान करदे ॥ ३४४ ॥

राज्य विभजनाच्छ्रेयोन भूपानांभवेत्खलु ।

अल्पीकृतं विभागेन राज्यं शत्रुर्जिघृक्षति ॥३४५॥

राज्य के पृथक् २ विभाग में बट जाने से राजा का कल्याण नहीं है। जब राज्य बट-जावेगा-तो छोटे २ भाग हो जाने से उस राज्य को शत्रु निगल जाना चाहते हैं ॥ ३४५ ॥

राज्यतुर्यांशदानेन स्थापयेत्तान्समंततः ।

चतुर्दिक्ष्वथवा देशाधिपान्कुर्यात्सदा नृपः ॥३४६॥

राज्य की आमदनी का चतुर्थांश देकर चारों ओर अपने बान्धवों को राजा नियुत करे। इस प्रकार चारों-दिशाओं में अधिकारी वर्ग राजा को लगा देना चाहिए ॥ ३४६ ॥

गो गजाश्वोष्ट्र कोशानामाधिपत्ये नियोजयेत् ।

माता मातृ समाया च सानियोज्या महासने ॥३४७॥

गो, गज, अश्व, उष्ट्र, और कोश के अधिकार के उच्च आसन पर माता या माता के समान उच्च पदवी वाली मौसी आदि के कुल का मनुष्य होवे ॥ ३४७ ॥

सेनाधिकारे संयोज्या बांधवाः श्यालकाः सदा ।
स्वदोष दर्शकाः कार्या गुरवः सुहृदश्चये ॥३४८॥

सेना के अधिकार पर बान्धव या पत्नी के कुल के साले आदि नियुक्त किए जावें । अपने दोषों के दिखाने में गुरु और सुहृदों को लगावे ॥ ३४८ ॥

वस्त्रालंकार पात्राणां स्त्रियो योज्याः सुदर्शने ।
स्वयं सर्वंतु विमृशेत्पर्यायेण च मुद्रयेत् ॥३४९॥

वस्त्र, भूषण, पात्र, आदि के देखने में स्त्रियों को नियुक्त किया जावे । इन पर भी अपनी देखभाल रखे-और इनके कामों पर अपनी मुहर लगावे ॥ ३४९ ॥

अन्तर्वेश्मनिरात्रौ वादिवारण्ये विशोधिते ।
मन्त्र येन्मंत्रिभिः सार्धं माविकृत्यंतु निर्जने ॥३५०॥

घर के भीतर, रात में और संशोधित वन में दिन में ही कर्तव्य का राजा मन्त्रियों के साथ निर्णय और भाविकृत्य का विचार निश्चित करे ॥ ३५० ॥

सुहृद्भि र्भ्रातृभिः सार्धं सभायां पुत्र बांधवैः ।
राजकृत्यं सेनपैश्च सभ्याद्यैश्चिंतयेत्सदा ॥३५१॥

राज्य कृत्य को राजा, मित्र, भ्राता, पुत्र और बान्धवों के साथ सभा में विचारे । इनके साथ सेनापति सभासद आदि भी होने चाहिए ॥ ३५१ ॥

सभायां प्रत्यगर्धस्यमध्ये राजासनं स्मृतम् ।
दक्षसंस्थावामसंस्था विशेयुः पार्श्व कोष्ठगाः ॥३५२॥

सभा के पश्चिम दिशा के मध्य भाग में राजा का सिंहासन लगना चाहिए। इसी तरह इधर उधर के कोष्ठों में दांयी और बांयीं ओर सामन्त बैठें ॥ ३५२ ॥

पुत्राः पौत्राभ्रातरश्च भागिनेयाः स्वपृष्ठतः ।
दौहित्रा दक्षभागात्तु वामसंस्थाः क्रमादिमे ॥३५३॥
पितृव्याः स्वकुल श्रेष्ठाः सभ्याः सेनाधिपास्तथा ।
स्वाग्रेदक्षिणभागे तु प्राक्संस्थाः पृथगासनाः ॥३५४॥

राजा के पृष्ठ भाग में पुत्र, पौत्र, भ्राता और भानजे आदि बैठें। दौहित्र आदि दांयी ओर तथा चाचा, ताऊ अपने कुल के उत्तम पुरुष, सभासद, सेनापति राजा के आगे बैठने चाहिए। अथवा दक्षिण भाग में सब से आगे बैठे ॥ ३५३-३५४ ॥

मातामहकुलश्रेष्ठा मन्त्रिणो बांधवास्तथा ।
श्वशुराश्चैव श्यालाश्च वामाग्रे चाधिकारिणः ॥३५५॥

मातामह के कुल के उत्तम व्यक्ति, मन्त्री, बन्धु बान्धव, श्वसुर, श्यालक [साले] ये बाम भाग में आगे बैठें ॥ ३५५ ॥

वाम दक्षिण पार्श्वस्थोजा माता भगिनी पतिः ।
स्वसदृशः समीपे वा स्वार्धासनगतः सुहृत् ॥३५६॥

बायें ओर दक्षिण पार्श्व के भाग में आगे की ओर जामाता या बहनोई होवें। जो अपने समान राजा हो या सुहृद हों उनको राजा अपने सिंहासन पर ही बैठावे ॥ ३५६ ॥

दौहित्र भागिनेयानां स्थानेस्यु र्दत्तकादयः।
भागिनेयाश्च दौहित्राः पुत्रादि स्थान संश्रिताः ॥३५७

दौहित्र और भानजे-आदि के पास ही यदि कोई उसी सम्बन्ध के दत्तक हों तो वहाँ बैठने योग्य हैं। भागिनेय, दौहित्र आदि भी पुत्र के स्थान पर बैठ सकते हैं ॥ ३५७ ॥

यथा पिता तथाचार्यः समश्रेष्ठासने स्थितः।
पार्श्वयोरग्रतः सर्वे लेखका मंत्रिपृष्ठगाः ॥३५८॥

जो पिता का स्थान है, वही गुरु का गौरव है। वह राजा के सन्मुख उत्तम आसन पर बैठे। अगले पार्श्वों में मन्त्रियों के पीछे सारे लेखक बैठे ॥ ३५८ ॥

परिचारगणाः सर्वे सर्वेभ्यः पृष्ठ संस्थिताः।
स्वर्ण दंड धरौ पार्श्वे प्रवेशनति बोधकौ ॥३५९॥

सारे अन्य सेवक, सब लोगों के पीछे के आसनों पर स्थित होवें। सुवर्ण के दण्ड धारण करने वाले, दो कर्मचारी राजा की बगल में खड़े रहें, जो किसी के दरबार में प्रविष्ट होने और प्रणाम करने की सूचना देते रहें ॥ ३५९ ॥

विशिष्ट चिह्नयुग्राजास्वासने प्रविशेत्सुखम् ।
सुभूषणः सुकवचः सुवस्त्रो मुकुटान्वितः ॥३६०॥
सिद्धास्त्रो नग्न शस्त्रस्सन्सावधान मनाः सदा ।

राजा भी राजोचित छत्र आदि विशेष चिन्ह धारण करके अपने सिंहासन पर सुख से बैठे । राजा को अच्छे २ आभूषण, कवच, वस्त्र और मुकुट से युक्त होना चाहिए । राजा को अस्त्र चलाने में बड़ा कौशल होना चाहिए । वह नंगा खड्ग धारण करके सावधान होकर बैठे ॥ ३६० ॥

सर्वस्मादधिकोदाता शूरस्त्वं धार्मिकोह्यसि ॥३६१॥
इतिवाचंन शृणुयाच्छ्रावकावंचकास्तुये ।

जो लोग, राजा को ऐसी मीठी बातें-सुनावे, कि तुम सबसे अधिक दाता, शूरवीर और धार्मिक हो । राजा-इन लोगों की वाणी पर ध्यान न दे । ये कर्ण मधुर वाणी बोलने वाले वास्तव में ठग होते हैं ॥ ३६१ ॥

रागाल्लोभाद्भयाद्राज्ञः स्युर्मूकाइव मन्त्रिणः ॥३६२॥
नताननुमतान्विद्यान्नृपतिः स्वार्थ सिद्धये ।

किसी राग, लोभ या भय से राजा के मन्त्री मूक हो जावें और राजा को उचित मार्ग न सुझावें राजा, उनको अपने विश्वासी न समझे । इनसे किसी भी कार्य की सिद्धि होना सम्भव नहीं है ॥ ३६२ ॥

पृथकपृथङ् मतं तेषां लेखयित्वा ससाधनम् ॥३६३॥
विमृशेत्स्वमतेनैव यत्कुर्याद्बहुसम्मतम् ।

राजा, अपने मन्त्रियों के मत को साधक बाधक प्रमाण सहित पृथक् २ लिखवावे । फिर उसको अपनी बुद्धि से विचारे । इसमें जिस पक्ष में अधिक सम्मति हो—राजा उसीको व्यवहार में लावे ॥ ३६३ ॥

गजाश्व रथ पश्वादीन्मृत्यान्दासांस्तथैवच ॥३६४॥
संभारान्सैनिकान्कार्या क्षमान्ज्ञात्वादिनेदिने ।

हाथी, घोड़े, रथ, पशु, भृत्य, दास, युद्ध सामग्री, कार्य योग्य योद्धाओं का प्रति दिन प्रयत्न पूर्वक ध्यान रखे तथा जो पुराने पड़ गए हों—उनको हटा दो ॥ ३६४॥

संरक्षयेत्प्रयत्नेन सुजीर्णान्संत्यजेत्सुधीः ॥३६५॥
अयुत क्रोशजांवार्ताहरेदेकदिनेनवै ।
सर्व विद्या कलाभ्यासे शिक्षयेद्भृति पोषितान् ॥

राजा, अपने गुप्तचरों से दशहज़ार कोश तक की बात का भी एक दिन में ही पता लगाले । इसी तरह अपने वेतन से पलने वाले सेवकों को सम्पूर्ण—क्रियाओं की कला के अभ्यास में निपुण बना दे ॥ ३६५-३६६॥

समाप्त विद्यं संदृष्ट्वा तत्कार्येतं नियोजयेत् ।
विद्या कलोत्तमान्दृष्ट्वा वत्सरेपूजयेच्चतान् ॥३६७॥

जब किसी भृत्य की पढ़ाई समाप्त हो जावे, तो इसकी अच्छी तरह परीक्षा लेकर उसको उसके योग्य काम पर लगावे जिनकी विद्याभ्यास की कला सर्व श्रेष्ठ हो–उनको प्रतिवर्ष कुछ न कुछ पुरस्कार देते रहना उचित है॥ ३६७ ॥

विद्या कलानां वृद्धिः स्यात्तथा कुर्यान्नृपः सदा ।
पष्ठाग्रगान्क्रूरवेषान्नति नीति विशारदान् ॥३६८॥
सिद्धास्त्र नग्नशस्त्रांश्च भटानाराम्नियोजयेत् ।
पुरेपर्यटयेन्नित्यं गजस्थोरंजयन्प्रजाः ॥३६९॥

राजा सर्वदा ऐसा प्रयत्न करे, जिससे विद्या और कला की उन्नति होती रहे अपने को झुकने वाले, नीति विशारद, अग्रगामी क्रूरवेष धारी अस्त्र चलाने में कुशल, वीरों को राजा अपने पास रखे। राजा हाथी पर बैठ कर प्रजा रञ्जन के निमित्त पुर में चक्कर लगावे ॥ ३६८-३६९ ॥

राजयानारूढितः किंराज्ञा श्वान समोपिच ।
शुनासमोन किंराजा कविभिर्भाव्य तेंजसा ॥३७०॥

यदि गजयान पर किसी श्वान के समान आचरण वाले व्यक्ति को राजा चढ़ाले, तो क्या बुद्धिमान् लोग, तत्काल उसी राजा को श्वान के तुल्य मूर्ख नहीं समझलेंगे॥ ३७० ॥

अतः स्वबांधवै र्मित्रैः स्वसाम्य प्रापितैर्गुणैः ।
प्रकृती भिर्नृपोगच्छेन्नानीचैस्तु कदाचन ॥३७१॥

इस बात को विचार कर राजा, अपने तुल्य गुण वाले, अपने बान्धव, मित्र या अमात्य आदि के साथ गज पर चढ़ कर चले किन्तु कभी नीच पुरुष को साथ गज पर चढ़ा कर न चले ॥ ३७१ ॥

मिथ्या सत्य सदाचारैं नींचः साधुः क्रमात्स्मृतः ।
साधुभ्योति स्वमृदुत्वं नीचाः संदर्शयन्तिहि ॥३७२॥

मिथ्या आचरण से नीच और सत्य सदाचार से साधु पुरुष होता है। नीच और उत्तम पुरुष की राजा ठीक २ जांच करे, क्योंकि नीच पुरुष भी अपने को बहुत नम्र दिखाकर साधुओं से भी अधिक महात्मा दिखा देते हैं ॥ ३७२ ॥

ग्रामान्पुराणि देशांश्च स्वयंसंवीच्य वत्सरे ।
अधिकारिगणैः काश्चरंजिताः काश्चकर्षिताः ॥३७३॥
प्रजास्तासांतु भूतेन व्यवहारं विचिंतयेत् ।
नभृत्य पक्षपातीस्यात्प्रजापक्षं समाश्रयेत् ॥३७४॥

राजा प्रतिवर्ष, ग्राम्य, पुर और देश की देख रेख करे कि अधिकारी गण किन २ बातों में प्रजा को प्रसन्न कर रहे हैं— क्या २ कौन २ कष्ट हो रहा है उनकी भूतकाल की रीति के अनुसार राजा प्रजा के व्यवहारों (मुकद्दमों) का विचार करे। राजा कभी अपने भृत्यों का पक्षपाती न होवे। उसे तो प्रजा का ही पक्ष लेना चाहिए ॥ ३७४ ॥

प्रजाशतेन संद्विष्टं संत्यजेदधिकारिणम् ।
अमात्यमपि संवीक्ष्य सकृदन्यायगामिनम् ॥३७५॥
एकांते दंडयेत्स्पष्टमभ्यासागस्कृतंत्यजेत् ।
अन्यायवर्तिनांराज्यं सर्वस्वं च हरेन्नृपः ॥३७६॥

यदि प्रजा के सौ मनुष्य किसी अधिकारी के विरुद्ध मिलक आवे—तो राजा उस अधिकारी को अपने पद से हटा दे। यदि मन्त्री भी अन्याय परायण हो—तो उसको भी तत्काल निका दे। यदि मन्त्री का कोई प्रथमवार ही अपराध हुआ—हो उसको एकान्त में चुपचाप दण्ड देदेवे, परन्तु यदि वह प्रजा पीड़न के अपराध का अभ्यासी हो गया हो—उसे निकाल देवे जो पड़ोसी राजा भी अन्याय कर रहे हों—तो उनका भी रा तथा सर्वस्व बलवान् राजा छीन लेवे ॥ ३७५-३७६ ॥

जितानां विषयेस्थाप्यं धर्माधिकरणं सदा ।
भृतिं दद्यान्निर्जितानां तच्चारित्र्यानुरूपतः ॥३७७॥

जिन राजाओं के देश पर अधिकार किया है, उसमें ध व्यवस्था की स्थापना करे। तथा उन जीते हुए राजाओं को उनके चरित्र के अनुसार कुछ वृत्ति नियत करदे ॥ ३७७ ॥

स्वानुरक्तां सुरूपांच सुवस्त्रां प्रियवादिनीम् ।
सुभूषणां सुसंशुद्धां प्रमदांशयने भजेत् ॥३७८॥

राजा अपने से प्रेम करने वाली, सुन्दर, उत्तम-वस्त्र धार करने वाली, प्रिय वादिनी, अलङ्कारों से संयुक्त, शुद्धाचार सम्पन

स्त्रियों को अपनी भार्या बनाकार शयन पर चढ़ने का अधिकार दे ॥ ३७८ ॥

यामद्वयं शयानोहि त्वत्यंतं सुखमश्नुते ।
नसंत्यजेच्च स्वस्थानं नीत्या शत्रु गणं जयेत् ॥३७६॥

जो राजा दो प्रहर (छः घण्टे) सोता है, वह सुखी-रहता है । जहाँ तक हो—राजा—अपना स्थान छोड़ कर न जावे, प्रत्युत नीति के द्वारा ही शत्रुओं को विजय करता रहे ॥ ३७६ ॥

स्थान भ्रष्टानो विभांति दंताः केशा नखा नृपाः ।
संश्रयेद्गिरिदुर्गाणि महापदिनृपः सदा ॥३८०॥

स्थान से भ्रष्ट हुए दाँत, नख, केशादि शोभा को प्राप्त नहीं होते-हैं । जब राजा पर कभी संकट उपस्थित हो-तो वह किसी पर्वत दुर्ग का आश्रय ग्रहण करे ॥ ३८० ॥

तदा श्रयाद्दस्यु वृत्त्यास्व राज्यं तु समाहरेत्
विवाह दान यज्ञार्थं विनाप्यष्टां शशोषितम् ॥३८१॥

उस पर्वत दुर्ग में स्थित होकर राजा, चोर के ढंग पर अपने राज्य के वापिस लेने की चेष्टा करे । विवाह, यज्ञ, और दान के लिए अष्टम भाग न छोड़ कर भी राजा अपना कर ग्रहण कर ले ॥ ३८१ ॥

सर्वं तस्तुहरेद्दस्यु रसतामखिलंधनम् ।
नैकत्रसंवसेन्नित्यं विश्वसेन्नैवकं प्रति ॥३८२॥

इस विपत्ति के समय चोर बना हुआ राजा, दुष्टों के धन का अपहरण करें और किसी एक स्थान पर न रहे तथा किसी का विश्वास भी न करे ॥ ३८२ ॥

सदैव सावधानः स्यात्प्राणनाशं न चिंतयेत् ।
क्रूर कर्मा सदोद्युक्तो निर्घृणोदस्यु कर्मसु ॥३८३॥

इस दशा में राजा को बड़ा सावधान रहना चाहिए। उसको अपने प्राणों के नष्ट होने की भी चिन्ता न होनी चाहिए। राजा सदा उद्योग परायण रहकर दस्यु कर्म करने में बिलकुल दया न करे ॥ ३८३ ॥

विमुखः परदारेषु कुल कन्या प्रदूषणे ।
पुत्र वत्पालिताभृत्याः समयेशत्रुतां गताः ॥३८४॥

राजा को पर स्त्री और कुलीन कन्याओं के दूषित करने से दूर रहना चाहिए अर्थात् उसे कभी व्यभिचार में नहीं लगना चाहिए। पुत्र के समान पाले हुए भृत्य भी इस व्यवहार से शत्रु बन-जाते हैं ॥ ३८४ ॥

न दोषः स्यात्प्रयत्नस्य भागधेयं स्वयंहि तत् ।
दृष्ट्वासु विफलं कर्म तपस्तप्त्वादिवं व्रजेत् ॥८३५॥

जब राजा, पूर्ण उद्योग करले, और फिर भी वह असफल हो—तो इसमें उसका क्या दोष है, यह तो भाग्य का ही अपराध है। इस समय राजा अपने कर्म को विफल देखकर वह तप करके अन्त में स्वर्ग जाने की चेष्टा करे ॥ ३८५ ॥

उक्तं समासतो राजा कृत्यंमिश्रेऽधिकं ब्रुवे ।
अध्यायः प्रथमः प्रोक्तोराजकार्य निरूपकः ॥

इति प्रथमोऽध्यायः पूर्तिमगात ॥१॥

यहाँ तक राजकार्य के विषय में संक्षेप से कहा गया। अब आगे कुछ बिस्तार से साथ कहा जावेगा। राजकार्य निरूपण करने का यहाँ तक प्रथम अध्याय समाप्त हो गया ॥ ३८२ ॥

इति श्रीशुक्रनीति अन्तर्गत राजकार्य निरूपण नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥

द्वितीय अध्याय
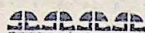
यद्यप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
पुरुषेणासहायेन किमुराज्यं महोदयम् ॥१॥

यद्यपि कोई कार्य बहुत छोटा है, तथापि वह अकेले आदमी से नहीं किया जा सकता है। जब छोटे से कार्य को भी अकेला मनुष्य नहीं कर सकता—तो फिर विशाल राज्य को असहाय पुरुष कैसे चला सकता है॥ १ ॥

सर्वविद्यासु कुशलो नृपोह्यपि सुमंत्रवित् ।
मंत्रिभिस्तु विनामंत्रंनैकोर्थंचिंतयेत्कचित् ॥२॥

यद्यपि राजा सारी विद्या में कुशल हो और मन्त्र करना जानता हो, तो भी मन्त्रियों के विना उसको अकेले कभी मन्त्र को नहीं विचारना—चाहिए ॥ २ ॥

सभ्याधिकारि प्रकृति, सभासत्सु मतेस्थितः ।
सर्वदास्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमतेन कदाचन ॥३॥

जो बुद्धिमान राजा हो, उसे सर्वदा अपने सभासद, अधिकारी, अमात्यादि—प्रकृति, और प्रजा के सभ्य लोगों की सम्मति से कार्य करना चाहिए। राजा कभी अपनी मत के पीछे न चले॥ ३ ॥

प्रभुः स्वातंत्र्य मापन्नो ह्यनर्थायैवकल्पते ।
भिन्न राष्ट्रो भवेत्सद्यो भिन्न प्रकृतिरेवच ॥४॥

जो राजा शक्तिशाली हो और स्वेच्छाचारी हो जावे, तो उस पर विपत्ति अवश्य आवेगी। वह तो—अपने संकट के लिए आप ही होता है। उसके राष्ट्र (प्रजा) और अमात्य आदि प्रकृति में बहुत अधिक फूट पड़ जाती है॥ ४ ॥

पुरुषे पुरुषेभिन्नं दृश्यते बुद्धिवैभवम् ।
आप्त वाक्यैरनुभवैरागमैरनुमानतः ॥५॥

प्रत्यक्षेण च सादृश्यैः साहसैश्च छलैर्बलैः ।
वैचित्र्यं व्यवहाराणामौन्नत्यं गुरु लाघवैः ॥६॥

न हितत्सकलं ज्ञातुं नरेणैकेनशक्यते ।
अतः सहायान्वरयेद्राजा राज्य विवृद्धये ॥७॥

भिन्न २ मनुष्यों में भिन्न २ प्रकार का बुद्धि वैभव देखा गया है। राजा प्रजा के व्यवहारों (मुकद्दमों) को आप्त पुरुषों के वाक्य, अपने अनुभव, शास्त्र प्रमाण, अनुमान, प्रत्यक्ष, सादृश्य प्रमाण, साहस, छल और बल से उनका गुरु लाघव देखे। अकेला मनुष्य सब कुछ जान लेने में असमर्थ है, इसलिए राजा-विद्वान् और बुद्धिमान् पुरुषों की प्रजा के पालन में अवश्य—सहायता लेवे॥ ५-७ ॥

कुल गुण शील वृद्धाञ्छूरान्भक्तान्प्रियं वदान् ।
हितोपदेशकान्क्लेशसहान्धर्म रतान्सदा ॥८॥
कुमार्गगं नृपमपिबुद्ध्योद्धर्तुंक्षमाञ्छुचीन् ।
निर्मत्सरान्काम क्रोध लोभ हीनान्निरालसान् ॥९॥

ये सहायक, कुल, गुण और शील-स्वभाव में बढ़े चढ़े होने चाहिए। उनको राजा का भक्त और प्रियवादी होना आवश्यक है। ये हित के उपदेशक, क्लेश सहन में तत्पर और धर्मात्मा होने उचित हैं। ये इतने पवित्र और बुद्धिमान् हों—कि कुमार्ग-गामी राजा का भी अपनी बुद्धि के द्वारा कुमार्ग से उद्धार करदें। इनको कोई रागद्वेष, काम क्रोध, लोभ और आलस्य न होना चाहिए ॥ ८-९ ॥

हीयतेकुसहायेन स्वधर्माद्राज्यतो नृपः
कुकर्मणा प्रणष्टास्तुदितिजाः कुसहायतः ॥१०॥

यदि राजा का सहायक नीच पुरुष होगा—तो वह राजा को धर्म और राज्य से च्युत करा देगा। दैत्य लोग, अपने कुकर्म और कुसहाय के कारण ही नष्ट हुए हैं ॥ १० ॥

नष्टा दुर्योधनाद्यास्तु नृपाःशूराबलाधिकाः ।
निरभिमानो नृपतिः सुसहायो भवेदतः ॥११॥

दुर्योधन आदि राजा, बड़े बुद्धिमान् बलवान् और शूरवीर थे, परन्तु वे भी शकुनि जैसे सहायकों के कारण ही नष्ट हो गए।

इस बात को विचार कर राजा, निरभिमानी और अच्छे सहायकों से-सर्वांश सम्पन्न होने की चेष्टा करे ॥ ११ ॥

युवराजोमात्य गणो भुजावेतौ महीभुजः ।
तावेवनयनेकर्णौदक्ष सव्यौक्रमात्स्मृतौ ॥१२॥
बाहुकर्णाद्विहीनः स्याद्विनाताभ्यामतोनृपः ।
योजयेच्चिंतयित्वातौ महानाशाय चान्यथा ॥१३॥

युवराज, और अमात्य गण राजा के दांये बांये-नेत्र और कर्ण माने गए हैं, इससे राजा, बड़े, योग्य व्यक्ति को युवराज और अमात्य बनावे, इनके बिना राजा बाहु, कर्ण और आँखों से रहित माना जाता है। यदि इनको विचार के साथ नियुक्त नहीं किया गया तो-बड़े अनर्थ हो जाने की सम्भावना हो सकती है। १२-१३

मुद्रां विनाखिलं राजकृत्यं कर्तुंक्षमंसदा ।
कल्पयेद्युवराजार्थं मौरसं धर्मपत्निजम् ॥१४॥

युवराज, राजा की मुहर के विना भी सारे राज्य कृत्य करने का अधिकारी होता है, इससे राजा अपनी—धर्मपत्नी से उत्पन्न और पुत्र को राज्य का अधिकारी युवराज-बनावे ॥ १४ ॥

स्वकनिष्ठं पितृव्यं वानुजं वाग्रजसंभवम् ।
पुत्रं पुत्रीकृतं दत्तं यौवराज्ये भिषेचयेत् ॥१५॥

अपने कनिष्ठ चाचा, छोटे भ्राता, बड़े भ्राता के पुत्र, स्वपुत्र, दत्तक पुत्र, या कृत्रिम पुत्र को युवराज पद पर राजा नियुक्त करे ॥ १५ ॥

क्रमाद् भावे दौहित्रं स्वस्रीयं वा नियोजयेत् ।

स्वहितायापि मनसा नैतान्सं कर्षयेत्क्वचित् ॥१६॥

जब ये उपर्युक्त व्यक्ति न हों—तो अपने पुत्री के पुत्र दौहित्र या बहन के पुत्र भानजे को युवराज—बनाया जावे। अपने सुख के लिए भी फिर कभी इनको तंग न करे ॥ १६ ॥

स्वधर्म निरताञ्छूरान्भक्तान्नीतिमतः सदा।

सरंक्षयेद्राजपुत्रान्बालानपि सुयत्नतः ॥१७॥

लोलुभ्यमानास्तेर्थेषु हन्युरेनमरक्षिताः ।

रक्ष्यमाणायदिच्छिद्रं कथंचित्प्राप्नुवंतिते ॥१॥

सिंहाशावाइवघ्नंति रक्षितारं द्विपंद्रुतम् ।

राजपुत्रामदोद्धूता गजा इव निरंकुशाः ॥१६॥

अपने धर्म में तत्पर, शूरवीर, भक्त, नीतिमान्, सिंहबालक भी राजपुत्र हों तो भी उनको यत्न के साथ रक्षा रखनी चाहिए। यदि इन अरक्षितों को राज्य का लालच छा गया—तो ये सीधी तरह से राजा को मार सकते हैं। यदि इनकी देख भाल भी रखी गई और ये फिर भी बिगड़ गए—तो हाथी को सिंह के बच्चे की भाँति अपने-रक्षक राजा को शीघ्र मार गिराते हैं। राजपुत्र

मदोद्धूत हाथी की भांति सर्वदा निरंकुश (उच्छृङ्खल) होते हैं ॥ १८-१६ ॥

पितरंचापिनिघ्नंति भ्रातरंत्वितरंनकिम् ।
मूर्खोबालोपीच्छतिस्म स्वाम्यं किंनु पुनर्युवा ॥२०॥

ये अपने पिता और भ्राता को भी मार देते हैं, फिर अन्य मनुष्य की तो क्या चलाई है। अपरिपक्व बुद्धि वाला बालक भी राजा बनना चाहता है, फिर युवाराजपुत्र की तो राजा बनने की चाह कितनी उत्कट होती है—इसका कहना ही क्या है ॥ २० ॥

स्वात्यंतसन्निकर्षेण राजपुत्रांस्तु रक्षयेत् ।
सद्भृत्यैश्चापितत्स्वांतं छलैर्ज्ञात्वासदास्वयम् ॥२१॥

राजा अपने समीप में ही सर्वदा राजपुत्रों की देख रेख रखे। इस तरह छल के साथ अच्छे २ योग्य भृत्यों से भी राजा स्वयं राजपुत्रों के मन की बात जानता रहे ॥ २१ ॥

सुनीतिशास्त्रकुशलान्धनुर्वेद विशारदान् ।
क्लेशसहांश्चवाग्दंड पारुष्यानुभवान्सदा ॥२२॥
शौर्ययुद्धरतान्सर्वकलाविद्याविदोंजसा ।
सुविनीतान्प्रकुर्वीतह्यमात्याद्यैर्नृपः सुतान् ॥२३॥

राजा मन्त्रियों आदि के द्वारा अपने पुत्रों को नीतिशास्त्र कुशल, धनुर्वेद विशारद, क्लेश सहने में समर्थ, वाग्दण्ड से नहीं भड़कने वाले, शूरवीरता के साथ युद्ध के उत्साही, सारी कलाओं के ज्ञाता, और सुशिक्षित शीघ्र बनवा लेवे ॥ २२-२३ ॥

सुवस्त्राद्यैर्भूषयित्वा लालयित्वा सुक्रीडनैः ।
अर्हयित्वा सनाद्यैश्च पालयित्वा सुभोजनैः ॥२४॥
कृत्वातुयौवराज्यार्हान्यौवराज्येभिषेचयेत् ।
अविनीतकुमारंहि कुलमाशुविनश्यति ॥२५॥

राजा, सुन्दर वस्त्रों से भूषित करके, अच्छे २ खिलोनों से खिलाके, ऊँचे २ आसनों से प्रसन्न करके, पौष्टिक स्वादिष्ठ भोजनों से तृप्त बनाकर, युवराज होने के योग्य व्यक्ति को झटपट युवराज पद पर अभिषिक्त करदे। यदि—युवराज को शिक्षा न दी गई तो राजकुल शीघ्र ही नष्ट हो जावेगा ॥ २४-२५ ॥

राजपुत्रः सुदुर्वृत्तः परित्यागंहि नार्हति ।
क्लिश्यमानः सपितरं परानाश्रित्य हंतिहि ॥२६॥

यदि राजपुत्र दुराचारी भी है, तो भी उसको राज्य से बाहर नहीं निकालना चाहिए। यदि देश निकाले से यह क्लेशित होकर शत्रु से जा मिला—तो शीघ्र ही शत्रु के आश्रय से यह पिता के नाश में समर्थ हो सकता है ॥ २६ ॥

व्यसनेसज्जमानं तं क्लेशयेद्व्यसनाश्रयैः ।
दुष्टं गजमिवोद्वृत्तं कुर्वीतसुखबन्धनम् ॥२७॥

यदि कोई राजपुत्र व्यसन (बुरे आचरण) में फँस गया तो उसको व्यसन के साथियों से ही दबवा देवे या उन्मत्त हुए पागल हाथी की तरह उसको इनके द्वारा सुख से बन्धन में डाल देवे ॥ २७ ॥

सुदुर्वृत्तास्तुदायादा हंतव्यास्ते प्रयत्नतः ।
व्याघ्रादिभिः शत्रुभिर्वाछलराष्ट्र विवृद्धये ॥२८॥

जो राजा के बान्धव, बहुत ही बिगड़ गए हों—उनको प्रयत्न के साथ व्याघ्र, आदि वनैले जन्तु, शत्रु, या अन्य किसी छल से मरवा देवे, इसीसे राज्य की वृद्धि समझनी चाहिए ॥ २८ ॥

अतोन्यथा विनाशाय प्रजाया भूपतेश्चते ।
तोषयेयुर्नृपं नित्यं दायादाः स्वगुणैः परैः ॥२९॥
भ्रष्टाभवंत्यन्यथातेस्वभागाज्जीवितादपि ।
स्वसापिंड्यविहीनायेह्यन्योत्पन्नानराः खलु ॥३०॥
मनसापिनमंतव्याद्दत्ताद्याः स्वसुताइति ।
तद्दत्तकत्वमिच्छंति दृष्ट्वायंधनिकं नरम् ॥३१॥

यदि इनका नियन्त्रण नहीं किया गया तो ये प्रजा तथा राजा के विनाश के कारण बन जाते हैं। राजा के बन्धु बान्धव भी अपने २ उत्तम गुणों से राजा को सर्वदा प्रसन्न करते रहें, यदि वे ऐसा नहीं करेंगे—तो वे अपने भाग से हीन होकर जीवन से भी कभी हीन हो सकते हैं। जो अपने सापिण्डय (कुल) से दूर हैं, उनको राजा कभी भी अपना न माने और न उनके पुत्र को दत्तक पुत्र के रूप में स्वीकार करे। लोग धनिक मनुष्य को देख कर उसके दत्तक पुत्र बनने की बहुत इच्छा करते हैं ॥ २९-३१ ॥

स्वकुलोत्पन्न कन्यायाः पुत्रस्तेभ्योत्ररोह्यतः ।
अंगादंगात्संभवति पुत्रवद्दुहितानृणाम् ॥३२॥

अपने कुल से अन्य के पुत्र की अपेक्षा तो अपने कुल की कन्या का पुत्र श्रेष्ठ है, क्योंकि पुत्री भी तो अपने अङ्ग से ही उत्पन्न होती है, इसका स्थान तो पुत्र के ही बराबर है। इससे उसका पुत्र अपना समीपी ही मानना चाहिए॥ ३२॥

पिंडदाने विशेषोन पुत्रदौहित्रयोस्त्वतः ।
भूप्रजापालनार्थं हि भूपोदत्तं तु पालयेत् ॥३३॥

मरने पर पुत्र और दौहित्र (पुत्री का पुत्र) में शास्त्र ने कोई भेद नहीं माना है। पृथिवी और प्रजा के पालन के कारण से राजा दत्तक पुत्र की भी अवश्य पालना करे॥ ३३॥

नृपः प्रजापालनार्थं सधनश्चेन्नचान्यथा ।
परोत्पन्नेस्व पुत्रत्वं मत्वा सर्वंददातितम् ॥३४॥

राजा और धनी प्रजा के पालन के लिए होने चाहिए। यदि वे–प्रजा पालन नहीं करते—तो उन को राजा और धनी होने का कोई अधिकार नहीं है। फिर अन्य से उत्पन्न पुत्र को अपना इन्हें उसे सब कुछ दे देना पड़ता है॥ ३४॥

किमाश्चर्य मतोलोकेन ददातियजत्यपि ।
प्राप्यापि युवराजत्वं प्राप्नुयाद्विकृतिंनच ॥३५॥

इससे अधिक संसार में अन्य क्या आश्चर्य होगा, कि धनी पुरुष, न तो दान देते हैं और न यज्ञ ही करते हैं और व्यर्थ अन्योत्पन्न पुत्र को दत्तक बना कर सब कुछ दे डालते हैं। राजपुत्र को चाहिए कि वह युवराज बनकर कभी राजा से बिगाड़ न करे ॥ ३५ ॥

स्वसंपत्तिमदान्नैव मातरं पितरं गुरुम् ।
भ्रातरं भगिनींवापि ह्यन्यान्वराजवल्लभान् ॥३६॥
महाजनांस्तथा राष्ट्रेनावमन्येन्नपीडयेत् ।
प्राप्यापिमहतींवृद्धिं वर्तेत पितुराज्ञया ॥३७॥

युवराज, अपनी सम्पत्ति के मद से माता, पिता, आचार्य, भ्राता, भगिनी, अन्य राजा के सुहृद, तथा राष्ट्र के मान्य सज्जनों का कभी अपमान न करे और न उन्हें कुछ पीड़ा पहुँचावे। यद्यपि युवराज होने से उसे बहुत कुछ ऐश्वर्य प्राप्त होगया है—तो भी वह—अपने पिता वृद्ध राजा की आज्ञा में स्थित रहे ॥३६-३७॥

पुत्रस्यपितुराज्ञापिपरमं भूषणं स्मृतम् ।
भार्गवेण हतामाता राघवस्तुवनंगतः ॥३८॥

पुत्र का तो पिता की आज्ञा में रहना बड़ा ही श्रेयस्कर है। यह तो उसका भूषण है। पिता की आज्ञा से भृगवंशोत्पन्न परशुराम ने माता मार डाली और रामचन्द्र जी पिता की आज्ञा से बन को चले गये ॥ ३८ ॥

पितुस्तपोबलात्तौतु मातरं राज्यमापतुः ।
शापानुग्रहयोः शक्तोयस्तस्याज्ञा गरीयसी ॥३९॥

पिता की आज्ञा पालन रूप तप के कारण ही उन्होंने फिर अपनी माता और राज्य को प्राप्त किया । जो कृपा और दण्ड देने में समर्थ है, उसकी आज्ञा पालन करना तो बहुत ही आवश्यक वस्तु है ॥ ३९ ॥

सोदरेषु च सर्वेषु स्वस्याधिक्यं न दर्शयेत ।
भागार्हभ्रातृणांनष्टोह्यव मानात्सुयोधनः ॥४०॥

अपने सहोदर भ्राताओं के मध्य में युवराज, अपनी अधिकता न दिखावे । अंश के भागी अपने भ्राताओं के अपमान से ही राजा दुर्योधन नष्ट हुआ था ॥ ४० ॥

पितुराज्ञोल्लंघनेन प्राप्यापिपदमुत्तमम् ।
तस्माद्भ्रष्टा भवंतीहदास वद्राज पुत्रकाः ॥४१॥

जो राजपुत्र, पिता की आज्ञा का उल्लंघन करता है, वह कितने ही ऊँचे पद पर चढ़ गया हो, उसे उस पर से एक दिन गिरना पड़ता है । ऐसे राजपुत्र बहुत होगए, जिनको अन्त में दास की भाँति जीवन बिताना पड़ा है ॥ ४१ ॥

ययातेश्चयथा पुत्राविश्वामित्र सुतायथा ।
पितृसेवा परस्तिष्ठेत्कायवाङ्मानसैः सदा ॥४२॥

राजा ययाति और विश्वामित्र के पुत्र, पिता की आज्ञा न मानने से ही अपने पद से गिर गए । इस सारे इतिहास को देख-

कर राजपुत्र, मन, वाणी और शरीर से अपने पिता (राजा) की सेवा में तत्पर हो जावे ॥ ४२ ॥

तत्कर्मनियतंकुर्याद्ये न तुष्टोभवेत्पिता ।
तन्नकुर्याद्येन पिता मनागपि विषीदति ॥४३॥

युवराज वही काम—सर्वदा करे, जिससे अपना पिता सन्तुष्ट होवे। उस कार्य को तो राजपुत्र कभी भी न करे-जिससे अपने पिता (राजा) को थोड़ा भी विषाद उत्पन्न होवे ॥ ४३ ॥

यस्मिन्पितुर्भवेत्प्रीतिः स्वयं तस्मिन्प्रियंचरेत् ।
यस्मिन्द्वेषं पिता कुर्यात्स्वस्यापिद्वेष्य एवसः ॥४४॥

जिससे पिता प्रीति करता हो, युवराज उससे प्रीति और जिससे पिता का द्वेष हो, युवराज उससे द्वेष करे ॥ ४४ ॥

असंमतं विरुद्धं वा पितुर्नैव समाचरेत् ।
चार सूचक दोषेण यदिस्यादन्यथा पिता ॥४५॥
प्रकृत्यनुमतं कृत्वातमेकांते प्रबोधयेत् ।
अन्यथा सूचकान्नित्यं महद्दंडेनदंडयेत् ॥४६॥

जो बात असम्मत और विरुद्ध हो—उसका कभी आचरण न करे। यदि चार तथा सूचक (चुगल) के दोष से पिता बिगड़ गया हो—तो अमात्य आदि प्रकृति को अपने पक्ष में बनाकर राजा को एकान्त में समझा देवे। जब राजा, प्रसन्न हो जावे—तो सूचक (चुगलों) को महान् दण्ड देवे ॥ ४६ ॥

प्रकृतीनांच कपटैः स्वांतं विद्यात्सदैवहि ।

प्रातर्नत्वाप्रतिदिनं पितरं मातरं गुरुम् ॥४७॥

युवराज, छल कपट—किसी भी तरह अमात्य आदि प्रकृति के अन्तःकरण की बात जानता है। प्रातःकाल उठकर राजपुत्र, प्रति दिन पिता माता और गुरु को प्रणाम करे॥ ४७॥

राजानं स्वकृतं यद्यन्निवेद्यानु दिनंततः ।

एवंगृहाविरोधेन राजपुत्रोवसेद्गृहे ॥४८॥

दिन भर में जो २ कार्य युवराज ने किये हों—उनको प्रतिदिन राजा को सुनावे। इस प्रकार किसी प्रकार का विरोध न करके राजपुत्र घर में बसता रहे॥ ४८॥

विद्ययाकर्मणाशीलैः प्रजाः संरंजयन्मुदा ।

त्यागीचसत्वसंपन्नः सर्वान्कुर्याद्वशेस्वके ॥४९॥

विद्या, कर्म, शील आदि के द्वारा आनन्द के साथ सर्वदा प्रजा का रञ्जन करे। युवराज, धन का दानी होकर आत्माभिमान के साथ सबको वश में रखे॥ ४९॥

शनैः शनैः प्रवर्धेत शुक्लपक्षमृगांकवत् ।

एवं वृत्तोराजपुत्रो राज्यं प्राप्याप्यकंटकम् ॥५०॥

सहायवान्सहामात्यश्चिरं भुंक्तेवसुंधराम् ।

समासतःकार्यमुक्तं युवराजस्ययद्धितम् ॥५१॥

इस तरह राजपुत्र को धीरे २ शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भांति बढ़ना चाहिए। इस प्रकार राजपुत्र निष्कण्टक राज्य प्राप्त करके सहाय और अमात्यों से संयुक्त हो जाता है और वह चिरकाल तक पृथिवी को भोगता है। यहां तक संक्षेप में युवराज के कृत्यों का वर्णन किया गया है ॥ ५०-५१ ॥

समासादुच्यते कृत्यममात्यादेश्चलक्षणम् ।
मृदुगुरुप्रमाणत्ववर्ण शब्दादिभिः समम् ॥५२॥
परीक्षकैर्द्रावयित्वायथास्वर्णंपरीक्ष्यते ।
कर्मणा सहवा सेन गुणैः शील कुलादिभिः ॥५३॥
भृत्यं परीक्षयेन्नित्यं विश्वास्यंविश्वसेत्तदा ।
नैवजातिर्नचकुलं केवलं लक्षयेदपि ॥५४॥
कर्मशीलगुणाः पूज्यास्तथा जातिकुलेनहि ।
नजात्यानकुलेनैवश्रेष्ठत्वंप्रतिपद्यते ॥५५॥

अब इसके आगे अमात्य आदि के—लक्षण संक्षेप में कहे जाते हैं। कोमल, भारी, प्रमाण, वर्ण, शब्द—आदिक तथा तपाकर जिस तरह—सुवर्ण की परीक्षा की जाती है, उसी तरह काम, सहवास, गुण, शील, कुलआदि से राजा, नित्य अपने भृत्यों की परीक्षा करे। इनमें जो विश्वास के योग्य हो—उसका विश्वास करे। भृत्यों की केवल जाति या कुल पर ही दृष्टि न रखे। मनुष्य के कर्म—शील और गुण पूजे जाते हैं, जाति और कुल

की पूजा सज्जनों को मान्य नहीं है। किसी की जाति या के
कुल उच्च होने से उसकी श्रेष्ठता नहीं हो जाती हैं ॥ ५२-५५ ॥

विवाहे भोजने नित्यं कुल जाति विवेचनम् ।
सत्यवान्गुणसंपन्नस्तथाभिजन बान्धवी ॥५६॥
सुकुलश्चसुशीलश्च सुकर्माचनिरालसः ।
यथाकरोत्यात्मकार्यं स्वामिकार्यं ततोधिकम् ॥५७॥

विवाह और भोजन में कुल और जाति का विचार कि
जाता है। सत्यवान् गुण सम्पन्न, उत्तम वीरों से युक्त, धन
कुलीन, सुशील, सुकर्मा, निरालस, जिस तरह अपने काम
सम्पादित करता है, उससे भी अधिक वह स्वामी कार्य को
करता है ॥ ५६-५७ ॥

चतुर्गुणेनयत्नेन कायवाङ्मानसेन च ।
भृत्याचतुष्टोमृदुवाक्कार्यदक्षः शुचिर्दृढः ॥५८॥
परोपकरणे दक्षोह्यपकारपराङ्मुखः ।
स्वाम्यागस्कारिणं पुत्रंपितरंचापिदर्शकः ॥५९॥

मनुष्य चौगुना प्रयत्न करके स्वामी कार्य करे तथा मनव
और शरीर से स्वामी के काय में तत्पर होवे। जो कुछ वे
मिलता हो उसमें सन्तुष्ट रहे। मृदु वाणी बोलने वाला, कार्य द
शुद्धाचार परायण, होकर दृढ़ प्रतिज्ञ बना रहे। सेवक स
परोपकार में तथा और अन्य के अपकार से दूर रहे। अ

स्वामी के अपराध करने वाले अपने पुत्र या मित्र पर भी कड़ी दृष्टि रखे ।। ५८-५९ ।।

अन्यायगामिनिपतौह्यतद्रूपः सुबोधकः ।
नाच्छेत्तातद्गिरं कांचित्तन्न्यूनस्या प्रकाशकः ।।६०।।

यदि अपना स्वामी कोई भूल से अन्याय करने लगे तो सेवक उसे सुझा देवे । आप भूल करने वाले राजा का साथी न होवे । उसकी वाणी को बीच में न काटे और न उसकी त्रुटियों को बुरी तरह प्रकट करे ।। ६० ।।

अदीर्घसूत्रः सत्कार्येह्यसत्कार्येचिरक्रियः ।
नतद्भार्यापुत्रमित्रच्छिद्रदर्शीकदाचन ।।६१।।

सेवक को सत्कार्य के करने में देरी नहीं करनी चाहिए और बुरे कर्म में प्रवेश करने से सर्वदा झिझकते रहना उचित है । अपने स्वामी की भार्या पुत्र, और मित्र आदि के छिद्र देखने की सेवक को कभी चेष्टा नहीं करनी चाहिए ।। ६१ ।।

तद्वद्बुद्धिस्तदीयेषुभार्या पुत्रादि बंधुषु ।
नश्लाघतेस्पर्धतेननाभ्यसूयतिनिंदति ।।६२।।

अपने स्वामी के भार्या पुत्र और बन्धुओं की प्रतिष्ठा करनी चाहिए । उनके सन्मुख न तो अपनी डींग मारे, उनकी बराबरी की स्पर्धा करे । न उनसे ईर्ष्या करे और न उनकी निन्दा ही सेवक को करनी उचित है ।। ६२ ।।

नेच्छत्यन्याधिकारं हिनिः स्पृहोमोदतेसदा ।
तद्दत्तवस्त्रभूषादिधारकस्तत्पुरोनिशम् ॥६३।

सेवक कभी अन्य के अधिकार की इच्छा न करे, किन्तु निस्पृह रह कर सदा आनन्दित रहे। जो कुछ स्वामी के भार्यापुत्र आदि कुछ वस्त्रादि प्रदान करे—उनको—उनके सन्मुख सर्वदा धारण करे॥ ६३॥

भृतितुल्यव्ययीदांतोदयालुः शूरएवहि ।
तदकार्यस्यरहसि सूचकोभृतकोवरः ॥६४॥

जो अपना वेतन मिलता हो—उसके तुल्य सेवक मनुष्य अपना खर्च रखे। भृत्य को उदार, दयालु और शूरवीर होना चाहिए। जो सेवक राजा को उसके बिगाड़ते हुए कार्य की एकान्त में सूचना दे देता है, वह—उत्तम सेवक माना जा सकता है॥६४

विपरीतगुणैरेभिर्भृतकोनिंद्य उच्यते ।
येभृत्याहीनभृतिकायेदंडेनप्रकर्षिताः ॥६५॥
शठाश्चकातरालुब्धाः समक्षप्रियवादिनः ।
मत्ताव्यसनिनश्चार्ता उत्कोचेष्टाश्चदेविनः ॥६६॥
नास्तिकादांभिकाश्चैवसत्यवाचोभ्यसूयकाः ।
येचापमानितायेऽसद्वाक्यैर्मर्मणि भेदिताः ॥६७॥
चंडाः साहसिकाधर्महीनानैते सुसेवकाः ।
संक्षेपतस्तुकथितं सदसद्भृत्य लक्षणम् ॥६८॥

जो सेवक इन—उपर्युक्त गुणों से विपरीत-होता है, वे विश्वनीय सेवक-समझने चाहिए। जो भृत्यों की वृत्ति (तनख्वाह) थोड़ी है या जो दण्ड से दुःखो हैं, जो-दुष्ट, कायर, लालची, सामने-प्रिय बोलने वाले, उन्मत्त व्यसन में फँसे हुए, आतुर, उत्कोच (रिश्वत) भोजी जुआरी, नास्तिक, पाखण्डी, सत्य वाणी के निन्दक, अपमानित, कटु वचनों से मर्माहत, अत्यन्त—क्रोधो, साहसी, और धर्म हीन उन्हें सेवक ही नहीं समझना चाहिए। इस प्रकार हमने संक्षेप में अच्छे बुरे राज सेवकों के लक्षण बतादिए हैं ॥ ६५-६८ ॥

समासतः पुरोधादि लक्षणंयत्त दुच्यते ।
पुरोधाचप्रतिनिधिः प्रधानः सचिवस्तथा ॥६९॥
मंत्री च प्राड्विवाकश्च पंडितश्च सुमंत्रकः ।
अमात्योदूतइत्येताराज्ञः प्रकृतयोदश ॥७०॥
दशमांशाधिकाः पूर्वदूतांताः क्रमशः स्मृताः ।
अष्ट प्रकृतिभियुक्तोनृपः कैश्चित्स्मृतः सदा ॥७१॥

अब संक्षेप में पुरोहित के लक्षण बताए जाते हैं। पुरोहित राजा का प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मन्त्री, प्राड् विवाक (वकील) पण्डित, सुमन्त्री, अमात्य और दूत—ये दश प्रकृति कहाते हैं। इन दश प्रकृति के साथ ग्यारहवां राजा माना गया। इनका वेतन क्रमशः दशमांश अधिक होता है। किसी २ विद्वान ने आठ—प्रकृतियों से अधिक नौवां राजा माना है ॥ ६९-७१ ॥

सुमंत्रः पंडितोमंत्री प्रधानः सचिवस्तथा ।
अमात्यः प्राड्विवाकश्च तथा प्रतिनिधिः स्मृतः॥७२॥
एताभृतिसमास्त्वष्टौराज्ञः प्रकृतयः सदा ।
इंगिताकारतत्त्वज्ञोदूतस्तदनुगः स्मृतः ॥७३॥

सुमन्त, पण्डित, मन्त्री, प्रधान मन्त्री, सचिव, अमात्य, प्राड्विवाक और प्रतिनिधि ये आठ प्रकृति कहाती हैं। इन आठों प्रकृतियों का वेतन समान होता है। इंगित (संकेत) आकार, आदि के तत्त्व का जानने वाला दूत तो राजा का अनुचर माना जाता है ॥ ॥ ७२-७३ ॥

पुरोधाः प्रथमं श्रेष्ठः सर्वेभ्यो राजराष्ट्रभृत् ।
तदनुस्यात्प्रतिनिधिः प्रधानस्तदनंतरम् ॥७४॥
सचिवस्तुततः प्रोक्तोमंत्रीतदनुचोच्यते ।
प्राड्विवाकस्ततः प्रोक्तः पंडितस्तदनंतरम् ॥७५॥
सुमंत्रस्तुततः ख्यातोह्यमात्यस्तुततः परम् ।
दूतस्ततः क्रमादेते पूर्वं श्रेष्ठायथा गुणाः ॥७६॥

इन सब में पुरोहित का सर्व श्रेष्ठ स्थान है। यह राजा और राष्ट्र दोनों का पालक है। इसके भी दो प्रतिनिधि का पद है और उसके बाद प्रधान मन्त्री का स्थान है। फिर सचिव का स्थान है और उसके पीछे मन्त्री होता है। फिर प्राड्विवाक और फिर पण्डित उसके अनन्तर सुमन्त और फिर अमात्य का स्थान है

इसके बाद दूत का पद है। इनमें क्रम से पूर्व २ का श्रेष्ठ है—क्योंकि उनमें विशेष २ गुण—होते हैं ॥ ७४-७६ ॥

मंत्रानुष्ठानसंपन्नस्त्रैविद्यः कर्मतत्परः ।
जितेंद्रियो जितक्रोधो लोभ मोह विवर्जितः ॥७७॥

षडंगवित्सांग धनुर्वेद विच्चार्थ धर्मवित ।
यत्कोपभीत्या राजापि धर्मनीतिरतो भवेत् ॥७८॥

नीतिशस्त्रास्त्र व्यूहादिकुशलस्तु पुरोहितः ।
सैवाचार्यः पुरोधायः शापानुग्रहयोः क्षमः ॥७९॥

पुरोहित, मन्त्रानुसार अनुष्ठान में कुशल हो वह वेदत्रयी का ज्ञाता और—यज्ञादि कर्म परायण होना चाहिए। पुरोहित, जितेन्द्रिय, क्रोधविहीन, और लोभ मोह से रहित होता है। वेद के शिक्षा आदि छःओं अङ्गों का ज्ञाता, धनुर्वेद का मर्मज्ञ, अर्थ और धर्म के तत्व का जानने वाला, माना गया है। पुरोहित के कोप के डर से राजा भी धर्मनीति में परायण होना चाहिए। नीतिशास्त्र, व्यूह रचना आदि में भी पुरोहित को कुशल होना उचित है। पुरोहित ही आचार्य हो और शाप तथा अनुग्रह में उसे समर्थ होना चाहिए॥ ७७-७९ ॥

विनाप्रकृतिसन्मंत्राद्राज्यनाशोभवेन्मम ।
निरोधनं भवेदेनंराज्ञस्तेस्युः सुमंत्रिणः ॥८०॥

इन पुरोहित आदि प्रकृति के संमति के बिना मेर राज्य का नाश हो जावेगा। जो इस प्रकार की उत्तम मन्त्रणा देकर राजा को धर्म में रोके रखता है-सुमन्त्री कहाते हैं॥ ८०॥

नबिभेतिनृपोयेभ्यस्तैः किंस्याद्राज्यवर्धनम् ।
यथालंकारवस्त्राद्यैः स्त्रियोभूष्यास्तथाहिते ॥८१॥

जिन मन्त्रियों से राजा को भय नहीं होता—उनसे राज्य की क्या वृद्धि हो सकती है। राजा को अलङ्कार वस्त्र भूषण आदि से स्त्रियों के समान इनको भूषित करना—चाहिए॥ ८१॥

राज्यं प्रजाबलंकोशः सुनृपत्वंनवर्धितम् ।
यन्मंत्रतोरिनाशस्तैर्मन्त्रिभिः किंप्रयोजनम् ॥८२॥

राज्य, प्रजा, सेना, कोश, राजा की उत्तमता और शत्रु का नाश जिन मन्त्रियों की सम्मति से नहीं सम्पन्न हो, उन मन्त्रियों के होने से ही क्या प्रयोजन है अर्थात् सिद्ध होने वाली मन्त्रणा देने वाले ही मन्त्री श्रेष्ठ होते हैं॥ ८२॥

कार्याकार्यप्रविज्ञातास्मृतः प्रतिनिधिस्तुसः ।
सर्वदर्शीप्रधानस्तुसेनावित्सचिवस्तथा ॥८३॥
मंत्रीतुनीतिकुशलः पंडितोधर्मतत्त्ववित् ।
लोकशास्त्रनयज्ञस्तुप्राड्विवाकः स्मृतः सदा ॥८४॥
देशकालप्रविज्ञाताह्यमात्यइतिकथ्यते ।

आयव्ययप्रविज्ञाता सुमंत्रः सचकीर्तितः ॥८५॥
इंगिताकारचेष्टज्ञः स्मृतिमान्देशकालवित् ।
षाड्गुण्यमंत्रविद्वाग्मीवीतभीर्दूतइष्यते ॥८६॥

जो राजा के कार्य और अकार्य का ज्ञाता हो, वह प्रतिनिधि कहाता है। राजा के सब कार्यों का द्रष्टा प्रधान और सेना की पड़ताल रखने वाला सचिव होता है। नीति में कुशल रह कर मन्त्रणा देने वाला मन्त्री और धर्म तत्व का ज्ञाता, राजपण्डित होता है। लोक, शास्त्र और नीति का ज्ञाता प्राड्विवाक (वकील) कहाता है तथा देश काल का जानने वाले की अमात्या संज्ञा मानी है। जो आय और व्यय का रखने वाला है, वह सुमन्त्री होता है। जो इङ्गित, आकार और चेष्टा का जानने वाला, स्मृतिमान, देशकाल का ज्ञाता, सन्धि विग्रह आदि के विचार करने में समर्थ, वाग्मी, निर्भीक जो होता है, वह दूत कहाता है ॥८३-८६॥

अहितंचापियत्कार्यं सद्यः कर्तुं यदोचितम् ।
अकर्तुंयद्धितमपिराज्ञः प्रतिनिधिः सदा ॥८७॥
बोधयेत्कारयेत्कुर्यान्नकुर्यान्न प्रबोधयेत् ।
सत्यं वायदिवासत्यंकार्यजातंचयत्किल ।८८॥

राजा के अहित कार्य तथा शीघ्र करने योग्य कार्य एवं नहीं करने योग्य-कार्यों को भी जो जाने-वही राजा का प्रतिनिधि होता है। इसे सर्वदा-राजा के हित पर दृष्टि रखना योग्य है। जो उत्तम सब कार्य हैं, उन्हें राजा को जतलाये, उनको उससे

करवावे और जहाँ तक हो स्वयं कर दे। इसके सिवा जो असत्कार्य हों–उनको न तो स्वयं करे और न राजा को उनके करने की प्रेरणा करे ॥ ८७-८८ ॥

सर्वेषांराजकृत्येषु प्रधानस्तद्विचिंतयेत् ।
गजानांचतथाश्वानांरथानांपदगामिनाम् ॥८९॥
सदृढानांतथोष्ट्राणांवृषाणांसद्यएवहि ।
वाद्यभाषासुसंकेत व्यूहाभ्यसनशालिनाम् ॥९०॥

राजा का प्रधान नायक अध्यक्ष, सारे राज कार्यों की पड़ताल करने का अधिकारी होता है। गज, अश्व, रथ, पैदल, बड़े बलवान ऊँट और बैलों की देखभाल करना भी उसी का कार्य है। बाजे बजाने वाले उनके संकेत, व्यूह रचना और अभ्यास (कवायद) करने वालों के देख रेख भी प्रधान ही करता है ॥ ८९-९० ॥

प्राक्प्रत्यग्गामिनांराज्यचिह्नशस्त्रास्त्रधारिणाम् ।
परिचारगणानांहिमध्यमोत्तमकर्मणाम् ॥९१॥
अस्त्राणामस्त्रपातीनांसद्यस्त्वंतुरगीगणः
कार्यक्षमश्च प्राचीनः साद्यस्कः कतिविद्यते ॥९२॥
कार्या समर्थः कत्यस्तिशस्त्र गोलाग्नि चूर्णयुक् ।
सांग्रामिकश्च कत्यस्तिसंभारस्तान्विचिंत्यच ॥९३॥

जो पूर्व या पश्चिम में जाने आने वाले दूत आदि, राज्य के चिन्हों के-धारक, शस्त्र अस्त्रों के भण्डारों के-अध्यक्ष, उत्तम मध्यम और अधम कार्यों के करने वाले सेवक गण, अस्त्र कितने नवीन आए, कितने पुराने हो गए। कितनी घोड़ी नई आईं, कितनी काम देती हैं, कितनी पुरानी हो चुकी, कितनी युवति हैं—इत्यादि बातों का निरीक्षण करना भी प्रधान का ही काम है। कितने अश्व या घोड़ी असमर्थ हो चुके हैं। शस्त्र गोलों से कितने सुसज्जित हैं। युद्ध के उपयोगी कितनी सामग्री हमारे पास है यह सब कुछ प्रधान के देखने की ही वस्तु हैं ॥ ६१-६३ ॥

सचिवश्चापितत्कार्यं राज्ञे सम्यङ्निवेदयेत् ।
सामदानश्चभेदश्च दंडः केषुकदाकथम् ॥६४॥
कर्तव्यः किंफलंतेभ्यो बहुमध्यं तथाल्पकम् ।
एतत्संचिंत्य निश्चित्य मंत्री सर्वं निवेदयेत् ।६५॥

प्रधान के साथ सचिव रहे और वह इन सारे कामों की सूची (रिपोर्ट) राजा के पास पहुँचावे। साम, दान, भेद और दण्ड को कब किस पर कितना प्रयत्न करना चाहिए-इसका बहुत मध्य या अल्प क्या फल होगा। इन सब बातों को स्वयं विचार कर मन्त्री राजा के सन्मुख उपस्थित करे ॥ ६४-६५ ॥

साक्षिभिर्लिखितैर्भोगैश्छलभूतैश्चमानुषान् ।
स्वानुत्पादित संप्राप्तव्यवहारान्विचिंत्यच ॥६६॥

दिव्य संसाधनान्वापिकेषुकिं साधनं परम् ।
युक्ति प्रत्यक्षानुमानोपमानैर्लोक शास्त्रतः ॥९७॥
बहुसम्मत संसिद्धान्विनिश्चित्य सभास्थितः ।
ससभ्यः प्राड्विवाकस्तु नृपं संबोधयेत्सदा ॥९८॥

साक्षियों के लिखे हुए छल पूर्ण पत्र, तथा नवीन उपस्थित किए हुए व्यवहार (मुकद्दमे) या निर्णीत व्यवहारों के वादी प्रतिवादियों की प्रार्थना उनके युक्तियुक्त, हेतुवाद, तथा हेतुवादों की सारासारता को युक्ति—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, लोक और शास्त्र से सभा में स्थित होकर सभ्य नामक अधिकारी विचार करे। वह यह भी देखे, कि बहुत से पूर्व के सभ्यों (निर्णायकों) ने ऐसे विषय को किस तरह निबटाया है। इस तरह की बातों को राजा के सन्मुख उपस्थित करने वाला प्राड्विवाक होता है॥ ९६-९८ ॥

वर्तमानाश्च प्राचीनाधर्माः केलोक संश्रिताः ।
शास्त्रेषु केसमुद्दिष्टा विरुध्यंते चकेधुना ॥९९॥
लोकशास्त्र विरुद्धाः के पंडितस्तान्विचिंत्यच ।
नृपं संबोधयेत्तैश्च परत्रेह सुखप्रदैः ॥१००॥

वर्तमान काल या प्राचीन काल के क्या २ धर्म (नियम) थे, जिनका लोक में व्यवहार होता था। शास्त्रों में किन नियमों का उल्लेख है, कौन से नियम शास्त्र विरुद्ध हैं तथा लोक और शास्त्र

दोनों के कौन से नियम होगए हैं, इन बातों को विचार कर जो राजा के सन्मुख उपस्थित करे, वह राज पण्डित होता है या यह कार्य राज पण्डित का होता है। नियम ऐसे होने चाहिए जो इस लोक और परलोक दोनों में हितकारी हों ॥ ९९-१०० ॥

इयच्चसंचितं द्रव्यंवत्सरेस्मिंस्तृणादिकम् ।
व्ययीभूतमियच्चैवशेषंस्थावर जंगमम् ॥१०१॥
इयदस्तीति वैराज्ञे सुमंत्रो विनिवेदयेत ।

इस वर्ष में इतना द्रव्य सञ्चित हुआ, इतना तृण अन्न इकट्ठा कर लिया गया। पूर्ण सञ्चित में से इतना समाप्त हो चुका और इतना स्थावर जंगम (घास-पशु आदि) शेष हैं। अब सारा इतना है—इस तरह अपने भण्डार (स्टाक) की सूचना जो राजा को देता है–वह सुमन्त्र कहाता है ॥ १०१ ॥

पुराणिचकति ग्रामा अरण्यानिच संतिहि ॥१०२
कर्षिताकतिभूः केन प्राप्तो भागस्ततः कति ।
भागशेषं स्थितं तस्मिन्कत्यकृष्टा चभूमिका ॥१०३॥
भागद्रव्यंवत्सरेस्मिञ्छुल्कदंडादिजंकति ।
अकृष्टपच्यंकतिच कतिचारण्य संभवम् ॥१०४॥
कतिचाकर संजातं निधि प्राप्तं कतीतिच ।
अस्वामिकं कति प्राप्तं नाष्टिकं तस्कराहृतम् ॥१०॥
संचितंतुविनिश्चित्यामात्यो राज्ञे निवेदयेत् ।
समासाल्लक्षणं कृत्यं प्रधान दशकस्यच ॥१०६॥

कितने नगर, कितने गांव, कितने अरण्य, (जंगल) हैं किसने कितनी भूमि जोती है। उसमें से उसे कितना भाग (जमा या कर) मिल चुका। कितना अभी उगाना शेष है। कितनी भूमि बिना जोती रह गई। इस वर्ष में कितना कर लगाया गया। दण्ड से प्राप्तव्य शुल्क (जुरमाना) कितना है। कितना बिना जोती हुई भूमि (नहरी) से अन्न की उत्पत्ति हुई और वन में क्या उत्पन्न हुआ। खानों में कितना धन पहुँच चुका या खान के रत्न आदि से क्या आमदनी हुई। कितनी भूमि—स्वामिहीन (लावारिस) हो गई। कितनी फसल मारी गई और चोर कितना उड़ा लेगये–यह सब कुछ मन्त्री विचार कर राजा को सूचित करे। इस प्रकार संक्षेप में प्रधान आदि दश अधिकारियों के लक्षण और कृत्य बताए हैं॥ १०२-१०६ ॥

उक्तं तल्लिखितैः सर्वं विद्यात्तदनु दर्शिभिः।
परिवर्त्य नृपोह्येतान्युंज्यादन्योन्यकर्मणि ॥१०७॥

राजा भी उनके लेखों को उन दिखलाने वाले कर्मचारियों (क्लर्कों) से अच्छी तरह समझ लेवे। राजा इन अमात्य आदि को–अदल-बदल कर पृथक् २ कार्यों पर नियुक्त करता रहे॥

नकुर्यात्स्वाधिक बलान्कदापि ह्यधिकारिणः।
परस्परं समबलाः कार्याः प्रकृतयोदश ॥१०८॥

अपने से अधिक शक्तिशाली मनुष्य को किसी अधिकार पर राजा न लगावे। ये दशों प्रकृति, परस्पर समान बल वाली हों चाहिए॥ १०८ ॥

एकस्मिन्नधिकारेतु पुरुषाणांत्रयंसदा ।
नियुंजीत प्राज्ञतमं मुख्यमेकंतु तेषुवै ॥१०६॥

एक पद पर तीन अधिकारी हों-उनमें एक मुख्य और दो गौण (असिस्टेन्ट) होने चाहिए । मुख्य अधिक विद्वान को बनाना उचित है ॥ १०६ ॥

द्वौदर्शकौतुतत्कार्ये हाय नैस्तन्निवर्तनम् ।
त्रिभिर्वापंचभिर्वापि सप्तभिर्दशभिश्चवा ॥११०॥

इन अफसरों के कामों को दो निरीक्षक पड़तालने वाले हों, वे तीन, पांच, सात या दश वर्ष में इनके काम की अवश्य पड़ताल—करें ॥ ११० ॥

दृष्ट्वा तत्कार्य कौशल्यं तथातं परिवर्तयेत् ।
नाधिकारं चिरं दद्याद्यस्मै कस्मै सदानृपः ॥१११॥

इनके कामों में जितना जिसका कौशल है, उसको उसी तरह के पद पर परिवर्तन कर देवे । राजा ऐसे वैसे पुरुष को कभी अधिकार पर देर तक नियत न रखे ॥ १११ ॥

अधिकारेक्षमं दृष्ट्वा ह्यधिकारे नियोजयेत् ।
अधिकारमदं पीत्वा कोन मुह्यात्पुनश्चिरम् ॥११२॥

जिस विनयी मनुष्य को अधिकार के योग्य देखे-उसीको अधिकार पर लगावे-अन्यथा अधिकार रूपी मद को पाकर कौन उन्मत्त नहीं हो जाता है ॥ ११२ ॥

अतः कार्यक्षमं दृष्ट्वाकार्येऽन्येतं नियोजयेत् ।
तत्कार्येकुशलं चान्यं तत्पदानुगतं खलु ॥१३॥

जिसको अन्य उत्तम कार्य के योग्य समझा-उसको उस पद पर लगादे और उसके काम पर उसके अनुयायी (असिस्टेन्ट) को लगावे, जो उस कार्य का अनुभवी हो ॥ ११३ ॥

नियोजयेद्वर्तनेतु तदभावे तथा परम् ।
तद्गुणोयदितत्पुत्रस्तत्कार्येतं नियोजयेत् ॥११४॥

यदि अनुयायी कुशल न हो तो किसी अन्य अधिकारी द्वा उस स्थान पर परिवर्तन करदे। यदि उसका पुत्र ही इस विषय का अनुभवी हो चुका हो तो उसको उस पद पर लगादे ॥११४॥

यथा यथा श्रेष्ठ पदेह्यधिकारीयदाभवेत् ।
अनुक्रमेण संयोज्योह्यं तेतं प्रकृतिंनयेत् ॥११५॥

इस प्रकार जैसा २ श्रेष्ठ पद हो-उस पर वैसा ही अधिकारी होना चाहिए। उनकी नियुक्ति-यथाशक्ति अनुक्रम से ही होनी चाहिए अर्थात् उनके अनुयायिओं को ही वह पद देना चाहिए। इस तरह वे उस कार्य को यथा पूर्ण यथावत् चला सकते हैं ॥ ११५ ॥

अधिकार बलं दृष्ट्वा योजयेद्दर्शकान्बहून् ।
अधिकारिणमेकँवा योजयेद्दर्शकँ विना ॥११६॥

जैसा अधिकार हो-उसीके अनुसार बहुत से निरीक्षक नियुक्त किए जा सकते हैं। यह भी हो सकता है, कि किसी

अधिकारी को दर्शक के बिना भी नियुक्त किया जा सकता है अर्थात् उसके विश्वास के कारण उस पर निरीक्षक नहीं लगाया जा सकता है ॥ ११६ ॥

येचान्ये कर्मसचिवास्तान्सर्वान्विनियोजयेत् ।
गजाश्वरथ पादातपशूष्ट्रमृग पक्षिणाम् ॥११७॥
सुवर्ण रत्न रजत वस्त्राणामधिपान्पृथक् ।
वितानाद्यधिपं धान्याधिपंपाकाधिपंतथा ॥११८॥
आरामाधिपतिं चैवसौधगेहाधिपंपृथक् ।
संभारपंदेवतुष्टिपतिं दानपतिं सदा ॥११९॥

इनके सिवा जो अन्य छोटे कार्यों के अधिकारी हैं। उनकी भी इसी तरह नियुक्त करे। गज, अश्व, रथ, पैदल, पशु, उष्ट्र, मृग, पक्षी, सुवर्ण, रत्न, रजत, वस्त्र आदि के अध्यक्ष, वितान (शामियाने तम्बू) आदि अन्य भण्डार के अधिपति, पाठशाला के अध्यक्ष, बागों के अफसर, प्रासादों (महलों) के अध्यक्ष, कोश भण्डार आदि के स्वामी, मन्दिरों के अधिपति, दानाध्यक्ष, की भी इसी तरह नियुक्ति और परिवर्तन करे ॥ ११७-११९ ॥

साहसाधिपतिं चैव ग्रामनेतारमेवच ।
भागहारं तृतीयं तु लेखकं च चतुर्थकम् ॥१२०॥
शुल्कग्राहं पंचमं च प्रतिहारं तथैवच ।
षट्कमेतन्नियोक्तव्यं ग्रामे ग्रामे पुरेपुरे ॥१२१॥

दण्डाधिपति (मजिस्ट्रेट), ग्राम के नेता (चौधरी) तीसरे जमा उगाहने वाले, चौथे लेखाधिपति, पांचवें शुल्क (महसूल) लेने वाले और छठे द्वारपाल, इन छः राजकर्मचारियों को ग्राम में नियुक्त करे ॥ १२०-१२१ ॥

तपस्विनोदानशीलाः श्रुतिस्मृति विशारदाः ।
पौराणिकाः शास्त्रविदोदैवज्ञा मांत्रिकाश्चये ॥१२२॥
आयुर्वेदविदः कर्मकांड ज्ञास्तांत्रिकाश्चये ।
येचान्येगुणिनः श्रेष्ठाबुद्धिमंतो जितेंद्रियाः ॥१२३॥
तान्सर्वान्पोषयेद्भृत्यान्दानैर्मानैः सुपूजितान् ।
हीयतेचान्यथा राजाह्यकीर्तिं चापिविंदति ॥१२४॥

तपस्वी, दानशील, श्रुति स्मृति में विशारद, पौराणिक, शास्त्र के ज्ञाता, ज्योतिषी, मन्त्रशास्त्री, वैद्य, कर्म काण्डी, तांत्रिक तथा अन्य विद्याओं में कुशल बुद्धिमान् जितेन्द्रिय पुरुषों का भी राजा पालक करे। दान और मान से उनका सर्वदा सत्कार करता रहे। जो राजा, ऐसा नहीं करता—वह अपने राज्य से भ्रष्ट होकर अ[यश] को प्राप्त होता है ॥ १२२-१२४ ॥

बहुसाध्यानि कार्याणि तेषामप्यधिपांस्तथा ।
तत्तत्कार्येषुकुशलाञ्ज्ञात्वातांस्तुनियोजयेत् ॥१२५॥

जिन कामों को बहुत से मनुष्य कर सकते हैं, उन पर रा[जा] उन २ कामों के योग्य कुशल मनुष्यों को खोज २ कर नियु[क्त] करे ॥ १२५ ॥

अमंत्रमक्षरं नास्तिनास्ति मूलमनौषधम् ।
अयोग्यः पुरुषोनास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः ॥१२६॥

कोई अक्षर ऐसा नहीं हो, जिसका मन्त्र न बन सकता हो। कोई जड़ी बूटी ऐसी नहीं है, जो औषध न हो सके। कोई भी पुरुष अयोग्य नहीं हो सकता है, पुरुष को तो काम में लगाने वाला कोई योग्य व्यक्ति चाहिए ॥ १२६ ॥

प्रभद्रादि जातिभेदं गजानां च चिकित्सितम् ।
शिक्षां व्याधिं पोषणं च तालु जिह्वानखैर्गुणान् ॥
आरोहणं गतिंवेत्ति सयोज्यो गजरक्षणे ।
तथा विधाधो रणस्तु हस्ती हृदयहारकः ॥१२८।

हाथियों की प्रभद्र आदि जाति भेदों के ज्ञाता, गजों की चिकित्सा के जानने वाले, हाथियों को शिक्षा देने में कुशल, उनके रोग, पोषण, तालु जिह्वा, नख गुण, आरोहण, गति, आदि के वेत्ता पुरुष को उनके अध्यक्ष पद पर नियुक्त करे। इस तरह का हस्तिपद (महावत) हाथी के हृदय के वश में करने वाला होता है ॥ १२७-१२८ ॥

अश्वानां हृदयं वेत्ति जाति वर्णभ्रमैर्गुणान् ।
गतिंशिक्षांचिकित्सां च सत्त्वं सारंरुजं तथा ॥१२९॥
हिताहितं पोषणं च मानंयानं दतोवयः ।
शूरश्च व्यूह वित्प्राज्ञः कार्योश्वाधिपतिश्चसः ॥१३०॥

जो अश्वों के हृदय गुण, चक्कर, गति गुण, शिक्षा, चिकित्सा, बल, दृढ़ता रोग, हित-अहित, पोषण, मान, पान, दांत, वय (उमर) का ज्ञाता हो तथा जो शूरवीर, व्यूह रचना में कुशल बुद्धिमान हो–उसको अश्वाध्यक्ष बनाना उचित है ॥ १२६-१३०॥

एभिर्गुणैश्च संयुक्तोधुर्यान्युग्यांश्च वेत्तियः ।
रथस्यसारंगमनं भ्रमणं परिवर्तनम् ॥१३१॥
समापतत्सुशस्त्रास्त्र लक्ष्यसंधान नाशकः ।
रथ गत्यारथ हयहय संयोग गुप्तिवित् ॥१३२॥

इन पूर्वोक्त गुणों से संयुक्त हो तथा आगे जोड़ने योग्य या जूड़े में जोड़ने योग्य अश्वों को जान लेता हो, रथ के सार, गमन, भ्रमण और परिवर्तन को समझता हो। अपने ऊपर गिरने वाले शस्त्रास्त्र के लक्ष्य को चुका देने वाला हो, रथ की गति, रथों के भेद, अश्व और अश्वों के जोतने के ढंग को जानने वाले तथा उनकी रक्षा के ढंगों को समझने वाले पुरुष को रथाध्यक्ष बनाना चाहिए ॥ १३१-१३२ ॥

सादिनश्च तथा कार्याः शूराव्यूह विशारदाः ।
वाजिगतिविदः प्राज्ञाः शस्त्रास्त्रैर्युद्ध कोविदाः ॥१३३॥

इसी तरह–व्यूह रचना में विशारद, शूरवीरों को अश्वारोही बनाना उचित है। ये अश्वों की चाल के ज्ञाता, प्राज्ञ, शस्त्रास्त्रों के चलाने में कुशल और युद्ध कोविद, होने चाहिए ॥ १३३ ॥

चक्रितं रेचितं वल्गित कंधौरित माप्लुनम् ।
तुरंमंदंचकुटिलंसर्पणं परिवर्तनम् ॥१३४॥

एकादशास्कंदितं च गतीरश्वस्य वेत्तियः ।
यथाबलं यथर्तुंचशिक्षयेत्सचशिक्षकः ॥१३५॥

चक्रित, रेचित, बल्गित, धौरित, आप्लुत, तुरमन्द, कुटिल, सर्पण, परिवर्तन, आस्कन्दित–इन नामों वाली अश्वों की ग्यारह गतियों को जो जानता हो, तथा बल और ऋतु के अनुसार शिक्षा देने में समर्थ हो–उसे अश्वों की शिक्षा पर नियुक्त करना चाहिए ॥ १३४-१३५ ॥

वाजिसेवासुकुशलः पल्याणादि नियोगवित् ।
दृढांगश्च तथा शूरः सकार्योवाजि सेवकः ॥१३६॥

अश्वों की सेवा में कुशल, पल्याण (जीन) आदि के कसने के ज्ञाता, दृढ़अङ्ग वाले शूरवीर पुरुष को अश्वों को सेवा में लगाना चाहिए ॥ १३६ ॥

नीतिशस्त्रास्त्र व्यूहादिनति विद्याविशारदाः ।
अबालामध्यवयसः शूरादांता दृढांगकाः ॥१३७॥
स्वधर्म निरता नित्यं स्वामिभक्तारिपुद्विषः ।
शूद्रावाक्षत्रिया वैश्याम्लेच्छाः संकर संभवाः ॥१३८॥
सेनाधिपाः सैनिकाश्च कार्याराज्ञा जयार्थिना ।

जो नीतिशास्त्र, अस्त्र समूह, व्यूह रचना, नम्रता आदि की विद्याओं में विशारद हो जो न बालक और न वृद्ध हो–ऐसे दृढ़

अङ्गवाले, उदार, शूरवीर, स्वधर्म निरत, स्वामिभक्त, शत्रुद्वेषी, पुरुष को सेनापति बनाना चाहिए। जो राजा विजय चाहता हो- उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, म्लेच्छ, संकर आदि जातियों का भेद नहीं रखना चाहिए। प्रत्येक जाति के वीर को सेनापति पद पर आरूढ़ किया जा सकता है ॥ १३७-१३८ ॥

पंचानामथवाषण्णामधिपः पदगामिनाम् ॥१३९॥
योज्यः सपत्तिपालः स्यात्त्रिंशतां गौल्मिकः स्मृतः।
शतानां तु शतानीकस्तथानुशति कोवरः ॥१४०॥

पांच या छः पैदल सैनिकों के अधिपति को पत्तिपाल कहते हैं और तीस पैदल-सैनिकों के अधिपति को गौल्मिक कहा जाता है। सौ सिपाहियों के स्वामी को शतानीक, और इससे अधिक सैनिकों के अधिपति को अनुश तिक कहते हैं ॥ १३९-१४० ॥

सेनानीर्लेखकश्चैते शतं प्रत्यधिपाइमे।
साहस्रिकस्तु संयोज्यस्तथा चायुतिको महान् ॥१४१

सेनानी और लेखक ये सौ सैनिकों के अधिपति होते हैं। सहस्र और दश सहस्र सैनिकों के अधिपति भी इसी तरह राजा को नियुक्त करने उचित हैं ॥ १४१ ॥

व्यूहाभ्यासं शिक्षयेद्यः सायंप्रातस्तुसैनिकान्।
जानाति सशतानीकः सुयोद्धुं युद्धभूमिकाम् ॥१४२॥

जो सायंकाल और प्रातःकाल सैनिकों को व्यूह रचना की शिक्षा देवे तथा अच्छी तरह युद्ध करना जाने—वह शतानीक सर्वोत्तम है ॥ १४२ ॥

तथाविधोनुशतिकः शतानीकस्य साधकः ।
जानाति युद्ध संभारं कार्य योग्यं च सैनिकम् ॥१४३

शतानीक का शिक्षक अनुशतिक होता है। य: युद्ध सामग्री और युद्ध के योग्य सिपाहियों की पड़ताल करता है। यह उ.को यथा स्थान भेजता या नियुक्त करता है ॥ १४३ ॥

निर्देशयति कार्याणि सेनानीर्यामिकांश्चसः ।
परिवृत्तिं यामिकानां करोति स च पत्तिपः ॥१४४॥
सोवधानं यामिकानां विजानीयाच्च गुल्मपः ।
सैनिकाः कतिसंत्येतैः कतिप्राप्तं तु वेतनम् ॥१४५॥
प्राचीनाः केकुत्रगताश्चैतान्वेत्ति स लेखकः ।
गजाश्वानां विंशतेश्चाधि पोनायक संज्ञकः ॥१४६॥
उक्तसंज्ञान्स्वस्वचिह्नैर्लांछितांश्चनियोजयेत् ।

यामिक सैनिकों को जो कार्य का निर्देशक करे वह सेनानी होता है। जो सैनिकों की बदली करता है—वह पत्तिपति कहाता है। जो यामिक सैनिकों की सावधानी को देखता रहे—वह गुल्मपति होता है। ये कितने सैनिक हैं—इनको कितना वेतन मिलता

है। प्राचीन सैनिक कहाँ गए। इस बात का जो लेख रखता है-वह लेखक कहाता है। जो बीस गज और अश्वों का अधिपति होता है-वह नायक कहाता है। इन लोगों को अपने २ चिन्ह (पेटी) आदि से चिन्हित करके काम पर लगावे ॥ १४४-१४६॥

अजाविगोमहिष्येण मृगाणामधिपाश्चये ॥१४७॥
तद्वृद्धि पुष्टिकुशलास्तद्वात्सल्यानि पीडिताः।
तथा विधागजोष्ट्रा देर्योज्यास्तत्सेवका अपि ॥१४८॥
युद्धप्रवृत्ति कुशलास्तित्तिरादेश्च पोषकाः।

बकरी, गौ, भैंस, हिरण, मृग-इत्यादि जानवरों के अधिपति, इनकी वृद्धि, पुष्टि आदि के जानने वाले हों। इनको-इनसे प्रेम भी होना चाहिए। इसी तरह के गज ऊंट आदि के अधिपति हों और ऐसे ही इनके सेवक होने चाहिए॥ १४७-१४८॥

शुकादेः पाठकाः सम्यक्छ्येनादेःपातबोधकाः ॥२४६॥
तत्तद्धृदय विज्ञान कुशलाश्च सदाहिते।

युद्ध आदि के समाचार लाने वाले कबूतर तीतर आदि के पोषक, तोता, मैना के पढ़ाने वाले, श्येन के पात के जानने वाले, जन्तुओं के पालक भी उन जन्तुओं के हृदय के ज्ञान रखने वाले होने चाहिए॥ १४९॥

मानाकृति प्रभावर्ण जाति साम्याच्च मौल्यवित् ॥
रत्नानांस्वर्ण रजत मुद्राणामधिपश्चसः।

मान, आकार, चमक, वर्ण, जाति इनके ज्ञान से जो मूल्य के जान लेने वाले हों, उन्हें रत्न, स्वर्ण, रजत, (चाँदी) और रुपयों के काम पर नियुक्त करना चाहिए—ऐसे गुणी ही इन पदों के अधिकारी हो सकते हैं ॥ १५० ॥

दांतस्तु सधनोयस्तु व्यवहार विशारदः ॥१५१॥
धनप्राणोतिकृपणः कोशाध्यक्षः सएवहि ।

इन्द्रिय दमन में समर्थ, धन सम्पन्न, व्यवहार (हिसाब) में कुशल, धन को ही तत्व मानने वाले, अति कृपण व्यक्ति को कोषाध्यक्ष बनाना चाहिए या कोषाध्यक्ष को ऊपर के ढंग से रहना उचित है ॥ १५१ ॥

देशभेदैर्जाति भेदैः स्थूल सूक्ष्म बलाबलैः ॥१५२॥
कौशेयादेर्मान मूल्य वेत्ताशास्त्रस्य वस्त्रपः ।

देश देशान्तरों के भेदों के ज्ञाता—वस्त्रों की जातियों से परिचित, स्थूल (मोटे) सूक्ष्म (महीन) कपड़ों की न्यूनाधिकता के समझने वाले, रेशमी, ऊनी आदि वस्त्रों के मान (नांपतोल) और मूल्य के जानने वाले तथा शास्त्र के ज्ञाता व्यक्ति को वस्त्राधिपति बनाना चाहिए ॥ १५२ ॥

कुटीकंचुक नेपथ्य मंडपादेः परिक्रियाम् ॥१५३॥
प्रमाणतः सौचिकेनरंजनानि च वेत्तियः ।

तथाशय्यादिसंधानं वितानादेर्नियोजनम् ॥१५४॥
वस्त्रादीनां च सम्प्रोक्तो वितानाद्यधिपः खलु ।

कुटी, कंचुक (छोलदारी) नेपथ्य, (शृङ्गार गृह) मण्डप आदि की परिक्रिया और सौचिक (दर्जी) के प्रमाणों का जो ज्ञाता हो, अर्थात् इस काम में कितना कपड़ा लगेगा इस बात को जानता हो एवं रंगने के शिल्प को भी समझता हो—शय्यादि सन्धान (बुनने बुनवाने) वितान (शामियाना) आदि के बनवाने या लगवाने को जो जानता हो -इन मण्डपादि में कितना वस्त्र लगेगा--यह समझता हो उसे वितानाध्यक्ष बनाना चाहिए ॥ १५३-१५४ ॥

जातिं तुलांचमौल्यं च सारं भोगं परिग्रहम् ॥१५५॥
संमार्जनं च धान्यानां विजानाति सधान्यपः ।

धान्य के अध्यक्ष को अन्नादि वस्तुओं की जाति, तोल, मूल्य, सार, भोग (कर) परिग्रह (विशेष कर) धान्यों के संशोधन का जानना आवश्यक है। इस तरह के गुणों से सम्पन्न पुरुष हो, उसे ही धान्यपति के पद पर नियुक्त किया जावे ॥ १५५ ॥

धौता धौतविपाकज्ञो रस संयोग भेदवित् ॥१५६॥
क्रियासु कुशलो द्रव्यगुण विपाक नायकः ।

वस्तुओं के धुली नहीं धुली के पाक के जान लेने वाले, भिन्न भिन्न रसों के संयोगों के भेदों के ज्ञाता, क्रिया कुशल, द्रव्यों

(वस्तुओं) के गुणों के जानने वाले पुरुष को पाक नायक बनाना उचित है ॥ १५६ ॥

फल पुष्प वृद्धि हेतुं रोपणं शोधनं तथा ॥५७॥
पाद पानां यथा कालं कर्तुंभूमि जलादिना ।
तद्‌द्वेषजं च संवेत्तिह्या रामाधिपतिश्चसः ॥१५८॥

पुष्प और फलों की वृद्धि के ज्ञाता, वृक्षों के लगाने और उनके काटने छाटने में कुशल, तथा समयानुसार वृक्षों में जल देने के ढंग के ज्ञाता, एवं वृक्षों के रोगों के चिकित्सक पुरुष को आरामाधिपति (बागों का अध्यक्ष) बनाना उचित है ।१५७-१५८।

प्रासादं परिखांदुर्गं प्राकारं प्रतिमांतथा ।
यन्त्राणि सेतुबंधं च वापींकूपं तडागकम् ॥१५९॥
तथा पुष्करिणीं कुंडं जलादूर्ध्वगति क्रियाम् ।
सुशिल्प शास्त्रतः सम्यक्सुरम्यं तु यथा भवेत् ॥१६०॥
कर्तुं जानातियः सैवगृहाद्यधिपतिः स्मृतः ।

राजमहल, खाई, दुर्ग, प्राकार (परकोटा) प्रतिमा, (मूर्ति) यन्त्र, सेतुबन्ध, वापी, कूप, तड़ाग, पुष्करिणी, कुण्ड, कघारे आदि को शास्त्र और शिल्प विद्या के अनुसार सुन्दर बना देने की शक्ति रखने वाले मनुष्य को गृहाधिपति बना देना चाहिए ॥ १५९-१६० ॥

राजकार्योपयोग्यान्हिपदार्थान्वेत्तितत्त्वतः ॥१६१॥
संचिनोतियथा काले संभाराधिप उच्यते ।

जो पुरुष, अच्छी तरह राजा के काम आने वाले पदार्थों को जानता है और उन्हीं की उत्पत्ति के समय इकट्ठे कर लेता है, वह संभाराधिपति कहाता है ॥ १६१ ॥

स्वधर्माचरणे दक्षो देवताराधनेरतः ॥१६२॥
निःस्पृहः स च कर्तव्यो देव तुष्टिपतिः सदा ।

अपने धर्म के आचरणों में कुशल, देवताराधन में तत्पर, और स्पर्हाहीन, हो—उसे देवमन्दिरों का स्वामी बनाना उचित है ॥ १६२ ॥

याचकं विमुखं नैव करोति न च संग्रहम् ॥१६३॥
दानशीलश्च निर्लोभो गुणज्ञश्च निरालसः ।
दयालुर्मृदुवाग्दान पात्र विन्नति तत्परः ॥१६४॥
नित्यमेभिर्गुणैर्युक्तो दानाध्यक्षः प्रकीर्तितः

जा मनुष्य, कभी याचक को विमुख न करे । न संग्रह मात्र का प्रेमी हो । दानशील, निर्लोभ, गुण ज्ञाता, निरालस, दयालु, मृदुवाक्, दानपात्रोंका ज्ञानने वाला और प्रणाममें तत्पर हो—उसे ही दानाध्यक्ष बनाना योग्य है । उसे इन समस्त गुणों से नित्य युक्त होना चाहिए ॥ १६३-१६४ ॥

व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तशील गुणान्विताः ॥१६५॥
रिपौमित्रे समायेच धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ।
निरालसा जित क्रोध काम लोभाः प्रियंवदाः ॥१६६॥
सभ्याः सभासदः कार्यावृद्धाः सर्वासुजातिषु ।

व्यवहार कुशल. पण्डित, सदाचार, गुण और शील से सम्पन्न, शत्रु और मित्र में समान, धर्मात्मा, सत्यवादी, आलस-हीन, क्रोध, काम और लोभ के जीतने वाले, प्रिय मधुर भाषी, सभा में साधु वृद्ध पुरुषों को निर्णय करने वाली सभा का सभासद बनाया जाना चाहिए । ये सब जाति के लोग हो सकते हैं ॥ १६५-१६६ ॥

सर्व भूतात्म तुल्योयोनिः स्पृहो तिथि पूजकः ॥१६७॥
दानशीलश्च यो नित्यं सत्रैसत्राधिपः स्मृतः ।

यज्ञाधिपति, सारे भूतों को अपने आत्मा के तुल्य जानने वाला, लालच हीन, अतिथि पूजक, और दानशील, होना चाहिए यह सत्राधिपति कहाता है ॥ १६७ ॥

परोपकार निरतः परमर्मा प्रकाशकः ॥१६८॥
निर्मत्सरो गुणग्राही सद्विद्यः स्यात्परीक्षकः ।

परोपकार परायण, अन्य की मर्म बात का प्रकाश नहीं करने वाला, मत्सरहीन, गुणग्राही, उत्तम विद्या से युक्त-पुरुष परीक्षक बनाया जाना उचित है ॥ १६८ ॥

प्रजानष्टानहि भवेत्तथा दंडविधायकः ॥१६९॥
नातिक्रूरो नातिमृदुः सहसाधिपतिश्चसः ।

जिस तरह प्रजा नष्ट न होवे, उस तरह का कोमल दण्ड दे वाला दण्ड नायक–बनाया जावे । न तो अत्यन्त कोमल और अत्यन्त कठोर प्रकृति वाले पुरुष को साहसाधिपति बना उचित है ॥ १६९ ॥

आधर्ष केभ्यश्चोरेभ्यो ह्यधिकारि गणात्तथा ॥१७
प्रजा संरक्षणे दक्षोग्रामपोमातृ पितृवत् ।

लुटेरे, चोर, और अधिकारी गणों से जो माता पिता की तरह प्रजा की रक्षा करने में समर्थ हो–उसे राजा ग्रामाधिप बनावे ॥ १७० ॥

वृक्षान्सं पुष्ययत्नेन फल पुष्पं विचिन्विति ॥१७१॥
मालाकार इवात्यंतं भागहारस्तथा विधः ।

माली वृक्षों को यत्न-पूर्वक पुष्ट करके जिस तरह उनके पु और फलों को अच्छी तरह चुनता है, उसी तरह कर का ग्रह करने वाला व्यक्ति, भागदार होना चाहिए ॥ १७१ ॥

गणनाकुशलोयस्तु देशभाषा प्रभेदवित् ॥१७२॥
असंदिग्धम गूढार्थं विलिखेत्स च लेखकः ।

गणना [हिसाब] में चतुर, देश भाषा का जानने वा स्वच्छ और स्पष्ट अर्थ के लिखने में समर्थ पुरुष को लेख बनाना चाहिए ॥ १७२ ॥

शस्त्रास्त्र कुशलो यस्तुदृढांगश्च निरालसः ॥१७३॥
यथायोग्यं समाहूयात्मनम्रः प्रतिहारकः।
यथा विक्रयिणां मूलधन नाशो भवेन्नहि ॥१७४॥
तथा शुल्कं तुहरति शौल्किकः सउदाहृतः।

जिस तरह व्यापारियों के मूलधन का नाश नहीं हो—इस तरह शुल्क [महसूल] को वसूल कर सके-ऐसे पुरुष को शौल्किक [महसूल का अफसर] बनाना उचित है ॥ १७३-१७४ ॥

जपोपवास नियम कर्म ध्यान रतस्सदा ॥१७५॥
दांतः क्षमीनिः स्पृहश्च तपोनिष्ठः स उच्यते।

जप, उपवास, नियम, कर्म, ध्यान आदि में जो संलग्न तथा इन्द्रियों का दमन कर्त्ता, क्षमाशील और निःस्पृह हो, ऐसा पुरुष तपोनिष्ठ—कहाता है ॥ १७५ ॥

याचकेभ्योददात्यर्थं भार्या पुत्रादिकंत्वपि ॥१७६॥
नसंगृह्णाति यत्किंचिद्दानशीलः स उच्यते।

जो पुरुष याचकों को धन दे दे और उनकी रक्षा में भार्या-पुत्र आदि की भी परवाह न करे या उनको बलिवेदी पर चढ़ादे। और इस कार्य का कुछ भी बदला न चाहे, वही उत्तम दानी होता है ॥ १७६ ॥

पठनं पाठनं कर्तुं क्षमास्त्यभ्यासशालिनाम् ॥१७७॥
श्रुतिस्मृति पुराणानां श्रुतज्ञास्ते प्रकीर्तिताः।

जो रात दिन श्रुति, स्मृति और पुराणों के पठनपाठन का अभ्यास करते हैं, और उनकी व्याख्या में समर्थ होते हैं-वे श्रुतज्ञ कहाते हैं ॥ १७७ ॥

साहित्य शास्त्र निपुणः संगीतज्ञश्च सुस्वरः ॥१७८॥
सर्गादि पंचक ज्ञाता स वै पौराणिकः स्मृतः ।

साहित्य शास्त्र का ज्ञाता, मधुर स्वरधारी पुरुष, संगीतज्ञ होता है । सृष्टि, वंश आदि के जानने वाले को पौराणिक कहते हैं ॥ १७८ ॥

मीमांसा तर्क वेदांत शब्द शासन तत्परः ॥१७९॥
ऊहवान्बोधितुं शक्तस्तत्त्वतः शास्त्रविच्चसः ।

जो विद्वान्, मीमांसा, न्याय, वेदान्त, व्याकरण आदिशास्त्रों के पठन पाठन में तत्पर हो । जो उनमें अपनी बुद्धि चला सके तथा समझाने में समर्थ हो । वे शास्त्री होते हैं ॥ १७९ ॥

संहितां च तथा होरांगणितं वेत्तितत्त्वतः ॥१८०॥
ज्योतिर्विच्च सविज्ञेयो त्रिकालज्ञश्चयो भवेत् ।

ज्योतिष के सहित ग्रन्थ, होराग्रन्थ, गणित आदि को जो ठीक २ जानता है, वह तीनों काल के भविष्य की कहने वाला, ज्योतिषी होता है ॥ १८० ॥

बीजानु पूर्व्या मंत्राणां गुणान्दोषांश्च वेत्तियः ॥१८१॥
मंत्रानुष्ठान संपन्नो मांत्रिकः सिद्ध दैवतः ।

मंत्रों के बीजों के साथ मंत्रों के जो गुण दोषों का ज्ञाता हो तथा मन्त्रों के अनुष्ठान को जानता हो। वह-सिद्ध पुरुष मन्त्रिक होता है ॥ १८१ ॥

हेतु लिंगौषधीभिर्यो व्याधीनां तत्वनिश्चयम् ॥१८२॥
साध्या साध्यं विदित्वोपक्रमते सभिषक्स्मृतः

रोग के हेतु, लक्षण, औषधियों के द्वारा जो व्याधि के तत्व को जान लेता है तथा रोग के जो साध्य या असाध्य पन को समझता है वह वैद्य कहाता है ॥ १८२ ॥

श्रुतिस्मृतीतरन्मंत्रानुष्ठानैर्देवतार्चनम् ॥१८३॥
कर्तुं हिततमंमत्वायतते सचतांत्रिकः ।

श्रुति स्मृति तथा अन्य मन्त्रों के अनुष्ठानों से अपना हित सम्पादन करने का जो प्रयत्न करता है, वह तान्त्रिक कहाता है ॥ १८३ ॥

नपुंसकाः सत्यवाचो सुभूषाश्च प्रियंवदाः ॥१८४॥
सुकुलाश्च सुरूपाश्च योज्यास्त्वंतः पुरेसदा ।

नपुंसक, सत्यवादी, सुन्दर वेष भूषा धारी, प्रिय भाषण करने में कुशल, कुलीन, सुन्दर, पुरुषों को राजा अपने रनिवास में नौकर रखे ॥ १८४ ॥

अनन्याः स्वामिभक्ताश्च धर्मनिष्ठा दृढांगकाः॥१८५॥
अबाला मध्यवयसः सेवासुकुशलाः सदा ।

सर्वं यद्यत्कार्यं जातं नीचं वा कर्तुमुद्यताः ॥१८६॥
निदेश कारिणो राज्ञा कर्तव्याः परिचारकाः ।

अन्य किसी के भक्त न रहकर केवल स्वामी के भक्त हो धर्म—में निष्ठा वाले और दृढ़ अङ्गधारी हो। बाल और वृद्ध न हों, सेवा में कुशल हों, जितने भी छोटे-मोटे काम धन्धे हों—उनके करने में आना कानी न करते हों, और राजा की आज्ञा पालन करने को सर्वथा उद्यत हों—ऐसे पुरुषों को राजा सेवक बनावे ॥ १८५-१८६ ॥

राज्ञः समीप प्राप्तानां नतिस्थान विबोधकाः ॥१८७॥
दंडधारा वेत्रधाराः कर्तव्यास्ते सुशिक्षकाः ।

राजा के समीप आने वाले पुरुषों को कहाँ से नमस्कार करना चाहिए, ऐसे स्थान के बोधक सेवक—बड़े सुशिक्षित और दण्ड या छड़ी के धारण करने वाले हों ॥ १८७ ॥

तंत्री कंठोत्थितान्सप्तस्वरान्स्थान विभागतः ॥१८८॥
उत्पादयति संवेत्ति स संयोग विभागतः ।
अनुरागं सुस्वरं च सतालं च प्रगायति ॥१८९॥
सनृत्यंवागायका नामधिपः सच कीर्तितः ।

वीणा के सातों स्वरों को स्थान विभाग से जो उठा देता है। उनके संयोग और विभाग जानता है। राग के अनुसार अच्छे स्वर और ताल में जो गा सकता है या गाने के साथ नांच भी

सकता है—उस पुरुष को गायकों का अधिपति बनाना उचित है ॥ १८८-१८६ ॥

तथा विधाचपएय स्त्री निर्लज्जाभाव संयुता ॥१६०॥
श्रृंगार रस तंत्रज्ञा सुंदरांगी मनोरमा ।
नवीनोत्तुंग कठिन कुचा सुस्मित दर्शिनी ॥१६१॥

गान विद्या में कुशल, किसी की लज्जा नहीं करने वाली गणिका होती है। यह शृङ्गार रस के शास्त्री के—जानने वाली बड़ी सुन्दर और मनोहारिणी होती है। जिसके, नये २ उठे हुए कठिन स्तन हों—वह मुसकुरा कर बोलती हो, वही सर्व श्रेष्ठ गणिका होती है ॥ १६०-१६६ ॥

येचान्ये साधकास्ते च तथा चित्त विरंजकाः ।
सुभृत्यास्ते पिसंधार्या नृपेणात्म हितायच ॥१६२॥

इनके सिवा राज्य कार्य के चलाने वाले जो अन्य सेवक हैं, वे भी चित्त के अनुसार चलने वाले हों। अपने हित के निमित्त राजा—ऐसे उत्तम सेवकों को अपने यहाँ सेवा पद पर नियुक्त करे ॥ १६२ ॥

वैतालिकाः सुकवयो वेत्रदंड धराश्चये ।
शिल्पज्ञाश्च कलावंतो ये सदाप्युपकारकाः ॥१६३॥
दुर्गुणान्सूचका भाणानर्तका वहुरूपिणः ।

वैतालिक (राजा के यश गाने वाले) अच्छे कवि और वेत्र-दण्ड के धारक होने-उचित हैं। जो सदा उपकारक, शिल्प के

ज्ञाता हों—वे कारीगर होते हैं। जो अन्य व्यक्तियों के दुर्गु की सूचना दें, वे भाण (भांड) कहाते हैं। वे बहुत से रूप ब कर नांच भी कर सकते हैं ॥ १६३ ॥

आराम कृत्रिमवनकारिणो दुर्गकारिणः ॥१६४॥
महानालिक यंत्रस्थ गोलैर्लक्ष्य विभेदिनः।
लघुयंत्राग्नेय चूर्ण बाण गोलासि कारिणः ॥१६५
अनेक यंत्र शस्त्रास्त्र धनुस्तूणादि कारकाः।
स्वर्ण रत्नाद्यलंकार घटाकारथ कारिणः ॥१६६॥
पाषाण घटका लोहकारा धातुविलेपकाः।
कुंभकाराः शल्बिकाश्च तक्षिणो मार्ग कारकाः॥१६
नापिता रजकाश्चैवं वांशिका मलहारकाः।
वार्ताहराः सौचिकाश्चि राजचिह्नाग्र धारिणः ॥१६

बाग, बगीचे, दुर्ग निर्माण करने वाले, महानालिक (तोप के गोलों से लक्ष्य के भेदन करने में समर्थ, छोटे २ यन्त्र, आग्नेय चूर्ण (बारूद) बाण, गोले, और तलवार के बनाने वाले तथ अनेक यन्त्र, शस्त्र, अस्त्र, धनुष, तूणीर आदि के रचयित सुवर्ण, रत्नादि से युक्त अनेक—अलङ्कार बनाने वाले, र निर्माण-कर्त्ता, पत्थर और लोहे के गोले बनाने वाले, धातु के ऊपर लेप (मुलम्मा) कर देने में कुशल, नाई, रजक [रंग रेज] बोझों के लाने वाले, मलशोधक [महतर] संदेश-ला ले जाने वाले, सौचिक [दर्जी] आदि राजा के चिन्ह—धार

करने वाले हों अर्थात् राजा इनको देख भाल कर नियत करे और उनको कुछ राज चिन्ह [पेटी] आदि देवे ॥१६४-१६८॥

भेरी पटहगो पुच्छशंख वेणवादिनः स्वनैः ।
ये व्यूह रचनायानापयानादिक बोधकाः ॥१६६॥
नाविकाः खनकाव्याधाः किराता भारिका अपि ।
शस्त्र संमार्जनक राजलधान्य प्रवाहकाः ॥२००॥
आपणिकाश्च गणिका वाद्य जाया प्रजीविनः
तंतुवायाः शाकुनिकाश्चित्रकाराश्च चर्मकाः ॥२०१॥
गृह संमार्जकाः पात्रधान्य वस्त्र प्रमार्जकाः ।
शय्या वितानोस्तरण कारकाः शासकाअपि ॥२०२॥
आमोदाः स्वेद सद्धूपकारास्तां बूलिकास्तथा ।
हीनाल्प कर्मिणश्चैतेयोज्याः कार्यानुरूपतः ॥२०३॥

नगारे, ढोल, रणसिंगे, शंख, वंशीवेन आदि की ध्वनि करने वाले, तथा व्यूहरचना में कुशल, मान-अपमान के समय के बोधक शस्त्र संमार्जन करने वाले, जल और अन्न ले चलने वाले, दुकानदार, वैश्या, बाजे बजाने वाले, स्त्रियों से जीविका करने वाले, तन्तुवाय [जुलाहे] शाकुनिक [शकुन ज्ञाता] चित्रकार, चमेकार, गृह-संयोजक, पात्र, अन्न और वस्त्रों के संशोधक, शय्या विस्तर, वितान आदि के बिछाने तानने वाले, तथा इनके शासक [अफसर] सुगन्धि द्रव्य जलाने वाले, राल आदि धूप के जलाने

वाले, ताम्बूल लगाने वाले, तथा अन्य छोटे बड़े काम करने वाले, सेवकों को उनके काम के अनुसार देख भाल कर राजा नियत कर देवे ॥ १९९-२०३ ॥

प्रोक्तं पुण्यतमं सत्यं परोपकारणं तथा ।
आज्ञा युक्तांश्च भृतकान्सततं धारयेन्नृपः ॥२०४॥

सत्याचरण और परोपकार बड़ा पवित्र माना गया है। राजा आज्ञा में तत्पर नौकरों को ही उनके स्थान रहने दे अन्यथा हटा देवें ॥ २०४ ॥

हिंसागरीयसी सर्वपापेभ्यो नृत भाषणम् ।
गरीयस्तर मेताभ्यां युक्तान्भृत्यान्न धारयेत् ॥२०५॥

सारे पापों से हिंसा अधिक है और उससे भी अधिक मिथ्या-भाषण है। इन दोनों दोषों से युक्त भृत्यों को राजा कभी अपनी सेवा या राज्य के किसी पद पर न रहने देवे ॥ २०५ ॥

यदा यदुचितं कर्तुं वक्तु वातत्प्रबोधयन् ।
तद्वक्तिकुरुतेद्राक्तु ससद्भृत्यः सुपूज्यते ॥२०६॥

जब जो काम करना उचित हो, उसे उसी समय कर डाले और जो बात कहने की हो—उसे राजा को जताकर समय पर कह डाले, वह उत्तम भृत्य कहाता है तथा—उसी का राज दरबार में आदर होता है ॥ २०६ ॥

उत्थायपश्चिमेयामे गृह कृत्यांविचिंत्यच ।
कृत्वोत्सर्गं तु देवंहि स्मृत्वास्नायादनं तरम् ॥२०७॥

प्रातः कृत्यं तु निर्वर्त्य यावत्सार्धं मुहूर्तकम् ।

गत्वास्वकीय शालां वा कार्या कार्यं विचिंत्यच ॥२०८

राजसेवक रात्रि के पिछले पहर में खड़ा हो जावे और अपने गृह कृत्यों का विचार करे। इसके बाद मलमूत्र का त्याग, परमात्मा का स्मरण करके स्नान करे। स्नानान्तर प्रातः कृत्य सन्ध्या वन्दनादि आधे मुहूर्त [एक घड़ी] में समाप्त करले, फिर वह अपने कार्यालय में पहुँचे और वहाँ करने योग्य या नहीं करने योग्य कार्यों का विचार करे॥ २०५-२०८॥

विनाज्ञया विशंतं तुद्वास्थः सम्यङ् निरोधयेत् ।

निदेशकार्यं विज्ञाप्यतेनाज्ञप्तः प्रमोचयेत । २०९॥

जो व्यक्ति राजा के पास जाना चाहे उसे द्वारपाल अच्छी तरह रोके। उस व्यक्ति [अफसर] के आने के कारण को राजा से—निवेदन करे और राजा की आज्ञा होने पर उसे राजा के पास जाने देवे॥ २०९॥

दृष्ट्वा गतान्सभा मध्ये राज्ञे दंडधरः क्रमात् ।

निवेद्यतन्नतीः पश्चात्तेषां स्थानानि सूचयेत् ॥२१०॥

दण्डधर सेवक सभा के मध्य में पहुँचे हुए राज कर्मचारियों का परिचय राजा को करावे तथा उनके प्रणाम-या भेंट की राजा को सूचना दे और उन अफसरों को उनके बैठने के स्थानों की सूचना देवे॥ २१०॥

ततोराजगृहं गत्वाज्ञप्तो गच्छेच्चसन्निधिम् ।
नत्वा नृपं यथान्यायं विष्णुरूप मिवापरम् ॥२११॥
प्रविश्यसानुरागस्य चित्तज्ञस्य समंततः ।
भर्तुरर्धासनेदृष्टिं कृत्वा नान्यत्र निक्षिपेत् ॥२१२॥

आने वाला राजसेवक राजगृह में प्रवेश करे और जब राजा के पास जाने का संकेत हो—तब वह आगे बढ़े। वह राजा को दूसरा विष्णु का रूप समझ कर न्यायानुसार प्रणाम करे। चित्त के अभिप्राय को समझ जाने वाले, अनुराग परायण, अपने स्वामी के पास पहुँच कर केवल उसके आधे—आसन पर दृष्टि रखे। अन्य ओर अपनी दृष्टि को न डुलावे॥ २११-२१२॥

अग्निं दीप्तमिवासी देद्राजान मुपशिक्षितः ।
आशीविषमिव क्रुद्धं प्रभु प्राण धनेश्वरम् ॥२१३॥

राजा के सामने आने की शिक्षा से युक्त राजसेवक, राजा को प्रदीप्त अग्नि के समान समझे। प्राण और धन के ईश्वर-राजा को क्रोध में भरे हुए सर्प के तुल्य समझे॥ २१३॥

यत्नेनोपचरेन्नित्यं नाहमस्मीति चिन्तयेत् ।
समर्थयंश्च तत्पक्षं साधु भाषेत भाषितम् ॥२१४॥

सेवक राजा की बड़े प्रयत्न से सेवा करे—और अपने को राजा के सन्मुख कुछ भी चीज न समझे। इसके अनन्तर राजा के पक्ष का समर्थन करता हुआ ठीक २ भाषण करे॥ २१४॥

तन्नियोगेनवा ब्रूयादर्थं सपरिनिश्चितम् ।
सुख प्रबंध गोष्ठीषु विवादेवादिनां मतम् ॥२१५॥
विजानन्नपिनोब्रूयाद्भर्तुः क्षिप्रोत्तरंवचः ।
सदानुद्धतवेषः स्यान्नृपाहूतस्तु प्रांजलिः ॥२१६॥
तद्वाक्कृतनतिः श्रुत्वा वस्त्रांतरित संमुखः ।
तदाज्ञां धारयित्वा दौस्त्र कर्माणि निवेदयेत् ॥२१७॥

अन्य विवाद के समय राजा की आज्ञा लेकर निश्चित अर्थ का प्रतिपादन करे। जब इस प्रकार की सभा लग रही हो। वाद-विवाद चल रहा हो, तो वादियों के मत को जान कर भी भर्ता के समक्ष शीघ्र २ न बोले। अपनी वेष भूषा सरल और सादा होनी चाहिए। जब राजा उसे बोलने को आमन्त्रित करे—तो हाथ जोड़ कर राजा की वाणी को प्रणाम पूर्वक सुनकर अपने मुख के आगे वस्त्र लगा कर उसकी आज्ञा के अनुसार विषय पर बोले। सेवक (अफसर) प्रथम अपने कार्यों का निवेदन करे ॥ २१५-२१७ ॥

नत्वासीतासने प्रह्वस्तत्पार्श्वे संमुखाज्ञया ।
उच्चैः प्रहसनं कासंष्ठीवनं कुत्सनं तथा ॥२१८॥
जृंभणं गात्रभंगं च पर्वास्फोटं च वर्जयेत् ।
राज्ञादिष्टं तु यत्स्थानं तत्रतिष्ठेन्मुदान्वितः ॥२१९॥

जब राजा बैठने को कहे—तो नम्र होकर आसन पर उसके इधर उधर या सामने बैठ जावे। इस समय जोर से हँसना, खाँसना, गात्र तोड़ना, अंगुलि कड़काना नहीं चाहिए। राजा ने जिस स्थान पर बैठने को कहा उसी स्थान पर प्रसन्नता के साथ बैठ जावे ॥ २१८-२१९ ॥

प्रवीणोचित मेधावी वर्जयेदभिमानताम् ।
आपद्युन्मार्ग गमने कार्य कालात्ययेषुच ॥२२०॥
अपृष्टोपिहितान्वेषी ब्रूयात्कल्याण भाषितम् ।
प्रियं तथ्यं च पथ्यं च वदेद्धर्मार्थकंवचः । २२१॥

बुद्धिमान मनुष्य, अपनी चतुराईके अनुसार अपने अभिमान का त्याग करे। आपत्ति, उलटे मार्ग चलने वाले, कार्य के काल में विलम्ब उपस्थित होने पर राजा का हित चाहने वाला राज-सेवक, कल्याण और हितकारी बात, बिना पूछे भी कह देवे। उस समय प्रिय, तथ्य, पथ्य, धर्मार्थ से युक्त सेवक को वचन कहना चाहिए ॥ २२०-२२१ ॥

समानवार्तयाचापितद्धितं बोधयेत्सदा ।
कीर्तिमन्यनृपाणां वा वदेन्नीतिफलं तथा ॥२२॥

जब राजसेवक की अपने साथियों के साथ बातचीत हो, तब भी राजा के हित की ही चर्चा करे। तथा अन्य राजाओं की कीर्ति और उनकी नीति की सफलता की चर्चा करके अपने राजा की वृद्धि के निमित्त प्रेरणा करे ॥ २२२ ॥

दातात्वं धार्मिकः शूरोनीतिमानसि भूपते ।
अनीतिस्ते तुमन सिवर्ततेन कदाचन ॥२२३॥

हे भूपते ! आप, उदारदानी, धार्मिक, शूरवीर, और नीतिमान् हो। आपके मत में कभी भी अनीति या अन्याय का सञ्चार नहीं होता है ॥ २२३ ॥

येयेभ्रष्टा अनीत्यातांस्तदग्रे कीर्तयेत्सदा ।
नृपेभ्योह्यधिकोसीति सर्वेभ्यो न विशेषयेत् ॥२२४॥

जो २ राजा अनीति से नष्ट होगए—उनका उदाहरण राजा के सन्मुख उपस्थित करे। तुम राजाओं से श्रेष्ठ हो—परन्तु इतना न कहदो, सारे राजाओं से उत्तम हो ॥ २२४ ॥

परार्थं देशकालज्ञो देशकाले च साधयेत् ।
परार्थ नाशनं नस्यात्तथा ब्रूयात्सदैवहि ॥२२५॥

अन्य के प्रयोजन को पूर्ण करने को देश काल पर उसे राजा को सूचित करे। जिस तरह अन्य का प्रयोजन नष्ट न हो, इसी तरह राजा के सन्मुख बातचीत करे ॥ २२५ ॥

नकर्षयेत्प्रजां कार्य मिषतश्च नृपःसदा ।
अपिस्थाणु वदासीत शुष्यन्परिगतः क्षुधा ॥२२६॥
नत्वेवानर्थं सम्पन्नां वृत्तिमीहेत पंडितः ।

राजा, किसी काम का बहाना बनाकर प्रजा का धन न छीने। चाहे लक्कड़ की तरह भूख से मनुष्य, सूख जावे, परन्तु अनर्थ-

सम्पन्न कभी वृत्ति नहीं करे-ऐसा जो जानता है, वही पण्डित है॥ २२६॥

यत्कार्येयोनियुक्तः स्याद्भूयात्तत्कार्यतत्परः ॥२२७॥
नान्याधिकार मन्विच्छेन्नाभ्य सूयाच्च केनचित्।
नन्यूनं लक्षयेत्कस्य पूरयीतस्व शक्तितः ॥२२८॥

राजा ने जिस राजसेवक को जिस कार्य पर लगाया है, वह उसी कार्य में तत्पर होवे, अन्य के अधिकार की कभी वाञ्छा न करे और न किसी की निन्दा करे। किसी की न्यूनता की सूचना (चुग़ली) न करे, किन्तु जहाँ तक हो सके, उसे-पूर्ण करदे॥ २२७-२२८॥

परोपकरणादन्यन्नस्यान्मित्र करंसदा।
करिष्यामी तितेकार्यं न कुर्यात्कार्यलम्बनम् ॥२२६॥

अन्य के उपकार करने से अधिक मित्र कार्य कोई नहीं है। मैं तुम्हारे कार्य को पूरा करूँगा-ऐसा बचन देकर फिर उसके काम में देरी न करे॥ ३२६॥

द्राकुर्यात्तुसमर्थश्चेत्साशं दीर्घं नरक्षयेत्।
गुह्यं कर्म च मंत्रं च न भर्तुः संप्रकाशयेत् ॥२३०॥

यदि अन्य का कार्य अपने हाथ में हो-तो झटपट कर देवे। उस कार्य के किसी भाग को देर तक लटकाये न रखे। अपने-स्वामी के गुप्त मन्त्र और गुप्त कर्म को कभी प्रकाशित नकरे॥ २३०॥

विद्वेषं च विनाशं च मनसापि न चिंतयेत् ॥
राजा परम मित्रोऽस्ति न कामं विचरेदिति ॥२३१॥

किसी के साथ विद्वेष या किसी के विनाश की चिन्ता मन से भी न करे। राजा मेरा परम मित्र है, ऐसा समझकर स्वेच्छा-चारी न बन जावे ॥ २३१ ॥

स्त्रीभिस्तदर्थिभिः पापैर्वैरिभूतैर्निराकृतैः ।
एकार्थचर्यां साहित्यं संसर्गं च विवर्जयेत् ॥२३२॥

राजा ने जिन स्त्रियों को निकाल दिया, तथा उनके प्रेमी वैरिभूत निकाले हुए अपराधियों के साथ एक साथ निवास, एक साथ घूमना, या संगति आदि कुछ भी न करे ॥ २३२ ॥

वेषभाषानुकरणं न कुर्यात्पृथवीपतेः ।
संपन्नोऽपि च मेधावी न स्पर्धेत च तद्गुणैः ॥२३३॥

राजा की वेष भूषा आदि का कभी अनुकरण (नकल) न करे तथा सब कुछ समर्थ होकर भी बुद्धिमान् मनुष्य राजा के से गुणों के यश के पाने की इच्छा भी प्रकट न करे ॥ २३३ ॥

रागापरागौ जानीयाद्भर्तुः कुशल कर्मवित् ।
इंगिताकार चेष्टाभ्यस्तदभिप्रायता तथा ॥२३४॥

कुशलता से कार्य करने वाला राजसेवक, अपने स्वामी के अनुग्रह या कोप के अभिप्राय को इङ्गित [संकेत] आकार और चेष्टाओं से जान लेवे ॥ २३४ ॥

तद्दत्तवस्त्रभूषादि चिह्नं संधारयेत्सदा ।
न्यूनाधिक्यं स्वाधिकार कार्ये नित्यं निवेदयेत् ॥२३५॥

राजा ने जिन वस्त्र और आभूषणों को पुरस्कार में प्रदान किया हो–सेवक उनको धारण करता रहे। जो कुछ अपने अधिकृत कार्य में न्यूनता या अधिकता हो, उसे भी राजा को जतलाता रहे ॥ २३५ ॥

तदर्थांतत्कृतां वार्ताशृणुयाद्वापिकी र्तयेत् ।
चार सूचक दोषेणत्वन्यथा यद्वदेन्नृपः ॥२३६॥

अपने अधिकृत कामों के विषय में राजा के उठाए हुए आक्षेपों को सुने, और उनका उत्तर देवे। राजा गुप्तचरों की सूचना के अनुसार इस तरह की बहकी २ बातें कर सकता है ॥ २३६ ॥

शृणुयान्मौनमाश्रित्य तथ्यवन्नानुमोदयेत् ।
आपद्गतं सुभर्तारंकदापिन परित्यजेत् ॥२३७॥

यद्यपि राजा की बात को चुपचाप सुने, परन्तु आप कह रहे हैं–वह सत्य है, ऐसा अनुमोदन न करे। यदि अपने स्वामी पर कभी आपत्ति आजाये, तो उस समय उसका साथ कभी न छोड़े ॥ २३७ ॥

एकवार मप्यशितं यस्यान्नंह्यादरेणच ।
तदिष्टं चिंतयेन्नित्यं पालकस्यां ज सानकिम् २३८

आदर के साथ समर्पित जिसके अन्न को एकबार भी खा लिया हो, उसका भी हित ही सोचना चाहिए. किन्तु जो सदा पालन करता है, उसके निमित्त तो शीघ्रातिशीघ्र क्या नहीं कर देना चाहिए ॥ २३८ ॥

अप्रधानः प्रधानः स्यात्काले चात्यंत सेवनात् ।
प्रधानोप्य प्रधानः स्यात्सेवालस्यादि नायतः ॥२३९॥

जो आपत्ति के समय में अच्छी तरह सेवा कर देता है, वह अप्रधान सेवक बन सकता है, किन्तु, जो कठिन अवसर के समय सेवा में आनाकानो दिखाता है, या समय पर आलस्य प्रकट करता है, वह प्रधान भी एक दिन अप्रधान होकर रहेगा ॥ २३९ ॥

नित्यं संसेवनरतो भृत्यो राज्ञः प्रियोभवेत् ।
स्वस्वाधिकार कार्यंयद्द्राक्कुर्यात्सु मनायतः ॥२४०॥

जो नित्य सेवा में संलग्न रहता है, ऐसा सेवक ही राजा को प्रिय होता है। अपने २ अधिकार के कार्य, सेवकों को प्रसन्नता के साथ सर्वदा शीघ्र सम्पादित कर देने चाहिए ॥ २४० ॥

नकुर्यात्सहसा कार्यं नीचं राजापिनोदिशेत् ।
तत्कार्य कारका भावे राज्ञा कार्यं सदैवहि ॥२४१॥

राजा बिना विचारे किसी काम को न करे। किसी नीच व्यक्ति को योग्य सेवा की आज्ञा न दे। यदि उस कार्य के सम्पादन

करने वाला कोई योग्य व्यक्ति न मिले तो राजा स्वयं उस काम को पूरा करे ॥ २४१ ॥

काले यदुचितं कर्तुं नीचमप्युत्त मोर्हति ।
यस्मिन्प्रीतो भवेद्राजातदनिष्टं न चिंतयेत् ॥२४२॥

समय के ऊपर नीच काम को उत्तम मनुष्य कर देवे। राजा जिस पर प्रेम रखता हो—उसके अनिष्ट का कभी चिन्तन भी न करे ॥ २४२ ॥

न दर्शयेत्स्वाधिकार गौरवं तु कदाचन ।
परस्परं नाभ्य सूयुर्नभेदं प्राप्नुयुः कदा ॥२४३॥

राजसेवक (अफसर) कभी अपने अधिकार का गौरव प्रदर्शित न करे। परस्पर में अधिकारी न झगड़े, और न आपस में फूट का बीज बोवें ॥ २४३ ॥

राज्ञा चाधिकृताः संतः स्वस्वाधिकार गुप्तये ।
अधिकारि गणो राजा सद्वृत्तौयत्र तिष्ठतः ॥२४४॥
उभौ तत्रस्थिरा लक्ष्मीर्विपुलासं मुखीभवेत् ।
अन्याधिकारवृत्तं तु न ब्रूयाच्छ्रुत मप्युत ॥२४५॥
राजानशृणु यादन्य मुखतस्तु कदाचन ।

राजा ने जिनको जिस कार्य पर लगाया, वे अपने २ अधिकार की रक्षा करें। अधिकारी गण, और राजा जहाँ—ये दोनों सदाचार में स्थित होते हैं, वहीं पर राज्य लक्ष्मी विपुल और अनुकूल होकर स्थित हो जाती है। अन्य के अधिकार की बात यदि ज्ञात

भी हो—तो भी उसकी चर्चा न करे। राजा को चाहिए, कि वह अन्य के मुख से कभी किसी के विषय में न सुने ॥ २४३-२४५॥

नबोधयंति च हितमहितं चाधिकारिणः ॥२४६॥
प्रच्छन्न वैरिणस्ते तुदास्य रूप मुपाश्रिताः।

जो अधिकारी राजा को हित या अहित का बोध न करावे, वे तो सेवक बने हुए प्रच्छन्न वैरी समझने चाहिए ॥ २४६ ॥

हिताहितं न शृणोति राजा मंत्रिमुखाच्चयः ॥२४७॥
सदस्यू राज रूपेण प्रजानां धनहारकः।

मन्त्रियों के मुख से जो राजा, हिताहित की बात नहीं सुनता है, उसे राजा के रूप में लुटेरा समझना चाहिए ॥ २४७ ॥

सुपुष्टव्यवहारायै राजपुत्रैश्च मंत्रिणः ॥२४८॥
विरुध्यंतिचतैः साकंतेतु प्रच्छन्नतस्कराः।

जो मन्त्री राजपुत्रों के साथ गाढ़े-प्रेम का व्यवहार करते हैं, वे उत्तम मन्त्री हैं तथा जो राजपुत्रों से बिरोध बढ़ा लेते हैं, उनको छुपे हुए चोर समझना चाहिए। २४८ ॥

बालाअपि राजपुत्रानाव मान्यास्तु मंत्रिभिः ॥२४९॥
सदा सुबहु बचनैः संबोध्यास्ते प्रयत्नतः।
असदाचरितं तेषां क्वचिद्राज्ञे न दर्शयेत् ॥२५०॥
स्त्री पुत्र मोहोबलवांस्तयोर्निंदानश्रेयसे।

राजपुत्र, कितने ही बालक हों—मन्त्रियों को उनकी उपेक्षा या अपमान नहीं करना चाहिए। मन्त्री, उनको सर्वदा बहुवचन से सम्बोधित करके आदर के साथ उनसे वार्तालाप करे। राजकुमार जो कुछ अनुचित बात भी कहे—तो भी राजा को सूचना न देवें। संसार में स्त्री और पुत्र का मोह बलवान है, इससे इनकी राजा के समक्ष निन्दा करना कल्याण जनक नहीं है ॥ २४९-२५० ॥

राज्ञोवश्यतरं कार्यं प्राण संशयितं चयत् ॥२५१॥
आज्ञापयाग्रतश्चाहं करिष्ये तत्तुनिश्चितम् ।
इतिविज्ञाप्यद्राक्तुं प्रयतेत स्वशक्तितः ॥२५२॥

राजा का जो आवश्यक कार्य हो या जिसमें प्राणों का संकट हो, उसे आगे होकर राजा से कहे, कि आप मुझे आज्ञा दीजिए-मैं इसको निश्चय पूरा करके लाऊँगा। इतना राजा को सूचित करके उसके करने में झटपट प्रवृत्त ही हो जावे ॥ २५१-२५२ ॥

प्राणान पिचसंदद्यान्महत्कार्यें नृपायच ।
भृत्यः कटुंब पुष्ट्यर्थंनान्यथा तु कदाचन ॥२५३॥

जब राजा का कोई महान् कार्य उपस्थित हो तो उसके लिए सेवक प्राण तक समर्पित करदे, इससे भविष्य में शेष परिवार की अच्छी वृद्धि होती है। परिवार की वृद्धि का अन्य इससे अच्छा उपाय नहीं है ॥ २५३ ॥

भृत्याधनहराः सर्वेयुक्त्या प्राणहरो नृपः ।
युद्धादौसुमहत्कार्ये भृत्य प्राणान्हरेन्नृपः ॥२५४॥

सेवक तो राजा से धन ही लेते हैं, परन्तु राजा तो सेवक के प्राण भी युक्ति से ले सकता है अर्थात् प्रेम पूर्वक राजा प्राण संकट के कार्य में उन्हें प्रेम के साथ नियुक्त कर सकता है। यदि युद्ध आदि-महान् कार्यों की उपस्थित हो जावे तो राजा भृत्यों के प्राणों से भी अपनी रक्षा कर सकता है ॥ २५४ ॥

नान्यथा भृतिरूपेण भृत्यो राजधनं हरेत् ।
अन्यथा हरतस्तौतुभवतश्च स्वनाशकौ ॥२५५॥

यदि प्राण देने की भृत्य की सामर्थ्य न हो तो वह कभी राज-धन के लेने का अधिकारी नहीं हैं। इन कालों के अतिरिक्त स्वार्थ से सेवक धन या राजा प्राणों का अपहरण करे—तो वे दोनों अपने अपने नाश के कारण बन जाते हैं ॥ २५५ ॥

राजानुयुवराजस्तु मान्योमात्यादिकैः सदा ।
तन्न्यूनामात्यनवकं तन्न्यूनाधि कृतोगणः ॥२५६॥

राजा के बाद युवराज का पद है। अमात्य आदि अधिकारी इसी तरह इसको भी मानते रहें। इससे न्यून पद तो अमात्या-दिकों का है और उससे न्यून मात्र अधिकारी गण माना गया है ॥ २५६ ॥

मंत्रितुल्यश्चायुति कोन्यूनः साहस्रि कोमतः ।
न क्रीडयेद्राज समं क्रीडितेतं विशेषयेत् ॥२५७॥

दश हजार सेना का अधिपति का पद मन्त्री के तुल्य होता है। सहस्र सैनिकों के अधिपति का पद मन्त्री से न्यून है। राजा के साथ कभी खेल न खेले और खेले तो उसको जितावे, या उसका विशेष ध्यान रखे ॥ २५७ ॥

नावमान्या राजपत्नी कन्याद्यपि च मंत्रिभिः।
राज संबंधिनः पूज्याः सुहृदश्चयथार्हतः ॥२५८॥

मन्त्री लोग, कभी राजपत्नी या राजकन्या का कभी अपमान न करे। मन्त्रियों को तो राजा के सम्बन्धी तथा सुहृद् गण भी यथा योग्य माने गये हैं॥ २५८ ॥

नृपाहूतस्तुरंगच्छेत्त्यक्त्वाकार्य शतं महत्।
मित्रायापिन्वक्तव्यं राजकार्यं सुमन्त्रितम् ॥२५९॥

जब राजा बुलावे, तो सैकड़ों बड़े २ कामों को छोड़कर भी भाग कर जावे। राजा का सुमन्त्रित कार्य को अपने बड़े से बड़े मित्र से भी न कहे॥ २५९ ॥

भृतिं विनाराज द्रव्य मदत्तं नाभि लाषयेत्।
राजाज्ञया विनानेच्छेत्कार्य माध्यस्थिकींभृतिं ॥२६०॥

अपने वेतन को छोड़ कर राजा के दिए हुए पुरस्कार के सिवा राजधन से राजसेवक हाथ भी न लगावे। तथा राजा की आज्ञा के विना अपनी नौकरी से कुछ उत्तम या सर्वोत्तम पद की भी इच्छा न करे॥ २६० ॥

ननिहन्याद्द्रव्य लोभात्सत्कार्यं यस्यकस्यचित् ।
स्वस्त्री पुत्र धन प्राणैः काले संरक्षयेन्नृपम् ॥२६१॥

अपने द्रव्य के लोभ से किसी के भी अच्छे कार्य का राजाधिकारी नाश न करे। अपने स्त्री, पुत्र, धन और प्राणों से भी समय पर राजा की रक्षा करे। २६१ ॥

उत्कोचं नैवगृह्णीयान्नान्यथा बोधयेन्नृपम् ।
अन्यथादंडकं भूपं नित्यं प्रबल दंडकम् ।२६२।

निगृह्यबोधयेत्सम्यगेकांते राज्यगुप्तये ।
हितं राज्ञश्चाहितं यल्लोकानांतत्र कारयेत् । २६३॥

राजसेवक कभी उत्कोच (रिश्वत) न लेवे और राजा को कभी उलटी पट्टी न पढ़ावे। सेवक राजा को एकान्तमें उलटे दण्ड या अधिक दण्ड के दोष समझा देवे। इसीसे राज्य की रक्षा होना सम्भव है। यदि प्रजा और राजा के काम में विरोध आजावे—तो जो राजा का हित हो, वही राजा से करवावे ॥ २६२-२६३ ॥

नवीन कर शुल्कादेर्लोक उद्विजतेततः ।
गुण नीति बलद्वेषी कुल भूतोप्य धार्मिकः ॥२६४॥
नृपो यदि भवेत्तं तुत्य जेद्राष्ट्र विनाशकम् ।

नये नये कर और शुल्कों (महसूलों) से लोग उद्वेजित (तंग) हो जाते हैं। जो राजा प्रजा के गुण, नीति और बल का द्वेषी है,

वह कुल क्रमागत राजा होने पर उसे अधार्मिक राजा क
जावेगा अर्थात् ऐसे राजा को राज्य का अधिकार नहीं है। पूर्वो
अवगुणों से युक्त यदि राजा हो—तो ऐसे राष्ट्र विनाशक राज
की भक्ति का परित्याग कर देवे ॥ २६४ ॥

तत्पदे तस्यकुलजं गुणयुक्तं पुरोहितः ॥२६५॥
प्रकृत्यनुमतिं कृत्वास्थापयेद्राज्य गुप्तये।

पुरोहित इस राजा के स्थान पर राजकुल से उत्पन्न कि
दूसरे अधिकारी (हक़दार) व्यक्ति को चुनले। अपनी प्रजा
सम्मति लेकर राज्य रक्षा के उद्देश्य से उसे सिंहासन प
स्थापित करे॥ २६५ ॥

सास्त्रो दूरं नृपात्तिष्ठेदस्त्रपाताद्बहिः सदा ॥२६६॥
सशस्त्रोदशहस्तं तु यथादिष्टं नृपप्रियाः।

अस्त्रधारी राजसेवक, अस्त्र लेकर राजा से डियूटी पर स्थि
होवे, कि कहीं राजा पर अस्त्र गिर न पड़े। राजा के प्रिय रक्ष
राजा की आज्ञानुसार राजा से दश हाथ की दूरी पर स्थित होवे

पंचहस्तां वसेयुर्वै मंत्रिणो लेखकाः सदा ॥२६७॥
सेनपैस्तु विनानैवस शस्त्रास्त्रो विशेत्सभाम्।
पुरोहितः श्रेष्ठतरः श्रेष्ठः सेनापतिः स्मृतः ॥२६८॥

राजा से पाँच हाथ की दूरी पर मन्त्री और लेखकों
आसन (गद्दियां) होने चाहिए। सेनापति के सिवा कोई
पुरुष शस्त्रास्त्र से सुसज्जित राजसभा में प्रवेश न करे। राजा

साथियों में सर्व श्रेष्ठ पुरोहित का पद है और उसके बाद सेना-पति का पद माना जाना चाहिए ॥ २६७-२६८ ॥

समः सुहृच्च संबधी ह्यु त्तमा मंत्रिणः स्मृताः ।
अधिकारि गणो मध्योऽधमौ दर्शक लेखकौ ॥२६९॥
ज्ञेयो धमतमो भृत्यः परिचारगणः सदा ।
परिचार गणान्न्यूनो विज्ञेयोनीच साधकः ॥२७०।
पुरोगमन मुत्थानं स्वासने सन्निवेशनम् ।
कुर्यात्सुकुशल प्रश्नं क्रमात्सुस्मित दर्शनम् ॥२७१॥
राजा पुरोहिता दीनांत्वन्येषां स्नेह दर्शनम् ।
अधिकारि गणादीनां सभास्थश्च निरालसः ॥२७२॥

राजा के सम्बन्धी और सुहृदों का सम (मध्यम) स्थान माना गया है। मन्त्री गण उत्तम माने जाते हैं। अधिकारियों के गण मध्यम, और दर्शक या लेखकों का साधारण (अधम) स्थान है। अन्य सेवा करने वाले भृत्य इससे भी अधिक अधम (निकृष्ट) माने जाते हैं। इस परिचारक गण से भी नीच काम करने वाले सेवक अधम हैं ॥ २६९-२७० ॥ राजा पुरोहित को आता देखकर उठकर आगे लेने जावे। सेनापति को देख कर खड़ा हो जावे। यदि कोई सुहृद या सम्बन्धी आवे—तो उसे अपने आसन पर बैठा लेवे। यदि मन्त्री गण में से कोई आवे, तो उससे कुशल प्रश्न करे। इसके बाद अन्य राज सेवकों की ओर मुसकुराकर

देखलो। यह सब कुछ शिष्टाचार पुरोहित आदि के विषय में बताया गया है। अन्य साधारण जनों की ओर तो स्नेह के साथ देख लेना ही पर्याप्त है। सभा में स्थित राजा, आलस्य छोड़कर अधिगणों के साथ वही पूर्वोक्त व्यवहार कर दिखावे ॥२६६-२७२॥

विद्यावत्सु शरच्चंद्रो निदाघार्को द्विषत्सुच।
प्रजा सु चवसंतार्कइव स्यात्त्रिविधोनृपः ॥२७३॥

विद्वानों के साथ राजा का व्यवहार शरद ऋतु के चन्द्रमा का सा होवे। ऋतुओं में ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के सदृश जाज्वल्यमान रहे। प्रजा में वसन्त ऋतु के सूर्य के सदृश (न ग्रीष्म और न शीत) राजा बन जावे। इस तरह राजा को तीन तरह का रहना चाहिए॥ २७३ ॥

यदि ब्राह्मण भिन्नेषु मृदुत्वं धारयेन्नृपः।
परि भवंतितं नीचायथा हस्तिप कागजम् ॥२७४॥

यदि राजा ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य के साथ मृदुता का व्यवहार करेगा—तो नीच पुरुष, उसका इस तरह तिरस्कार कर देंगे—जैसे हाथी का हथवान् तिरस्कार करते हैं॥ २७४॥

भृत्याद्यैर्न कर्तव्याः परिहासाश्च क्रीडनम्।
अपमानास्पदेते तु राज्ञो नित्यं भयावहम् ॥२७५॥

राजा को अपने भृत्यों के साथ परिहास (हँसी दिल्लगी) और क्रीड़ा नहीं करनी चाहिए परिहास और क्रीड़ा न तो राजा

का अपमान करने वाले हैं, जिनसे राजा को भय उत्पन्न हो सकता है ॥ २७५ ॥

पृथक्पृथक्ख्यापयंति स्वार्थ सिद्ध्यै नृपायते ।
स्वकार्ये गुणवक्तृत्वात्सर्वे स्वार्थ परायतः ॥२७६॥

ये लोग, अपने स्वार्थ के सिद्ध करने के लिए राजा को भिन्न भिन्न प्रकार से पदार्थ को प्रदर्शित करते हैं, क्योंकि ये अपने काम के गुणों की डोंग मारा करते हैं, इससे इनको स्वार्थी ही समझना चाहिए ॥ २७६ ॥

विकल्पंतेत्र मन्यं ते लंघयंति च तद्वचः ।
राजभोज्यानि भुंजंति न तिष्ठंतिस्वके पदे ॥२७७॥

ये स्वार्थी राजसेवक, राजा की आज्ञा में झंझट खड़ी कर देते हैं, कि ऐसा नहीं होना चाहिए। इनसे राजा प्रसन्न नहीं होता, इससे ये राजा का अपमान भी कर देते हैं और उसकी आज्ञा का भी उल्लंघन कर जाते हैं। ये राजा के उपभोग के पदार्थों को आप उड़ा लेते हैं, और अपने अधिकार के भीतर नहीं रहते ॥ २७७ ॥

विस्रंसयंति तन्मंत्रं विवृण्वंति च दुष्कृतम् ।
भवंति नृपवेषाहि वंचयंति नृपंसदा ॥२७८॥

ये दुष्ट लोग, राजा के मन्त्र को खोल देते हैं, और उसके दुष्कृत (बुरे कर्म) का प्रकाश कर देते हैं। यद्यपि ये राजा के

अनुसार वेष धारण करते हैं, अर्थात् राजचिन्ह पेटी आदि प
रहते हैं, परन्तु वास्तव में ये तो राजा की वञ्चना क
रहते हैं ॥ २७८ ॥

तत्स्त्रियं सज्जयंतिस्म राज्ञि क्रुद्धेहसंतिच ।
व्याहरंतिचनिर्लज्जा हेलयंति नृपंक्षणात् ॥२७६॥

आज्ञा मुल्लंघयंतिस्मनभयं यांत्य कर्मणि ।
एते दोषाः परीहास क्षमा क्रीडोद्भवा नृपे ॥२८०॥

जब कोई अवसर आता है, तभी राजा की आज्ञा का उल्लंघ
कर देते हैं और राजा के विरुद्ध अकर्म करने में भी ये न
हिचकते । ये राजा के सन्मुख निलज्ज होकर अपने दुराग्रह
अड़े रहते हैं, और क्षण भर में राजा को प्रतारित कर (बहका
देते हैं । राजा की स्त्रियों से व्यभिचार कर बैठते हैं और रा
के क्रोध करने पर भी हँसते रहते हैं । ये सारे दोष तभी उत्प
होते हैं, जब राजा अपने भृत्यों के साथ–परिहास (हँसी दिल्लगी
उनके अपराधों को क्षमा कर देते हैं । अथवा उनके साथ खेल
रहते हैं ॥ २७६-२८० ॥

नकार्यं भृतकः कुर्यान्नृप लेखाद्विना क्वचित् ।
नाज्ञा पयेल्लेखनेन विनाल्पंवामहन्नृपः ॥२८१॥

कोई भी नौकर राजा के लिखे आज्ञा पत्र के बिना कि
काम को न कर पाये । राजा भी चाहे, छोटी आज्ञा हो या ब
विना लेख के उसे जारी न करे ॥ २८१ ॥

भ्रांतेः पुरुष धर्मत्वाल्लेख्यं निर्णायकं परम् ।
अलेख्यमाज्ञा पयतिह्य लेख्यं यत्करोतियः ॥२८२॥
राजकृत्य मुभौचोरौनौ भृत्य नृपती सदा ।
नृपसंचिह्नितं लेख्यं नृपस्तन्ननृपोनृपः ॥२८३॥

भूल जाना तो पुरुष का एक स्वभाव है। लेख ही किसी बात का सच्चा निर्णायक होता है। जो राजा बिना लेख के आज्ञा दे और जो राजसेवक बिना लिखे राज कार्य करने में प्रवृत्त हो जावे-ये दोनों चोर ही समझने चाहिए। राजा की मुद्रा (मुहर) से निकला हुआ लेख ही राजा है। राजा का शरीर राजा नहीं होता ॥ २८२-२८३ ॥

समुद्रं लिखितं राज्ञा लेख्यं तच्चोत्तमोत्तमम् ।
उत्तमं राजलिखितं मध्यं मंत्र्यादिभिः कृतम् ॥२८४
पौर लेख्यं कनिष्ठं स्यात्सर्वं संसाधन क्षमम् ।

जिस लेख (आज्ञापत्र) पर राजा की मुद्रा (मुहर) लग चुकी वह सब से अधिक आवश्यक पत्र होगया। जिस पर मुहर न लगी, परन्तु राजा का लेख है, उसका स्थान मुद्रा वाले से न्यून है। मन्त्री आदि के लेख का पद इनसे न्यून मानना चाहिए। पुरवासियों का लेख यद्यपि सारे साधनों से युक्त हो—तो भी वह कनिष्ठ माना गया है ॥ २८४ ॥

यस्मिन्यस्मिन्हि कृत्ये तु राज्ञा योधिकृतोनरः ॥२८
सामात्य युवराजादिर्यथानुक्रमतश्चसः ।
दैनिकं मासिकं वृत्तं वार्षिकं बहु वार्षिकम् ॥२८६
तत्कार्यं जात लेख्यं तु राज्ञे सम्यङ् निवेदयेत् ।
राजाद्यंकितलेख्यस्य धारयेत्स्मृति पत्रकम् ॥२८७

राजा ने जिस २ मनुष्य को जिस जिस काम पर लगा दिया वे अमात्य से लेकर युवराज तक, क्रम से दैनिक, मासिक, वार्षिक बहु वार्षिक, कामों की सूचना (रिपोर्ट) राजा के सन्मुख रखें हैं। इन वृत्तों की सूचना की स्मृति-पत्र (रसीद) भी कर्मचारि गण अवश्य प्राप्त किया करें ॥ २८५-२८७ ॥

काले तीते विस्मृतिर्वा भ्रांतिः संजायते नृणाम् ।
अनुभूतस्यस्मृत्यर्थं लिखितं निर्मितं पुरा ॥२८८॥

जब समय बहुत बीत जाता है, तो लोग, भूल जाया करते हैं या उसमें कुछ का कुछ प्रतीत होने लगता है, इससे जो बात हो चुकी उसके स्मरण रखने के लिए पूर्वोक्त लेख लिखने की आज्ञा प्रदान की गई है ॥ २८८ ॥

यत्नाच्च ब्रह्मणावाचां वर्णस्वर विचिह्नतम् ।
वृत्त लेख्यं तथाचायव्यय लेख्यमितिद्विधा ॥२८९

ब्रह्मा जी ने बड़े प्रयत्न के साथ वर्ण स्वर के चिन्ह अक्षर की कल्पना की है। इनके द्वारा वृत्त लेख्य, और आय व्यय लेख्य ये दो प्रकार के लेख लिखे जाते हैं ॥ २८९ ॥

व्यवहार क्रिया भेदादुभयं बहुतांगतम् ।

यथोपन्यस्त साध्यार्थ संयुक्तं सोत्तर क्रियम् ॥२९०॥

सावधारणकं चैव जयपत्रक मुच्यते ।

ये दोनों प्रकार के लेख व्यवहारों के भेद से-बहुत से भेदों को प्राप्त हो जाते हैं। आज्ञा के अनुकूल कर्तव्य अर्थ से संयुक्त, अगले कर्तव्य का निरर्थक, निश्चित आज्ञा सहित पत्र (राजा की स्कीम) जय पत्र कहाता है ॥ २९० ॥

सामंतेष्वथ भृत्येषु राष्ट्रपालादिकेषु यत् ॥२९१॥

कार्यमादिश्यते येनतदाज्ञापत्र मुच्यते ।

सामन्त, भृत्य, राष्ट्रपालादिकों को जो काम करने की आज्ञा दी जावे, वह आज्ञापत्र कहाता है ॥ २९१ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्य मन्येष्वभ्यर्चिते षुच ॥२९२॥

कार्यं निवेद्यते येन पत्रं प्रज्ञापनं हितत् ।

ऋत्विक पुरोहित, आचार्य तथा अन्ये पूज्य व्यक्तियों को कार्य करने की प्रेरणा की जावे-वह प्रज्ञापन पत्र कहाता है ॥२९२॥

सर्वेशृणुत कर्तव्य माज्ञयामम निश्चितम् ॥२९३॥

स्वहस्तकाल संपन्नं शासनं पत्र मेवतत् ॥

आप सब लोग मेरी-आज्ञा द्वारा अपने कर्तव्य को सुनो। तुमको निश्चय रूप से यह करना चाहिए-ऐसी आज्ञा से संयुक्त

राजा के हस्ताक्षरों से जो पत्र निकले—वह शासन पत्र कहाता है ॥ २६३ ॥

देशादिकं यस्यराजा लिखितेन प्रयच्छति ॥२६४॥
सेवाशौर्यादि भिस्तुष्टः प्रसाद लिखितं हि तत् ।
भोगपत्रं तु करदीकृतं चोपायनी कृतम् ॥२६५॥
पुरुषा वधिकं तत्तुकला वधिक मेववा ।

राजा जिस किसी भी पुरुष को उसकी शूरवीरता सेवा आदि से सन्तुष्ट होकर जो भूमि ग्राम आदि प्रदान लिख कर करता है, इस लेख को तोषपत्र कहते हैं। कर और भेंट के सम्बन्ध में लिए पत्र भोगपत्र कहाते हैं। यह भोगपत्र, पुरुष के जीवन पर्यन्त या काल की कुछ अवधि को लेकर चलता है ॥ २६४-२६५ ॥

विभक्तायेच भ्रात्राद्याः स्वरुच्यातु परस्परम् ॥२६६॥
विभागपत्रं कुर्वीत भाग लेख्यं तदुच्यते ।

भ्राता आदि सम्मिलित पुरुषों ने अपनी रुचि के अनुसार जो बटवारा कर लिया और इसका जो लेख बना, वह भाग लेख्य कहाता है ॥ २६६ ॥

गृह भूम्यादिकं दत्त्वापत्रं कुर्यात्प्रकाशकम् ॥२६७॥
अनाच्छेद्य मनाहार्यं दान लेख्यं तदुच्यते ।

जो पुरुष, घर भूमि आदिक कुछ देकर उसका प्रमाण पत्र प्रदान करता है और उसमें लिख देता है, कि मैं इसे कभी नहीं

छीनूंगा और न ग्रहण करूंगा—ऐसा लेख दान पत्र कहाता है ॥ २६७ ॥

गृहक्षेत्रादिकं क्रीत्वा तुल्य मूल्य प्रमाणयुक् ॥२६८॥
पत्रंकारयतेयत्तु क्रयलेख्यं तदुच्यते ।

घर और खेत आदि का विक्रय करके, उसके मूल्य और नाप का जो प्रमाण पत्र होता है, वह क्रय लेख्य कहाता है ॥ २६८ ॥

जंगमस्थावरं बद्धं कृत्वा लेख्यं करोतियत् ॥२६९॥
ग्रामोदेशश्च यत्कुर्यात्सत्य लेख परस्परम् ।
राजा विरोधि धर्मार्थं संवित्पत्रं तदुच्यते ॥३००॥

किसी जंगम (पशु) या स्थावर (आभूषण) आदि को बद्ध (गिरवी) करके जो लेख्य लिखा जाता है, वह बद्ध लेख्य होता है। ग्राम और देश के लोग, परस्पर मिलकर जो राजा का—अविरोधी कोई लेख लिखा जाता है, वह संवित्पत्र होता है ॥ २६९-३०० ॥

वृद्धया धनं गृहीत्वातु कृतं वा कारितं च यत् ।
ससाक्षिमच्च तत्प्रोक्त मृण लेख्यं मनीषिभिः ॥

अन्य से जो ब्याज सहित ऋण लिया जाता है, या दिलाया जाता है। इस पर साक्षियों से युक्त जो लेख बनाया जाता है—वह ऋण लेख्य माना गया है ॥ ३०१ ॥

अभिशापे समुत्तीर्णे प्रायश्चित्ते कृतेबुधैः
दत्तं लेख्यं साक्षिमद्यच्छुद्धि पत्रं तदुच्यते ॥३०२॥

जो अभिशाप (शर्त) पूरे कर दिए गए हों, या समा
निमित्त जो प्रायश्चित करना चाहिए—वह कर लिया गया हो—
विषय का जो लेख्य कोई साक्षियों सहित लिखा जावे—तो
शुद्धि पत्र कहाता है ॥ ३०२ ॥

मेलयित्वास्वधनां शान्व्यवहाराय साधकाः ।
कुर्वंति लेख पत्रं य त्तच्च सामायिकं स्मृतम् ॥२०

अपना २ धन डाल कर जो व्यवहार (व्यापार) चला
जाता है, इस साझे के पत्र को सामयिक पत्र कहते हैं। समय
नाम शर्त का है, इसमें साझीदार मिलकर अपनी २ शर्त लिख
हैं, इससे यह सामयिक पत्र कहाता है ॥ ३०३ ॥

सभ्याधिकारि प्रकृति सभासद्भिर्नयः कृतः ।
तत्पत्रं वाद्यमान्यं चेज्ज्ञेयं संमति पत्रकम् ॥३०४॥

जो सभ्य, अधिकारी, अमात्य, तथा सभासद आदि ने जो
अपने २ अधिकार के अनुसार निर्णय किया है, उसका जो दोनों
वादियों के मानने योग्य पत्र हैं, वह सम्मति पत्र कहाता है।३०

स्वकीय वृत्त ज्ञानार्थं लिख्यते यत्परस्परम् ।
श्रीमंगल पदाद्य वास पूर्वोत्तर पत्तकम् ॥३०५॥
असंदिग्धम गूढार्थं स्पष्टाक्षर पदंसदा ।
अन्यव्यावर्तक स्वात्म पर्यापत्रादि नामयुक् ॥३०६

एकद्वि बहुवचनैर्यथार्हस्तुति संयुतम् ।
समामास तदर्धाहर्नाम जात्यादि चिह्नितम् ॥३०७॥
कार्यबोधि सुसंबंधनत्याशीर्वाद पूर्वकम् ।
स्वाम्य सेवक सेव्यार्थं क्षेमपत्रं तु तत्स्मृतम् ॥३०८॥

अपने इतिहास के ज्ञान के लिए जो लिखा गया हो, जिसमें श्री आदि माङ्गलिक पद आदि में हों, जिसमें पूर्व और उत्तर दोनों पक्ष लिखे गए हों; जिसमें संदिग्ध अक्षर न हों, जो अगूढ़ और स्पष्टाक्षरों से सयुक्त हों, अन्य के हटाने के निमित्त अपने २ पिता आदि का नाम हो, जिसमें एकद्वि और बहुवचन यथा स्थान प्रयुक्त हुए हों; जिसमें यथा योग्य पूज्यों की प्रशंसा हों, वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम और जाति के चिन्ह हों, जो कार्य का बोधक हो, जिसका सम्बन्ध अच्छा जुड़ता हो, जिसमें नमस्कार आशीर्वाद का भी परिचय हो; स्वामी सेवक और सेवन योग्य कार्य का जिसमें निर्देश हो, उसे क्षेम पत्र कहते हैं ॥ ३०५-३०८ ॥

एभिरेवगुणैर्युक्तं स्वाधर्षक विबोधकम् ।
भाषा पत्रं तु तज्ज्ञेयमथवा वेदनार्थकम् ॥३०९॥

पूर्वोक्त गुणों से युक्त तथा, अपने दुःखों का जिसमें अधिक वर्णन हो अथवा अपने पर किए गए किसी के आक्रमण का वर्णन हो, उसे भाषा पत्र कहते हैं ॥ ३०९ ॥

प्रदर्शितं वृत्तलेख्यं समासाल्लक्षणान्वितम् ।
समासात्कथ्यते चान्यच्छेषाय व्ययबोधकम् ॥३१०॥

यहाँ तक वृत्त लेख्य आदि पत्रों के लक्षण, संक्षेप में प्रदर्शित कर दिए गए। अब शेष आय पत्र व्यय पत्र आदि के बोधक पत्रों का संक्षेप में लक्षण कहते हैं ॥ ३१० ॥

व्याप्यव्यापक भेदैश्च मूल्यमानादिभिः पृथक्।
विशिष्टसंज्ञितैस्तद्धि यथार्थैर्बहु भेदयुक् ॥३११॥
वत्सरे वत्सरे वापिमासिमासि दिनेदिने।
हिरण्य पशुधान्यादि स्वाधीनंचाय संज्ञकम् ॥३१२॥

छोटी बड़ी चीजें, मूल्य तोल, आदि से भिन्न भिन्न विशेष विशेष संज्ञाओं से युक्त, उन उन संज्ञाओं के अनुसार नामधारी बहुत से लेख पत्र [रजिष्टर] होते हैं। उनमें प्रतिवर्ष, प्रतिमास और प्रति दिन की आमदनी लिखी जाती है। कितना सुवर्ण पशु, धान्य आदि की आमदनी हुई–इस प्रकार की आमदनी का जिसमें उल्लेख होता है, वह आय पत्र कहाता है ॥ ३११-३१२ ॥

पराधीनं कृतंयत्तुव्यय संज्ञंधनं च तत्।
साधकश्चैव प्राचीन आयः संचित संज्ञकः ॥३१३॥

जो धन अन्य के अधीन कर दिया गया–वह व्यय होता है। जो प्राचीन आय आने वाले कार्यों की साधक हो–उसे सञ्चित-धन कहते हैं ॥ ॥ ३१३ ॥

व्ययोद्विधा चोप भुक्तस्तथाविनि मयात्मकः।
निश्चितान्यस्वामिकश्चानिश्चितस्वामिकस्तथा ॥३१४॥

स्वस्वत्व निश्चितं चेतित्रिधंवि संचितंमतम् ।
निश्चितान्य स्वामिकं यद्धनं तु त्रिविधं हितत् ॥३१५।

व्यय भी दो प्रकार का माना गया है। एक तो जिसका उपभोग कर लिया गया हो, दूसरा विनिमयात्मक अर्थात् दूसरे को समर्पित कर दिया गया हो। सञ्चित धन के भी निश्चितान्य स्वामिक और अनिश्चितान्य स्वामिक तथा स्वस्वत्व निश्चित ये तीन भेद होते हैं, जिस सञ्चित धन के स्वामी का निश्चय हो— वह निश्चितान्य स्वामिक होता है और जिस धन का कोई स्वामी न दिखाई दिया हो, वह अनिश्चितान्य स्वामिक द्रव्य होता है तथा जिस पर अपना स्वत्व (अधिकार) निश्चित होगया, वह स्वस्वत्व निश्चित है। इसी तरह निश्चितन्य स्वामिक धन के भी तीन भेद हैं ॥ ३१४-३१५ ॥

औपनिध्यं याचित कमौत्तमर्णिक मेवच ।
विस्रं भान्निहितं सद्भिर्यदौपनिधिकं हितत ॥३१६॥

[१] औपनिध्य, [२] याचितिक और [३] तीसरा औत्तमर्णिक—ये इसके भेद हैं। जिस धन को विश्वास पूर्वक अपने यहाँ रख लिया हो, वह औपनिध्य कहाता है ॥ ३१६ ॥

अवृद्धिकं गृहीतान्यालंकारादि च याचितम् ।
सवृद्धिकं गृहीतंयदणां तच्चौत्त मर्णिकम ॥३१७॥

विना सूद लिया हुआ द्रव्य या आभूषण आदि पदार्थ याचित द्रव्य कहाता है। जिस धन को वृद्धि [ब्याज] के साथ

स्वीकार किया हो—वह ऋण कहाता है और उसको ही यदि वृद्धि के निमित्त ग्रहण किया गया—तो वह ऋण, औत्तमर्णिक द्रव्य कहाता है ॥ ३१७ ॥

निध्यादिकं च मार्गादौ प्राप्तमज्ञात स्वामिकम् ।
साहजिकं चाधिकँ च द्विधास्वस्वत्व निश्चितम् ॥३१८॥

जिसके स्वामी का पता न हो, ऐसा कोई कोश अचानक मिल जावे, तो यह स्वस्वत्व निश्चित धन साहजिक कहाता है, तथा जो ब्याज से धन बढ़ गया—वह अधिक कहाता है ॥ ३१८ ॥

उत्पद्यते योनियतो दिनेमासि च वत्सरे ।
आयः साहजिकः सैवदायाद्यश्च स्ववृत्तितः ॥३१९॥

दिन, मास और वर्ष में जो आमदनी निश्चित रूप से प्रति-वर्ष, प्रति मास और प्रति दिन प्राप्त होती रहे, वह साहजिक आमदनी होती है । इसमें भाइयों के बटवारे का प्रश्न खड़ा हो जाता है, क्योंकि यह तो अपनी वृत्ति से उपलब्ध होने के कारण भाई के भाग की वस्तु है ॥ ३१९ ॥

दायः परिग्रहो यत्तु प्रकृष्टं तत्स्वभावजम् ।
मौल्याधिक्यं कुसीदं च गृहीतं याजनादिभिः ॥३२०॥

जो वस्तु दायभाग में आई हो—वह प्रकृति से मिलने वाली थी, इससे उसे श्रेष्ठ माना गया है । इसी तरह मूल्य में जो अधिक लाभ हुआ हो, ब्याज मिला हो और यज्ञादि की दक्षिणा में मिला हो—वह भी प्रकृष्ट [श्रेष्ठ] धन होता है ॥ ३२० ॥

पारितोष्यं भृति प्राप्तं विजिताद्यं धनंचयत्।
स्वस्वत्वाधिक संज्ञंत दन्यत्साहजिकं स्मृतम् ॥३२१॥

जो राजा के द्वारा पारितोषिक रूप में मिले, जो वेतन से प्राप्त हो. तथा जो जीत में मिला हो—यह सारा धन स्वस्वत्वाधिक संज्ञक होता है। इसके अतिरिक्त अन्य धन साहजिक कहाता है॥ ३२१॥

पूर्ववत्सर शेषं च वर्तमानाब्द संभवम्।
स्वाधीनं संचितं द्वेधाधनं सर्वं प्रकीर्तितम् ॥३२२॥

पूर्व वर्ष का—शेष और वर्तमान संवत्सर का सञ्चित धन—इस प्रकार सञ्चित दान दो प्रकार का है, जो अपने अधिकार में होता है॥ ३२२॥

द्वेधाधिकं साहजिकं पार्थिवेतर भेदतः।
भूमिभाग समुद्भूत आयः पार्थिव उच्यते ॥३२३॥

अधिक और साहजिक धन भी दो प्रकार का होता है, एक तो जो भूमि से मिले तथा दूसरे जो पृथिवी से इतर स्थानों से प्राप्त हो। जो पृथिवी से धन प्राप्त होता है, वह पार्थिव—कहाता है॥ ३४३॥

सदैव कृत्रिमजलैर्देशग्राम पुरैः पृथक्।
बहु मध्याल्प फलतो भिद्यते भुविभागतः ॥३२४॥

जो नहर आदि के कृत्रिम जल से, देश ग्राम या पुर से प्राप्त हो, वह अधिक, मध्य और अल्प भेद से तीन प्रकार का होता है।

यह भूमि से प्राप्त होने वाले पार्थिव धन के विषय में कहा गया है ॥ ३२४ ॥

शुल्कदंडाकर कर भाटकोपायनादिभिः ।
इतरः कीर्तितस्तज्ज्ञै रायो लेख विशारदैः ॥३२५॥

शुल्क [महसूल] दण्ड, आकार [खान] उपायन [भेंट] आदि से जो धन प्राप्त हो–वह पार्थिवतर द्रव्य कहाता है, क्योंकि वह–भूमि से पृथक् मार्गों से प्राप्त होता है। लेख विशारद लोग ऐसा ही मानते आए हैं ॥ ३२५ ॥

यन्निमित्तोभवेदायोऽव्ययस्तन्नाम पूर्वकः ।
व्ययश्चैवं समुद्दिष्टो व्याप्य व्यापक संयुतः ॥३२६॥

जिस कारण [महकमें] से जो आमदनी हो, उसको उसी महकमे में खर्च करनी उचित है। इस प्रकार व्यय भी व्याप्य व्यापक माना गया है ॥ ३२६ ॥

पुनरावर्तकः स्वत्व निवर्तक इतिद्विधा ।
व्ययोयन्निध्युपनिधि कृतो विनिमयैर्वृतः ॥३२७॥

व्यय भी पुनरावर्तक और स्वत्वनिवर्तक भेद से दो प्रकार का है। निधि, उपनिधि–और विनिमय कृत भेद से व्यय तीन तरह का हुआ ॥ ३२७ ॥

सुकुसीदाकुसीदा धमर्णि कश्चावृत्तः स्मृतः ।
निधिर्भूमौ विनिहितोन्यस्मिन्नुपनिधिः स्थितः ॥

दत्त मूल्यादि संप्राप्तः सर्वैविनिमयी कृतः ।
वृद्धया वृद्धया च योदत्तो सर्वैस्यादा धमर्णिकः ॥

जो व्याज या विना व्याज के ऋण दिया जाता है, वह व्यय आवर्तक व्यय होता है। जो धन पृथिवी में गाड़ दिया जावे, वह निधि और अन्य के पास धरोहर रख दिया जावे, वह उपनिधि कहाता है। दिए हुए मूल्य से जो वस्तु प्राप्त हो, वह विनिमय कृत व्यय है। जो व्याज अथवा विना व्याज के ऋण दिया जावे, वह आधमर्णिक कहाता है॥ ३२६ ॥

सवृद्धिकमृणं दत्तम कुसीदं तु याचितम् ।
स्वत्वं निवर्तको द्वेधात्वैहिकः पारलौकिकः ॥३३०॥

जो ब्याज के लिये दिया जावे—वह तो ऋण है और जो विना ब्याज दिया जावे-वह याचित कहाता है। स्वत्वनिवर्तक व्यय भी इस लोक और परलोक के उद्देश्य से दिया जाता है, इससे दो प्रकार का होता है ॥ ३३० ॥

प्रतिदानं पारितोष्यं वेतनं भोग्य मैहिकः ।
चतुर्विधस्तथा पारलौकिकोनन्त भेदभाक् ॥३३१॥

प्रतिदिन. पारतोषिक, वेतन और भोज्य-ये चार प्रकार का व्यय इस लोक के उद्देश्य से होता है। परलोक के उद्देश्य से किया गया व्यय अनन्त भेद वाला होता है॥ ३३१ ॥

शेषेसंयोजयेन्नित्यं पुनरावर्तकोव्ययः ।
मूल्यत्वेन च यद्दत्तं प्रतिदानं स्मृतं हितत् ॥३३२॥

जो शेष धन में धन रखवा दिया जावे—वह पुनरावर्तक होता है, क्योंकि वह फिर ले लिया जाता है ॥ ३२२ ॥

सेवा शौर्यादि संतुष्टैर्दत्तं तत्पारितोषिकम् ।

भृति रूपेण संदत्तं वेतनं तत्प्रकीर्तितम् ॥३२३॥

सेवा शूरवीरता आदि से प्रसन्न होकर जो द्रव्य दिया जाता है, वह पारितोषिक कहाता है। जो भरण पोषण के निमित्त द्रव्य दिया जावे, वह वेतन कहाता है ॥ ३२३ ॥

धान्यं वस्त्र गृहाराम गो गजादि रथार्थकम् ।

विद्या राज्याद्यर्जनार्थं धनाप्त्यर्थं तथैवच ॥३३४॥

व्ययीकृतं रक्षणार्थ मुप भोग्यं तदुच्यते ।

धान्य, वस्त्र, गृह, बगीचे, गौ, गज, रथ आदि तथा विद्या राज्य अधिक लाभ एवं धन की प्राप्ति के निमित्त या उसकी रक्षा में जो धन का व्यय किया जाता है, वह उपभोग कहाता है।३३४।

सुवर्ण रत्न रजत निष्कशालास्त थैवच ॥३३५॥

रथाश्व गोगजोष्ट्रा जावीनशालाः पृथक्पृथक् ।

वाद्य शस्त्रास्त्रवस्त्राणां धान्य संभार योस्तथा ॥३३६॥

मन्त्री शिल्पनाट्य वैद्य मृगाणां पाक पक्षिणाम् ।

शाला भोग्ये निविष्टास्तु तद्व्ययो भोग्य उच्यते ॥

सुवर्ण, चाँदी, रत्न, निष्क (सुवर्ण की मुहर) शाला, एवं रथ, अश्व, गौ, गज, उष्ट्र, अज और भेड़ों, की शाला, वाद्य, शस्त्र,

अस्त्र, वस्त्र, और अन्न-भण्डार की शाला पृथक् पृथक् बनानी चाहिए। मन्त्री, शिल्प, नाट्य, वैद्य, मृग, पाक पक्षी, आदि की शाला और उनमें नियुक्त-सेवकों पर जो व्यय होता है, वह भोग्य व्यय कहाता है ॥ ३३५-३३७ ॥

जप होमार्चनैर्दानैश्चतुर्धापारलौकिकः ।
पुनर्यातो निवृत्तश्च विशेषाय व्ययौचतौ ॥३३८॥

जप, होम, अर्चन और दान इन चारों में किया हुआ व्यय पारलौकिक व्यय कहाता है, जो व्यय फिर आजावे, वह विशेष आय और जो आयके लिए दिया हुआ फिर न आवे, वह विशेष व्यय होता है ॥ ३३८ ॥

आवर्तको निवर्तीचव्ययायौतु पृथग्द्विधा ।
आवर्तक विहीनौ तुव्ययायौ लेखको लिखेत् ॥३३९॥

आने वाला और नहीं आने वाला आय और व्यय पृथक् २ दो प्रकार का होता है। जो आने वाला व्यय और नहीं आने वाला व्यय है, उसको लेखक-लिखता रहे ॥ ३३९ ॥

क्रया धमर्ण घटनान्यस्थलाप्ते निवर्तकः ।
द्रव्यं लिखित्वा दद्यात्तु गृहीत्वा विलिखेत्स्वयम् ॥

क्रय, (खरीद) ऋण, किसी घटना या अन्य स्थल में व्यय हो जावे—वह निवर्तक होता है। जो द्रव्य दिया-जावे उसे लिखकर देना चाहिए और जो आवे-उसे लिखकर लेना उचित है ॥ ३४० ॥

हीयते वर्धते नैव मायव्यय विलेखकः ।
हेतु प्रमाण संबंध कार्यांग व्याप्य व्यापकैः ॥३४१॥

आय और व्यय का लेख घटाना और बढ़ाना नहीं चाहिए। इसमें हेतु प्रमाण, सम्बन्ध, और न्यून अधिक भाव से कार्य के अङ्गों का उल्लेख होना चाहिए ॥ ३४१ ॥

आयाश्च बहुधाभिन्नाव्ययाः शेषं पृथक्पृथक् ।
मानेन संख्यया चैवोन्मानेन परिमाणकैः ॥३४२॥

आय के अनेक भेद हैं। शेष और व्यय भी पृथक् २ होते हैं। मान, सख्या उन्मान और परिमाण के भेद से उनकी बहुत सी संख्या हो जाती है ॥ ३४२ ॥

क्वचित्संख्या क्वचिन्मानमुन्मान परिमाणकम् ।
समाहारः क्वचिच्चेष्टो व्यवहारायतद्विदाम् ॥३४३॥

कहीं पर संख्या, कहीं पर मान, कहीं उन्मान और कहीं पर परिमाण होता है तथा कहीं पर व्यवहार की सिद्धि के लिए ये चारों एकत्रित हो जाते हैं ॥ ३४३ ॥

अंगुलाद्यं स्मृतं मानमुन्मानं च तुलास्मृता ।
परिमाणं पात्रमानं संख्यैकद्व्यादि सांज्ञिका ॥३४४॥

अंगुलि आदि से जो मापा-जावे, वह मान होता है। तराजू बाटों से जो तोला जावे, वह उन्मान कहाता-है। किसी पात्र से

जो नापा जावे, उस परिमाण कहते हैं और संख्या तो एक दो गिन कर हिसाब लगाने को कहते ही हैं ॥ ३४४ ॥

यत्रया द्रव्यव्यवहारस्तत्रता ह्कप्रकल्पयेत् ।
रजत स्वर्ण ताम्रादि व्यवहारार्थं मुद्रितम् ॥३४५॥

इनमें से जिस देश में जैसा व्यवहार हो, उसका वैसा ही उपयोग करे। चाँदी, सोना, ताँबा और लोहे के तोलने-के बाट बनाये जावे ॥ ३४५ ॥

व्यवहार्यं वराटाद्यं रत्नांतं द्रव्य मीरितम् ।
स पशु धान्य वस्त्रादि तृणांतं धन संज्ञकम् ॥३४६॥

कौड़ी से लेकर रत्न तक व्यवहार की वस्तु हैं। पशु, अन्न, वस्त्र, तृण इत्यादि सब कुछ धन संज्ञक होते है ॥ ३४६ ॥

व्यवहारेचाधिकृतं स्वर्णाद्यं मूल्यतामियात् ।
कारणादि समा योगात्पदार्थस्तु भवेद्भुवि ॥३४७॥

बेचने आदि के निमित्त रखे हुए सुवर्ण का मोल होता है। अन्य कारण के योग से वही सुवर्ण द्रव्य या पदार्थ कहाता है ॥ ३४७ ॥

येन व्ययेन संसिद्धस्तद्व्ययस्तस्य मूल्यकम् ।
सुलभा सुलभत्वाच्चा गुणत्व गुण संश्रयैः ॥३४८॥

जो वस्तु जितने व्यय से मिले—वह उसका मूल्य कहाता है। सुलभ और असुलभ भेद से उनके गुण और अवगुण की पड़ताल होती है ॥ ३४८ ॥

यथा कामात्पदार्थानामनर्घमधिकं भवेत् ।
नहीनं मणि धातूनां क्वचिन्मूल्यं प्रकल्पयेत् ॥३४९॥

जैसी पदार्थों की विक्री होती है, वैसा उनका मूल्य बढ़ जाता है मणि और सुवर्ण आदि धातुओं का मूल्य एक घटता बढ़ता नहीं है ॥ ३४९ ॥

मूल्यहानिस्तु चैतेषां राजदौष्ट्येन जायते ।
दीर्घे चतुर्भाग भूतपत्रे तिर्यग्गतावलिः ॥३५०॥

इन मणि आदि के मूल्य की न्यूनता राजा की दुष्टता से होती है। दीर्घ चौकोना पत्र हो, जिसमें टेढ़ी पंक्ति हो। लिखने के योग्य ऐसा ही पत्र माना गया है ॥ ३५० ॥

त्र्यंशगाभ्यंतर गताचार्ध गापादगापिवा ।
कार्या व्यापक व्याप्यानां लेखने पद संज्ञिका ॥३५१॥

ये पंक्तियां (लाइन) पत्र के तीन भाग में भीतर की ओर हों या आधे भाग तथा चौथाई भाग में भी खैंची जा सकती हैं छोटे बड़े काम के सम्बन्ध में लिखने को ऐसे ही पत्र की आवश्यकता है ॥ ३५१ ॥

श्रेष्ठाभ्यंतरगाता सुवामतस्त्र्यं शगाप्यनु ।
दक्षत्र्य शगता चानुह्यर्धगो पादगाततः ॥३५२॥

उनमें भीतर की ओर की पंक्ति बड़ी सुन्दर होनी चाहिए बांयी ओर तीन भाग दांयी ओर तीन भाग तथा चौथाई भाग में होनी चाहिए ॥ ३५२ ॥

स्वाभ्यां तरेस्वभेदाः स्युः सदृशाः सदृशेपदे ।
स्वारंभ पूर्ति सदृशे पदगेस्तः सदैवहि ।३५३॥

पत्र के भीतर एक सी पंक्ति हो । जैसी पंक्ति खैंची हो—वैसी ही खैंची जावे । जैसी पंक्ति आरम्भ की हो, वैसी ही पूरी चली जानी चाहिए ॥ ३५३ ॥

राजा स्वलेख्य चिह्नं तु यथाभिलाषितं तथा ।
लेखानुरूपे कुर्याद्धि दृष्ट्वा लेख्यं विचार्यच ॥३५४॥

उस पत्र के ऊपर राजा अपनी इच्छानुसार मुहर का चिन्ह लगवा देवे । उस लेख को देखकर और उसको विचार कर उसीके अनुसार राज चिन्ह होना चाहिए ॥ ३५४ ॥

मंत्री च प्राड् विवाकश्च पंडितो दूत संज्ञकः ।
स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं लिखेयुः प्रथमंत्विमे ॥३५५॥

मन्त्री, वकील, पण्डित और दूत—ये ऐसे लेख को इस तरह सुन्दर लिखे—जिससे उनके पद के अयोग्य प्रमाणित न हो ।३५५।

अमात्यः साधु लिखितमस्त्येतत्प्रागलिखेदयम् ।
सम्यग्विचारित मिति सुमंत्रो विलिखेत्ततः ॥३५६॥
सत्यं यथार्थ मिति च प्रधानश्च लिखेत्स्वयम् ।
अंगीकर्तुं योग्यमितिततः प्रतिनिधिर्लिखेत् ॥३५७॥

यह लेख, अच्छी तरह लिखा गया है. यह बात प्रथम अमात्य लिखे-इसके बाद सुमन्त लिखे, कि यह लेख भली प्रकार विचार

लिया गया है। फिर प्रधान लिखे, कि यह सत्य और यथार्थ है प्रतिनिधि उस पर मुहर लगावे, कि यह पत्र सबको मानना चाहिए॥ ३५७॥

अंगी कर्तव्य मिति च युवराजो लिखेत्स्वयम्।
लेख्यं स्वाभिमतं चैतद्विलिखेच्च पुरोहितः॥३५८

युवराज उस पर यह लिख दे, कि यह अवश्य—माननीय है यह लेख हमें भी अभिमत है—इस प्रकार की सम्मति पुरोहित उस लेख पत्र कर दे॥ ३५८॥

स्वस्वमुद्राचिह्नितं च लेख्यांते कुर्युरेवहि।
अंगीकृतमितिलिखेन्मुद्रयेच्च ततोनृपः॥३५६॥

ये लोग, लेख्य पत्र के लिखे जाने पर उस पर अपने २ नाम की मुहर लगादें। इन सबके पश्चात् राजा भी उस पर हस्ताक्षर करे, कि हमने भी इसको मन्जूर कर लिया है॥ ३५६॥

कार्यां तरस्या कुलत्वात्सम्यग्द्रष्टुं न शक्यते।
युवराजादि भिर्लेख्यं त दानेन च दर्शितम्॥३६०

यदि कामों की अधिकता के कारण राजा उन लेख पत्रों को न देख सके—तो राजा की आज्ञा से युवराज आदि को देखले और उस पर राजा स्वीकृत दे दे॥ ५६०॥

समुद्रं विलिखेयुर्वै सर्वे मंत्रिगणास्ततः।
राजा दृष्ट मितिलिखेद्द्राक्सम्यग्दर्शनाच्चमः॥३६१॥

मन्त्रिगण भी जो अपने अधिकार से पत्र लिखें–उस पर अपनी मुहर लगादें। यदि जल्दी से जल्दी राजा देखने में असमर्थ हो–तो भी राजा ने देख लिया–ऐसी मुहर प्रत्येक पत्र पर होनी चाहिए अर्थात राजा की आज्ञा से जो उस पत्र का निरीक्षण करे–वह ऐसा लिखने का अधिकार रखता है॥ ३६१॥

आयमादौ लिखेत्सम्यग्व्ययं पश्चाद्यथा गतम्।
वामेचायं व्ययं दक्षेपत्रभागे च लेखयेत्। ३६२॥

बही खाते में प्रथम आमदनी लिखे और फिर उसमें व्यय को लिखे, बही के बांयी ओर आमदनी और दांयी ओर खर्च लिखना चाहिए ॥ ३६२ ॥

यत्रो भौ व्यापकू व्याप्यौवामोर्ध्व भागगौक्रमात।
आधा राधेय रूपौवा कालार्थौ गणितं हि तत्॥३६३॥
अधोधश्च क्रमात्तत्र व्यापकं वामतो लिखेत्।
व्याप्यानां मूल्य मानादितत्पंक्त्यां विनिवेशयेत ॥

जिस पत्र में अवयव द्रव्य या अवयवी द्रव्य का लिखना हो–उसमें बांयी ओर अवयव द्रव्य लिखा जाना चाहिए इसका आधार और आधेय रूप होगया अर्थात् अवयवी (मूल) द्रव्य आधार अवयव (व्याज) द्रव्य आधेय समझना चाहिए। यह गणित किसी भी काल में हिसाब के निकाल लेने को होती है। ऊपर नीचे क्रम से बांयी ओर व्यापक द्रव्य लिखा जाना चाहिए–

और जो व्याप्य वस्तुओं का मूल्य मान आदि भी उसी पंक्ति में लिख देवे ॥ २६३-२६४ ॥

ऊर्ध्वं गानां तु गणितं मधः पंक्त्यां प्रजायते ।
यत्रो भौव्यापक व्याप्यौ व्यापकत्वेन संस्थितौ ॥३६

ऊपर लिखी हुई रकमों का जोड़ नीचे की पंक्ति में लगाया जावे। यह तभी होगा-जब अधिक देश व्यापी द्रव्य और न्यून देश व्यापी द्रव्य-एक कोटि में मान लिए गए हों ॥ ३६५ ॥

व्यापकं बहुवृत्तित्वं व्याप्यं स्यान्न्यून वृत्तिकम् ।
व्याप्याश्चावयवाः प्रोक्ता व्यापकोऽवयवोस्मृतः ॥३६६

जिसका बहुत स्थानों से सम्बन्ध हो, वह व्यापक होता है और जो न्यून देश वृत्ति होता है, वह व्याप्य माना गया है। अवयव (अङ्ग) को व्याप्य और अवयवी (अङ्गी) को व्यापक कहते हैं ॥ ३६६ ॥

सजातीनां च लिखनं कुर्याच्च समुदायतः ।
यथा प्राप्तं तु लिखनमाद्यं न समुदायतः ॥३६७॥

जो सजातीय (लोहे लोहे और पीतल पीतल आदि) पदार्थ हों-उनके समूहका एक स्थान में उल्लेख रखे। जो वस्तु जिस क्रम से प्राप्त हुई उसे क्रम से लिखे, आगे पीछे न करे ॥ ३६७ ॥

व्यापकश्च पदार्था वा यत्र संतिस्थलानिहि ।
व्याप्यमायां व्ययं तत्रकुर्यात्काले न सर्वदा ॥३६८॥

जिस स्थान पर कोई पदार्थ, या स्थल व्यापक हो—वहाँ आय व्यय को व्याप्य समझ लेना चाहिए ॥ ३६८ ॥

स्थान टिप्पणिका चैषा ततोन्यत्संघ टिप्पणम् ॥
विशिष्ट संज्ञितं तत्र व्यापकं लेख्य भाषितम् ॥३६९॥

यह स्थान की टीपना है और यह संघ का लेख टीपा गया है। इस लेख का नाम विशिष्ट लेख्य होता है, जो व्यापक माना गया है ॥ ३६९ ॥

आयाः कतिव्ययाः कस्यशेषं द्रव्यस्यचास्तिवै ।
विशिष्ट संज्ञकैरेषां संविज्ञानं प्रजायते ॥३७०॥

कितनी आय हुई, कितना व्यय हुआ कितना अभी शेष है। इस बात का पता विशिष्ट संज्ञक पत्र से लगता है ॥ ३७० ॥

आदौ लेख्यं यथा प्राप्तं पश्चात्तद्गणितं लिखेत् ।
यथा द्रव्यं च स्थानं चाधिक संज्ञं च टिप्पणे ॥३७१

प्रथम तो जिस तरह वस्तुएँ आई हों—उसी तरह उनका प्रवेश (इन्द्रराज) करे। पीछे उसकी छांट करे। उनमें जो वस्तु जिस द्रव्य के मेल की हो, जिस स्थान की हो उसे अधिक संज्ञा के नाम से बही में टीप देवे ॥ ३७१ ॥

शेषायव्यय विज्ञानं क्रमाल्लेख्यैः प्रजायते ।
स्थलाय व्यय विज्ञानं व्यापक स्थलतो भवेत् ॥३७२

शेष आय और व्यय का विज्ञान क्रम पूर्वक लेखों से ही होता है। स्थान की आय और व्यय का ज्ञान व्यापक स्थल से होता है अर्थात् बड़े ग्राम के कागजातों से पता लगता है ॥३७२॥

पदार्थस्य स्थलानिस्युः पदार्थाश्च स्थलस्यतु ।
व्याप्यास्तिथ्यादयश्चापि यथेष्टा लेखने नृणाम् ॥३७३॥

पदार्थ के स्थल और स्थल के पदार्थ होते हैं अर्थात् किस स्थान में कौन पदार्थ होते हैं या किन पदार्थों को कौन से स्थल उत्पन्न करते हैं। यह सब लिखा जाना चाहिए। व्याप्य तिथि आदि भी मनुष्यों को इच्छानुसार लिखनी ही चाहिए ॥ ३७३॥

निश्चितान्य स्वामिकाद्या आयाये इतरांतगाः ।
विशिष्ट संज्ञिकाये च पुनरावर्तकादय ॥३७४॥
व्ययाश्च परलोकांता अन्तिम व्यापकाश्चते ।
इच्छयाताडितं कृत्वादौ प्रमाण फलंततः ॥३७५॥
प्रमाण भक्तंतल्लब्धं भवेदिच्छाफलं नृणाम् ।
समाततोलेख्य मुक्तं सर्वेषां स्मृति साधनम् ॥३७६॥

जिन आमदनियों के अन्य स्वामी निश्चित है, ऐसी इतर अङ्कों वाली, आय तथा विशिष्ट संज्ञक, और पुनरावर्तक व्यय और परलोक निमित्त व्यय, अन्तिम व्यापक कहाते हैं। इच्छानुसार इनकी पड़ताल करके फिर प्रमाण का फल (जोड़ बाकी) निकाले। इससे प्रमाण के भाग की उपलब्धि हो जाती है, इससे मनुष्यों को अपनी इच्छा का फल (जिज्ञासा) की पूर्ति निकल

आता है। इस प्रकार सबके स्मृति के साधन लेखों का यहाँ संक्षेप से वर्णन किया है ॥ ३७४-३७६ ॥

गुंजामाषस्तथाकर्षः पदार्थः प्रस्थएवहि ।
यथोत्तरादश गुणादं च प्रस्थस्य चाढकाः ॥३७७॥
ततश्चाष्टाढकः प्रोक्तोह्यर्मणस्ते तु विंशतिः ।
खारिकास्माद्भिद्यते तद्देशेदेशे प्रमाणकम् ॥३७८॥

गुञ्जा, मासा, कर्ष, पदार्थ और प्रस्थ—ये क्रम से दश गुने होते हैं अर्थात् दश गुञ्जा का एक मासा और दश मासों का एक कर्ष होता है। पांच प्रस्थ का एक आढ़क माना गया है। आठ आढ़क का एक अर्मण होता है—और बीस अर्मण की एक खारी मानी गई है। प्रत्येक देश में इन तोलों में कुछ भिन्नता भी रहती है ॥ ३७७-३७८ ॥

पंचांगुलावटं पात्रं चतुरंगुल विस्तृतम् ।
प्रस्थपादं तु तज्ज्ञेयं परिमाणे सदाबुधैः ३७९॥

पांच अंगुल गहरा और चार अंगुल चौड़ा पात्र प्रस्थ पाद होता है। बुद्धिमान् प्रस्थ पदार्थ के नांपने में इससे काम लेते आए हैं ॥ ३७९ ॥

ऊर्ध्वांकश्च यथा संज्ञस्तदधस्याश्च वामगाः ।
क्रमात्स्वदश गुणिताः परार्धांताः प्रकीर्तिताः ॥३८०॥

ऊपर जो अङ्क हो, उसके नीचे अङ्क लिखते चले जाओ एक दहाई बढ़ाते जाओ, तो परार्द्ध पर्यन्त संख्या बनती चली जावेगी ॥ ३८० ॥

नकर्तुं शक्यते संख्या संज्ञा कालस्य दुर्गमात्।
ब्रह्मणोद्विपरार्धं तु आयुरुक्तं मनीषिभिः ॥३८१॥

इसके आगे मनुष्य कहां तक संख्या चला सकता है, क्योंकि काल तो अनन्त है, इससे व्यवहार योग्य परार्द्ध को समझ कर यहीं संख्या को रोक दिया गया है। मनीषियों ने ब्रह्मा की आयु दो परार्द्ध की मानी है ॥ ३८१ ॥

एकोदशशतं चैव सहस्रं चायुतं क्रमात्।
नियुतं प्रयुतं कोटिरर्बुदं चाब्ज खर्वकौ ॥३८२॥
निखर्व पद्म शंखाब्धि मध्यमांतपरार्धकाः।
कालमानंत्रिधाज्ञेयं चांद्रं सौरं च सावनम् ॥३८३॥

एक, दश, शत, सहस्र, दश सहस्र, लक्ष, दश लक्ष, करोड़, अरब, अब्ज, खरब, निखर्व, पद्म, शंख, अब्धि, मध्य, अन्त, परार्द्ध, संज्ञक संख्या होती है। काल का मान तीन तरह का होता है। एक चान्द्र गणना दूसरी सौर गणना और तीसरी सावन (अमावस्या) से होती है ॥ ३८४-३८३ ॥

भृतिदाने सदा सौरंचांद्रं कौसीद वृद्धिषु।
कल्पयेत्सावनं नित्यं दिन भृत्येव धौसदा ॥३८४॥

वृत्ति दान में सौर मास का ग्रहण होता है। व्याज वृद्धि में चान्द्र मान लिया गया है और जो प्रति दिन की मजदूरी करते हैं, उनकी गणना सावन (अमा) से होनी चाहिए॥ ३८४॥

कार्य माना कालमाना कार्यकाल मितिस्त्रिधा।

भृतिरुक्तातुतद्विज्ञैः सादेया भाषिता यथा॥३८५॥

कार्य के मान, काल के मान तथा कार्य और काल के मान से भृति (मजदूरी) तीन तरह की बताई गई है। इसमें जिससे जौनसी ठहर जावे, उसी के अनुसार उसको वृत्ति देनी चाहिए॥ ३८५॥

अयं भारस्त्वया तत्रस्थाप्यस्त्वेतावतीं भृतिम्।

दास्यामि कार्य मानासा कीर्तिता तद्विदेशकैः॥३८६॥

इस भार को तुम वहाँ ले चलो, तुमको यह मिल जावेगा—यह भृति कार्य माना कहाती है॥ ३८६॥

वत्सरे वत्सरे वापि मासि मासिदिनेदिने।

एतावतीं भृतितेहं दास्यामीति च कालिका॥३८७॥

तुमको प्रतिवर्ष या प्रतिमास इतना वेतन मिला करेगा—यह काल माना भृति कहाती है॥ ३८७॥

एतावता कार्यमिदं काले नापित्वया कृतम्।

भृति मेतावतीं दास्ये कार्यकालमिता च सा॥३८८॥

इतने काल में तुमको इतनी वृत्ति मिलेगी—इस तरह ठहरा कर जो काम करवाया जावे, वह कार्य काल मिता भृति मानी गई है॥ ३८८॥

नकुर्याद्भृतिलोपं तु तथाभृति विलम्बनम् ।
अवश्य पोष्य भरणा भृतिर्मध्या प्रकीर्तिता ॥३८९॥
परिपोष्याभृतिः श्रेष्ठासमान्नाच्छादनार्थिका ।
भवेदेकस्य भरणं ययासाहीन संज्ञिका ॥३९०॥

किसी के भृति (वेतन) दान के देने में जाल साज़ी नहीं करनी चाहिए और न उसके देने में देर करनी उचित है। जिससे केवल आवश्यकीय कार्यों का सञ्चालन हो—वह भृति मध्यम कहाती है। अन्न वस्त्र आदि से—जो सारे घर की अच्छी तरह पूर्ति हो जावे-वह उत्तम भृति (वृत्ति) होती है। जिससे केवल एक का ही पेट भरे, वह अधम वृत्ति है ॥ ३८९-३९० ॥

यथा यथा तु गुणवान्भृतकस्तद्भृतिस्तथा ।
संयोज्यातु प्रयत्नेन नृपेणात्म हितायवै ॥३९१॥

जिन जिन गुणों से युक्त सेवक हो, उसको उतनी ही भृति अवश्य देनी चाहिए। इसीमें राजा प्रजा दोनों का हित है॥३९१॥

अवश्य पोष्यवर्गस्य भरणं भृतकाद्भवेत् ।
तथा भृतिस्तु संयोज्यायद्योग्या भृतकायवै ॥३९२॥

दी हुई भृति से ही अपने अवश्य पोषण करने योग्य परिवार का पोषण होता है। जो सेवक जिस वृत्ति के योग्य हो, राजा उसको उतनी ही भृति (वृत्ति) प्रदान करे ॥ ३९२ ॥

येभृत्याहीन भृतिकाः शत्रवस्तेस्वयंकृताः ।
परस्य साधकास्ते तु छिद्रकोश प्रजाहराः ॥३९३॥

राजा जिन सेवकों को न्यून वृत्ति देता है, वह उनको एक प्रकार का शत्रु बना लेता है। वे शत्रु के साधक बन जाते हैं और समय पर राजा के छिद्र प्रकाशित करके कोश का अपहरण करने वाले होते हैं, जिससे प्रजा को कष्ट पहुँचता है॥ ३६३॥

अन्नाच्छादन मात्राहि भृतिः शूद्रादिषुस्मृता।
तत्पाप भाग्यन्यथा स्यात्पोषको मांस भोजिषु॥३६४

भोजन और आच्छादन मात्र का जिससे निर्वाह चल सके, राजा शूद्र को इतनी पर्याप्त वृत्ति प्रदान करे। जो मांस भक्षकों का अधिक पोषक होता है, वह अवश्य पाप का भागी होता है। ६४।

यद्ब्राह्मणेनापहृतं धनं तत्परलोकदम्।
शूद्रायदत्तमपियन्नरकायैव केवलम्॥३६५॥

जो धन ब्राह्मण ने अपहरण भी कर लिया, तो भी उससे परलोक की प्राप्ति होती है, परन्तु जो शूद्र को हाथ से भी दे दिया गया वह केवल नरक दायी ही होता है॥ ३६५॥

मंदोमध्यस्तथा शीघ्रस्त्रिविधो भृत्य उच्यते।
समामध्या च श्रेष्ठा च भृतिस्तेषां क्रमात्स्मृता॥३६६

मन्द, मध्य और तीव्र—इस तरह तीन प्रकार के सेवक होते हैं। इनकी भृति भी सम, मध्य और श्रेष्ठ भेद से तीन तरह की मानी गई है॥ ३६६॥

भृत्यानां गृह कृत्यार्थं दिवायामं समुत्सृजेत्।
निशियामत्रयं नित्यं दिन भृत्येऽर्ध यामकम्॥३६७।

सेवकों को घर का काम करने के निमित्त दिन में एक पहर की छुट्टी देनी चाहिए और रात की तीन पहर की छुट्टी देवे। यदि नौकर, दिन मात्र का है, तो उसे आधे पहर की छुट्टी देनी चाहिए ॥ ३९७ ॥

तेभ्यः कार्यं कारयीत ह्युत्सवाहैर्विनानृपः ।
अत्यावश्यं तूत्सवेपिहित्वा श्राद्ध दिनं सदा ॥३९८॥

राजा सेवकों से नित्य काम लेवे, परन्तु उनको त्योहारों की छुट्टी देता रहे। यदि कोई आवश्यक उपस्थित हो तो उत्सव (त्योहारों) के दिनों में भी राजा काम ले सकता है, परन्तु श्राद्ध दिन की तो तब भी अवश्य छुट्टी करनी चाहिए ॥ ३९८ ॥

पादहीनां भृतिंत्वार्ते दद्यात्रै मासिकींततः ।
पंचवत्सर भृत्येतुन्यूनाधिक्यं यथा तथा ॥३९९॥

यदि सेवक साल भर बीमार रहा हो—तो उसको तीन महीने की तनख्वाह दे देवे परन्तु उसमें एक चौथाई काट लेवे। यदि पांच वर्ष से अधिक पुराना नौकर हो—तो उसको कुछ कम करके तीन मास की तनख्वाह दे देनी चाहिए ॥ ३९९ ॥

षाण्मासिकीं तु दीर्घार्ते तदूर्ध्वंन च कल्पयेत् ।
नैवपक्षार्धमार्तस्यहातव्याल्पापि वैभृतिः ॥४००॥

यदि साल से अधिक बीमार रहे-तो उसे छः महीने की भृति दी जावे। इससे अधिक भृति नहीं दी जा सकती है। जो आठ दिन बीमार रहा हो, उसकी तनख्वाह नहीं कटनी चाहिए ॥४००॥

शश्वत्सदोषितस्यापि ग्राह्यः प्रतिनिधिस्ततः।
सुमहद्गुणिनं त्वार्तं भृत्यर्धं कल्पयेत्सदा ॥४०१॥

जो भृत्य बार २ बीमार पड़ जावे, उसके स्थान पर प्रतिनिधि (एजेन्ट) रख लेना चाहिए। यदि कोई भृत्य बहुत गुणी हो—तो उस रोगी होने की अवस्था में भी आधी भृति (तनख्वाह) देता रहना उचित है ॥ ४०१ ॥

सेवां विनानृपः पक्षंदद्याद्भृत्याय वत्सरे।
चत्वारिंशत्समानीताः सेवयायेन वैनृपः ॥४०२॥

एक वर्ष में राजा अपने सेवकों को आधे महीने की तनख्वाह अधिक दे देवे। यह चालीस साल तक नौकरी करने वाले सेवक को पुरस्कार है। प्रतिवर्ष का एक पक्ष अधिक लगा कर अन्त में उसे यह द्रव्य देना योग्य है ॥ ४०२ ॥

ततः सेवांविनातस्मै भृत्यर्धं कल्पयेत्सदा।
यावज्जीवं तु तत्पुत्रेऽक्षमे बालेत दर्धकम् ॥४०३॥

जब नौकरी करते २ चालीस वर्ष बीत गए हों, तो उससे—सेवा न लेकर उसके भरण पोषण के लिए यावज्जीवन आधी तनख्वाह करदी जावे। जब तक उसका बालक असमर्थ रहे—तब तक वृद्ध की भृति (वेतन) की चौथाई उस बालक को मिलती रहनी चाहिए॥ ४०३ ॥

भार्यायां वासु शीलायां कन्यायां वास्व श्रेयसे।
अष्टमांशं पारितोष्यं दद्याद्भृत्यावत्सरे ॥४०४॥

यदि बालक न हो और भार्या सदाचारिणी हो तथा कन्या हो, तो राजा अपने मङ्गल के ध्यान से उनको मूल भृति का भी अष्टमांश प्रतिवर्ष देता रहे ॥ ४०४ ॥

कार्याष्टमांशं वा दद्यात्कार्यं द्रागधिकं कृतम् ।
स्वामिकार्ये विनष्टो यस्तत्पुत्रे तद्भृतिं वहेत् ॥४०५॥

यदि सेवक ने कोई काम शीघ्र या मर्यादा से अधिक कर दिया हो, तो उसको पुरस्कार के उपलक्ष्य में उनको अष्टमांश देवे। यदि सेवक स्वामी के कार्य में नष्ट होगया हो—तो उसकी भृति (तनख्वाह) उसके पुत्र को देदी जावे ॥ ४०५ ॥

यावद्बालोऽन्यथा पुत्र गुणान्दृष्ट्वा भृतिंवहेत् ।
षष्ठांशंवा चतुर्थांशं भृतेर्भृत्यस्य पालयेत् ॥४०६॥
दद्यात्तदर्धं भृत्यायद्वित्रिवर्षैखिलंतुवा ।
वाक्पारुष्यान्न्यून भृत्यास्वामी प्रबल दंडतः ॥४०७
भृत्यं प्रशिक्षयेन्नित्यं शत्रुत्वंत्व पमानतः ।

यह पूर्वोक्त बात तक कही है, जब तक पुत्र बालक रहे । जब पुत्र युवा हो जावे-तो उसके गुणों को देखकर उसकी भृति नियत की जावे। भृत्य की भृत (तनख्वाह) में से राजा छठा भाग या चौथा भाग काटता रहे । जब सेवा करते दो या तीन वर्ष व्यतीत हो जावें तो उस सञ्चित रकम में से उसको आधी या उचित समझा जावे तो सारी दे दी जावे । स्वामी, वाणी की

कठोरता, न्यून-वेतन और प्रबल दण्ड द्वारा सेवक को शिक्षा देता रहे, उसका अपमान न करे। अपमान से सेवक शत्रु बन जाता है ॥ ४०६-४०७ ॥

भृतिदानेन संपुष्टा मानेन परिवर्धिताः ॥४०८॥
सांत्विताम्दुवाचायेनत्यजंत्यधिपंहिते ।

भृति (वेतन) के दान से परिपुष्ट हुए, मान से बढ़ाए गए, कोमल वाणी से शान्त किये हुए, भृत्य, अपने स्वामी को कभी नहीं छोड़ते हैं ॥ ४०८ ॥

यथागुणान्स्व भृत्यांश्च प्रजाः संरंजयेन्नृपः ॥४०९॥
शाखा प्रदानतः कांश्चिद परान्फलदानतः ।
अन्यान्सुचक्षुषाहास्यैस्तथा कोमलयागिरा ॥४१०॥

राजा जैसे गुण, सेवक में देखे तदनुसार उनकी रक्षा करे और प्रजा का रञ्जन करता रहे। किसी को शाखा प्रदान करे, अर्थात् स्वल्प पुरस्कार देवे और किसी को फल का प्रदान करे अर्थात् अच्छी तरह पुरस्कार दे देवे। किन ही सेवकों को मधुर दृष्टि, मुसकुराहट, या कोमल वाणी से प्रसन्न कर देवें ॥४०९-४१०॥

सुभोजनैः सुवसनैस्तांबूलैश्च धनैरपि ।
कांश्चित्सु कुशल प्रश्नैरधिकार प्रदानतः ॥४११॥
वाहनानां प्रदानेन योग्याभरण दानतः ।
छत्रातपत्र चमरदीपिकानां प्रदानतः ॥४१२॥

कुछ सेवकों को सुन्दर भोजन, किसी को उत्तम वस्त्र, किसी को ताम्बूल, किसी को धन, किसी को कुशल प्रश्न, किसी को अधिकार के प्रदान, किसी को वाहन दान, किसी को उत्तम आभूषण, छत्री छत्र, चँवर, और मसालों के जलाने के अधिकार से प्रसन्न कर ।। ४११-४ २ ।।

क्षमयाप्रणिपातेन मानेनाभिगमेनच ।
सत्कारेण च ज्ञानेन ह्यादरेण शमेन च ।।४१३।।
प्रेम्णा समीपवासेन स्वार्धासन प्रदानतः ।
संपूर्णासन दानेनस्तुत्योपकार कीर्तनात् ।।४१४।।

बहुत से सेवकों को क्षमा, प्रणिपात, मान, अभ्युत्थान, सत्कार, ज्ञान, आदर, शम, प्रेम, समीपवास, स्वार्धासन प्रदान, सम्पूर्णासन दान, स्तुति, उपकार कीर्तन, आदि से कुछ सेवकों को प्रसन्न करता रहे ।। ४१३-४१४ ।।

यत्कार्ये विनियुक्तायेकार्याकैरं कयेच्चतान् ।
लोहजैस्ताम्र जै रीति भवैरजत संभवैः ।।४१५।।
सौवर्ण रत्न जैर्वापियथा योग्यैः स्वलांछनैः ।
प्रविज्ञानाय दूरात्तु वस्त्रैश्च मुकुटैरपि ।।४१६।।

जिस भृत्य को जिस काम में लगाया जावे, उनको उसी कार्य के निमित्त मुद्रित करके पत्र प्रदान करे। वे मुद्रा, लोह, ताम्र, शीशे और चाँदी सुवर्ण रत्न आदि से बनाई जाती हैं। उनमें

यथा योग्य चिन्ह लगवाये जावें। दूर से ही ज्ञान हो जाने के निमित्त अपने राज चिन्ह से युक्त उसे विशिष्ट-मुकुट या वस्त्र प्रदान करे॥ ४१५-४१६ ॥

वाद्यवाहन भेदैश्च भृत्यान्कुर्यात्पृथक्पृथक्।
स्वविशिष्टं च यच्चिह्नं न दद्यात्कस्यचिन्नृपः ॥४१७

अपने उच्च अधिकारियों को वाद्य या वाहन के भेद से उन्हें पृथक् २ आदरित करे। अपने लिये जो विशिष्ट चिन्ह राजा ने नियत किए हों, उनको राजा किसी को प्रदान न करे॥ ४१७॥

दशप्रोक्ताः पुरोधाद्याब्राह्मणाः सर्व एवते।
अभावे क्षत्रियायोज्यास्तदभावेतथोरुजाः ॥४१८॥
नैव शूद्रास्तु संयोज्या गुणवंतो पिपार्थिवैः।
भागग्राही क्षत्रियस्तु साहसाधिपतिश्च सः ॥४१९॥

जो पुरोहित आदि दश—प्रकृति गिनाए थे, वे ब्राह्मण ही होने चाहिए। ब्राह्मणों के अभाव में क्षत्रिय और क्षत्रियों के अभाव में वैश्यों को लगाना चाहिए। यद्यपि शूद्र गुणवान हो—तो भी उनको किसी पद पर लगाया जावे। कर ग्रहण करने और साहसाधिपति (मजिस्ट्रेटी) के पद पर क्षत्रिय को नियत करे॥ ४१८-४१९॥

ग्रामपो ब्राह्मणो योज्यः कायस्थो लेखकस्तथा।
शुल्क ग्राहीतु वैश्योहि प्रतिहारश्च पादजः ॥४२०॥

ग्राम का अधिपति ब्राह्मण और लेखक कायस्थ होना चाहिए। शुल्क (महसूल) के ग्रहण करने वाला वैश्य और द्वार के अधिकार पर शूद्र को नियत करना उचित है ॥ ४२० ॥

सेनाधिपः क्षत्रियस्तु ब्राह्मणस्तद भावतः ।
न वैश्योन च वै शूद्रः कातरश्च कदाचन ॥४२१॥

सेना का अधिपति, क्षत्रिय होता है, ब्राह्मण उसके अभाव में लगाया जा सकता है। सेनाधिपति के अधिकार पर वैश्य, शूद्र कायर मनुष्य को कभी नहीं लगाना चाहिए ॥ ४२१ ॥

सेनापतिः शूर एव योज्यः सर्वासुजातिषु ।
ससंकर चतुर्वर्ण धर्मोऽयं नैवयावनः ॥४२२॥
यस्य वर्णस्ययो राजा सवर्णः सुख मेधते ।

सेनापति तो शूरवीर ही होना चाहिए—चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो। इस पद पर संकर जाति का भी अधिकार है। यवन को कभी सेनापति पद पर नियुक्त न करे। जिस वर्ण का राजा होता है, वह वर्ण बड़ा ही सुखी हो जाता है ॥ ४२२ ॥

नोपकृतं मन्यतेस्मन तुष्यति सुसेवनैः ॥४२३॥
कथांतरेनस्मरति शंकते प्रलपत्यपि ।
क्षुब्धस्तनोतिमर्माणितं नृपं भृतकस्त्यजेत् ॥४२४॥
लक्षणं युवराजादेः कृत्यमुक्तं समासतः ॥४२५॥

इति शुक्रनीतौ युवराज कथनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

जो राजा न तो उपकार को मानता है और न सेवा से प्रसन्न होता है, काम के समय याद नहीं करता। बोलते ही शङ्का करने लगता है। क्रोधित होकर मर्म स्थल को आहत कर देता है—ऐसे राजा को सेवक दूर से ही त्याग देवे। इस प्रकार युवराज आदि के काम और उनके लक्षण संक्षेप के साथ वर्णित कर दिए हैं॥ ४२३-४२५ ॥

इति श्रीशुक्रनीति अन्तर्गत, युवराज आदि के लक्षण और कामों के वर्णन का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

तीसरा अध्याय

अथ साधारणं नीति शास्त्रं सर्वेषु चोच्यते।

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥१॥

अब प्रत्येक मनुष्य के हित सम्बन्ध की नीति का वर्णन किया जाता है। सारे प्राणियों की प्रवृत्तियां—सुख के लिए देखी जाती हैं ॥ १ ॥

सुखं च न विनाधर्मात्तस्माद्धर्म परोभवेत्।

त्रिवर्ग शून्यं नारंभं भजेत्तं चा विरोधयन् ॥२॥

धर्म के विना सुख नहीं है, इससे प्रत्येक मनुष्य, धर्म की ओर प्रवृत्त रहे। जो बात धर्म, अर्थ और काम से शून्य हो—उसको विना विरोध के करता रहे ॥ २ ॥

अनुयायात्प्रतिपदं सर्व धर्मेषु मध्यमः।

नीचरोमनखश्म श्रुर्निर्मलांघ्रयमलायनः ॥३॥

प्रत्येक पद को—धर्म के मध्यम मार्ग में लगाता रहे। नीचे के रोम, नख, दाढ़ी, मूंछ, कटाता रहे और चरण तथा सारे शरीर को निर्मल रखे॥ ३ ॥

स्नानशीलः सुसुरभिः सुवेषोनुल्बणोज्ज्वलः।

धारयेत्सततं रत्न सिद्ध मंत्र महौषधीः ॥४॥

मनुष्य सर्वदा स्नान में कभी चूक न करे। सुगन्धि-द्रव्य इत्र आदि लगाता रहे। सुन्दर अनुल्बण, उज्ज्वल वेष रखे और

सर्वदा रत्न, सिद्ध मन्त्र, और महौषधियों को धारण करता रहे ॥ ४ ॥

सात पत्र पदत्राणो विचरेद्युगमात्रदृक् ।
निशिचात्ययिके कार्ये दंडी मौली सहायवान् ॥५॥

मनुष्य जब बाहर निकले, तब छत्र, और जूते अवश्य धारण किए रहे और दोनों चरणों पर दृष्टि रखे या दो हाथ भूमि देखता चले। यदि रात्रि में कोई आवश्यक कार्य हो-तो दण्ड, मुकुट धारण करके किसी सहायक के साथ बाहर जावे ॥ ५ ॥

नवेगितोन्य कार्यीस्यान्न वेगान्नीरयेद्बलात् ।
भक्त्या कल्याण मित्राणि सेवेते तर दूरगः ॥६॥

वेग के साथ अन्य के कार्य को न करे और न वेग से-जल में तैरे। जो उत्तम मित्र हों-उनको भक्ति पूर्वक सेवे और अन्यों से दूर से ही बचता रहे ॥ ६ ॥

हिंसास्तेयान्यथा कामं पैशुन्यं परुषा नृतम् ।
संभिन्नालाप व्यापादमभिरुध्यादृग्विपर्ययम् ॥७॥
पापकर्मेति दश धाकायवाङ्मान सैस्त्यजेत् ।
अवृत्ति व्याधि शोकार्तानुनुवर्तेत शक्तितः ॥८॥

हिंसा, चोरी, व्यभिचार, चुगली, कठोरता, झूंठ, परस्पर विरुद्ध वार्तालाप, द्रोह, चिन्ता और दृष्टि की विषमता-ये दश पाप कर्म हैं। इनका मन, वाणी और कर्म से परित्याग करे।

जो वृत्ति से रहित, व्याधि युक्त शोकातुर हों, उनका शक्ति के अनुसार उपकार करे ॥ ७-८ ॥

आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम् ।
उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेप्यरौ ॥९॥

मनुष्य, कीट पतङ्ग आदि को भी अपने देह के तुल्य समझे। यदि शत्रु उपकार परायण भी हो-तो भी उसका उपकार ही करता रहे ॥ ९ ॥

संपद्विपत्स्वेकमना हेतावीर्षेत्फलेन तु ।
कालेहितं मितं ब्रूयादविसंवादिपेशलम् ॥१०॥

संपत्ति और विपत्ति में हर्ष शोक न मानकर एक चित्त रहे। किसी कारण में उसके कुत्सित फल को देखकर उससे ईर्ष्या करे। समय के ऊपर मनुष्य, हितकारी, थोड़ा, विवाद हीन, और सुन्दर वचन कहे ॥ १० ॥

पूर्वाभिभाषी सुमुखः सुशीलः करुणामृदुः ।
नैकः सुखीनसर्वत्र विस्रब्धोन च शंकितः ॥११॥

मनुष्य, सर्वदा मुसकुराहट के साथ बोले । सदा प्रसन्न चित्त, सुशील और करुणा, परायण कोमल बना रहे । कोई भी मनुष्य, अकेला सुखी नहीं रह सकता और न सर्वत्र विश्वास करने वाला ही सुखी होता है और न सर्वत्र शङ्का करने वाला ही सुखी है ॥ ११ ॥

नकंचिदात्मनः शत्रुं नात्मानं कस्यचिद्रिपुम् ।
प्रकाशयेन्नापमानं न च निःस्नेहतांप्रभोः ॥१२॥

न तो किसी को अपना शत्रु बतावे और न अपने को किसी का शत्रु घोषित करे। अपने स्वामी से किए गए अपमान या अरुचि का भी किसी को प्रकाशित न करे॥ १२ ॥

जनस्याशयमालक्ष्ययो यथा परितुष्यति ।
तंतथैवानुवर्तेतपराराधन पंडितः ॥१३॥

मनुष्य, दूसरे मनुष्य के अभिप्राय को जान लेवे और जो जिस तरह प्रसन्न होता है, उस के साथ उसी तरह बर्ताव करे—वह पराराधन में पण्डित कहाता है॥ १३ ॥

नपीडयेदिंद्रियाणि न चैतान्यतिलालयेत् ।
इंद्रियाणि प्रमाथी निहरंति प्रसभंमनः ॥१४॥

मनुष्य, न तो इन्द्रियों को पीड़ित करे—और न इनको अधिक लड़ावे। ये इन्द्रियां बड़ी उन्मत्त करने वाली हैं, जो मनुष्य के मन को बल पूर्वक मन्थन कर डालती हैं॥ १४ ॥

एणोगजः पतंगश्च भृंगोमीनस्तुपंचमः ।
शब्दस्पर्शरूप रस गंधैरेतेहताः खलु ॥१५॥

हिरन, हाथी, पतङ्ग, भ्रमर और पांचवां मत्स्य, ये शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध और रस के लोभ से नष्ट होते देखे गए हैं॥१५॥

एषुस्पर्शो वरस्त्रीणां स्वांतहारी मुनेरपि ।
अतोऽप्रमत्तः सेवेत विषयांस्तु यथोचितान् ॥१६॥

इन सारे विषयों में स्त्री का स्पर्श बहुत अधिक माना गया है जो मुनि के भी मन को-खैंचलेता है। इस बात को विचार कर मनुष्य, बड़ी सावधानी से इन विषयों का यथोचित सेवन करे॥ १६॥

मात्रास्वस्रा दुहित्रावानात्यं तै कांतिकं वसेत्।
यथा संबंधमाहूयादा भाष्याश्वास्य वै स्त्रियम् ॥१७॥

माता, भगिनी, पुत्री, आदि के साथ भी बहुत अधिक एकान्त में न रहे। स्त्री को तो उसके सम्बन्ध के अनुसार बुलावे, उसको आश्वासन देवे और फिर उसे विदा करदे॥ १७॥

स्वीयांतु परकीयां वासुभगे भगिनीति च।
सहवासोन्य पुरुषैः प्रकाशमपि भाषणम् ॥१८॥

अपने सम्बन्ध या परकीय सम्बन्ध की चाहे स्त्री हो, परन्तु सब से सुभगे, भगिनी-ऐसा सम्बोधन करके भाषण करे। अन्य पुरुषों के संग निवास या प्रकाश में अभिभाषण, न करे॥ १८॥

स्वातंत्र्यं न क्षणमपि ह्यवासोन्य गृहेतथा।
भर्त्रापित्राथवा राज्ञा पुत्र श्वशुर बांधवैः ॥१९॥
स्त्रीणां नैवतु देयः स्याद्गृह कृत्यैर्विनाक्षणः।
चंडंषंढंदंड शीलमकामं सुप्रवासिनम् ॥२०॥
सुदरिद्रं रोगिणं च ह्यन्य स्त्री निरतं सदा।
पतिं दृष्ट्वा विरक्तास्यान्ना रीवान्यं समाश्रयेत् ॥२१॥

स्त्री को एक क्षण की भी स्वतन्त्रता नहीं होनी चाहिए और न क्षण भर भी अन्य के घर में उसका निवास अच्छा है। भर्ता, पिता, राजा, पुत्र, श्वसुर और बान्धव कोई भी स्त्री को घर के काम में लगाए रखे—उसे क्षण भर का भी अवकाश न लेने देवे। क्रोधी, नपुंसक, दण्डशील, काम रहित, प्रवासी, अत्यन्त दरिद्री, रोगी, अन्य स्त्री निरत—ऐसे पति को देख कर नारी विरक्त हो जाती है और अन्य का आश्रय कर लेती है ॥ १६-२१ ॥

त्यक्त्वैतान्दुर्गुणान्यत्नात्ततोरक्षयाः स्त्रियोनरैः ।
वस्त्रान्नभूषण प्रेम मृदुवाग्भिश्च शक्तितः ॥२२॥

इन दुर्गुणों को छोड़ कर पुरुष, स्त्री की रक्षा करे। इनको वस्त्र, अन्न और आभूषण की कमी न रहने देवे तथा प्रेम पूर्ण मृदु वाणी से शक्ति के अनुसार उनको प्रसन्न करे ॥ २२ ॥

स्वात्यं त संनिकर्षेण स्त्रियंपुत्रं च रक्षयेत् ।
चैत्य पूज्यध्वजाशस्तच्छाया भस्मतुषाशुचीन् ॥२३॥

सर्वदा अपने पास रख कर स्त्री और पुत्र को रक्षा करे तथा चैत्य (देव बगीचे) पूजा, ध्वजा, मृतच्छाया, भस्म तुष और अन्य अशुचि द्रव्यों से उन्हें बचाता रहे ॥ २३ ॥

नाक्रामेच्छर्करालोष्ट बलिस्नान भुवोपिः च ।
नदींतरेन्नबाहुभ्यां नाग्निस्कन्नमभिव्रजेत् ॥२४॥

कभी कंकर, ढेला, बलिस्थान, स्नान भूमिका ये उल्लंघन न करे। केवल—भुजा के बल से नदी के तरने का साहस न करे और प्रज्वलित आग की ओर न लपके ॥ २४ ॥

संदिग्धनावं वृक्षं च नारोहेद्दुष्टयानवत् ।
नासिकां नवि कुष्णीयान्ना कस्माद्धि लिखेद्भुवम् ॥

दुष्ट सवारी की तरह सदेह युक्त नौका या वृक्ष पर न चढ़े। अपनी नाक को न कुरेदे और न अकस्मात् पृथिवी का उल्लेख करे ॥ २५ ॥

नसंहताभ्यां पाणिभ्यां कंडूयेदात्मनः शिरः ।
नांगैश्चेष्टे तविगुणं नाश्नीयात्कटुकंचिरम् ॥२६॥

कभी मनुष्य, दोनों हाथों से अपने शिर को न खुजावे। कभी अपने अङ्गों से उलटी क्रिया न करे और बहुत अधिक चरपरी चीज न खावे ॥ २६ ॥

देहवाक् चेतसां चेष्टाः प्राक्छ्रमाद्धि निवर्तयेत् ।
नोर्ध्वजानुश्चिरंतिष्ठेन्नक्तं सेवेतन द्रुमम् ॥२७॥

देह, वाणी और चित्त की चेष्टा (हरकतें) उनमें थकान आने से पूर्व ही बन्द कर देवे। न कभी ऊँची जाँघ करके देर तक बैठे और न रात में किसी वृक्ष के नीचे विश्राम लेवे ॥ २७ ॥

तथाचत्वर चैत्यांत चतुष्पथ सुरालयान् ।
शून्याटवीशून्य गृहश्मशानानि दिवापिन ॥२८॥

इसी तरह किसी देवता के चबूतरे, देव वाटिका, चौराहे, देव मन्दिर, में भी रात में न जावे एवं निर्जन वन, सूने घर तथा श्मशान में दिन में भी अकेला न जावे ॥ २८ ॥

सर्वथेत्तेतनादित्यं न भारं शिरसावहेत् ।
नेत्तेत प्रततं सूक्ष्मं दीप्ता मेध्या प्रियाणिच ॥२६॥

बहुत देर तक सूर्य की ओर न देखे और न अधिक बोझे को लेकर धूप में चले। इसी तरह सूक्ष्म पदार्थ को और भी देर तक न देखे और न प्रदीप्त, अशुद्ध और अप्रिय वस्तुओं की ओर दृष्टि उठावे ॥ २६ ॥

संध्यास्वभ्यवहार स्त्री स्वप्नाध्ययन चिंतनम् ।
मद्य विक्रय संधानदाना दानानि नाचरेत् ॥३०॥

संध्या काल में भोजन, स्त्री सम्भोग, शयन, अध्ययन और गंभीर विचार में न पड़े तथा मद्य विक्रय, मद्य संधान (खेंचना) दान और प्रतिग्रह न करे ॥ ३० ॥

आचार्यः सर्वचेष्टा सुलोक एवहि धीमतः ।
अनुकुर्यात्त मेवातो लौकिकार्थे परीक्षकः ॥३१॥

बुद्धिमान् जगत् की सारी क्रियाओं के प्रकाशित करने का कारण आचार्य ही होता है। इससे लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए मनुष्य, आचार्य की आज्ञा का ही अनुसरण करे ॥ ३१ ॥

राज देशकुलज्ञाति सद्धर्मान्नैव दूषयेत् ।
शक्तोपि लौकिका चारं मनसापि न लंघयेत् ॥३२॥

देश, कुल, जाति और सद्धर्म में मनुष्य, कभी दोषों का उद्घाटन न करे। कोई भी मनुष्य कितना भी समर्थ हो, परन्तु उसे लौकिक आचार का कर्म उल्लंघन नहीं करना चाहिए॥ ३२॥

अयुक्तं यत्कृतं चोक्तं न बलाद्धे तु नोद्धरेत्।
दुर्गुणस्य च वक्तारः प्रत्यक्षं विरलाजनाः ॥३३॥

किसी के अयुक्त कर्म या कथन को बल तथा मिथ्या हेतुवादों से पुष्ट न करे। किसी के दुर्गुण के स्पष्ट वक्ता, विरले ही मनुष्य होते हैं॥ ३२-३३॥

लोकतः शास्त्रतो ज्ञात्वा ह्यतस्त्याज्यांस्त्यजेत्सुधीः।
अनयंनयसंकाशं मनसापि न चिंतयेत् ॥३४॥

लौकिक और शास्त्र के अनुसार जिनका त्याग करना चाहिए उनका बुद्धिमान् मनुष्य, त्याग कर देवें। नीति के समान दिखाई देने वाली अनीति का कभी मन से भी चिन्तन न करे॥ ३४॥

अहं सहस्रा पराधीकि मेकेन भवेन्मम।
मत्वानाघं स्मरे दीषद्बिंदुनापूर्यते घटः ॥३५॥

मैं तो सहस्रों अपराध कर चुका अब इस एक अपराध से मेरा क्या बिगड़ जावेगा—ऐसा विचार करके कभी पाप की ओर न बढ़े, क्योंकि बिन्दु २ से घड़ा भर जाता है, तभी तो डूबता है॥ ३५॥

नक्तं दिनानि मेयांति कथं भूतस्य संप्रति।
दुःखभाङ्न भवत्येवं नित्यं सन्निहित स्मृतिः ॥३६॥

मेरे रात और दिन किस दुर्दशा में व्यतीत होते हैं। यह देख कर भी परमात्मा का स्मरण करने वाला मनुष्य, दुःखी नहीं होता है ॥ ३६ ॥

समास व्यूह हेत्वादि कृतेच्छार्थं विहायच ।
स्तुत्यर्थ वादान्संत्यज्यसारं संगृह्ययत्नतः ॥३७॥

किसी वस्तु के संक्षेप और विस्तार तथा हेतु आदि के निमित्त किए गए इच्छा भाव का मनुष्य परित्याग करे। इसी तरह स्तुति और अर्थवादों को छोड़ कर यत्न पूर्वक सार वस्तु का ग्रहण करे ॥ ३७ ॥

धर्मतत्त्वंहि गहनमतः सत्सेवितंनरः ।
श्रुतिस्मृति पुराणानां कर्मकुर्याद्विचक्षणः ॥३८॥

धर्म का तत्व बड़ा गहन है, इससे इसका सेवन कोई विरला ही सज्जन कर सकता है। विद्वान् पुरुष सर्वदा श्रुति, स्मृति और पुराणोक्त कर्मों का आचरण करे ॥ ३८ ॥

नगोपयेद्वास येच्चराजा मित्रंसुतं गुरुम् ।
अधर्म निरतांस्तेनमाततायिन मप्युत ॥३९॥

राजा अधर्म में निरत, चोर और आततायी (किसी के घातक) अपने मित्र पुत्र-और गुरु की भी रक्षा न करे और न अपने राज्य में उनको रहने देवे ॥ ३९ ॥

अग्नि दोगरदश्चैव शस्त्रोन्मत्तो धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैतान्षड्विद्यादाततायिनः ॥४०॥

आग लगाने वाले, विष दाता, शस्त्रोन्मत्त, धनापहारी, भूमि और स्त्री का अपहरण कर्त्ता—ये छः प्रकार के आततायी माने गए हैं ॥ ४० ॥

नोपेक्षेतस्त्रियं बालं रोगं दासं पशुंधनम् ।
विद्याभ्यासं क्षणमपि सत्सेवां बुद्धिमान्नरः ॥४१॥

बुद्धिमान् मनुष्य, स्त्री, बालक, रोग, दास, पशु, धन और विद्याभ्यास को एक क्षण को भी ढीला न छोड़े। और इसी तरह कभी सज्जनों की सेवा से मुख न मोड़े ॥ ४१ ॥

विरुद्धोयत्र नृपतिर्धनिकः श्रोत्रियोभिषक् ।
आचारश्च तथा देशोन तत्र दिवसंवसेत् ॥४२॥

जिस स्थान पर राजा, धनवान, यज्ञ करने वाला, वैद्य और देश का आचार विरुद्ध हो—वहाँ मनुष्य, क्षण भर भी न ठहरे ॥ ४२ ॥

नपुंसकश्च स्त्री बालश्चंडो मूर्खश्च साहसी ।
यत्राधिकारिणश्चैतेन तत्रदिवसंतसेत ॥४३॥

नपुंसक, स्त्री, बालक, क्रोधी, मूर्ख और साहसी, जिस राजा के राज्य में अधिकारी हों—उसमें एक दिन भी निवास न करे ॥ ४३ ॥

अविवेकी यत्रराजा सभ्यायत्र तु पाक्षिकाः ।
सन्मार्गोज्झित विद्वांसः साक्षिणोनृतवादिनः ॥४४॥

दुरात्मानां च प्राबल्यं स्त्रीणां नीच जनस्य च।
यत्रनेच्छेद्धनं मानं वसतिं तत्र जीवितम् ॥४५॥

जहाँ राजा अविवेकी हो और सभासद पक्षपाती हों, विद्वान सन्मार्ग छोड़ चुके हों—साक्षी मिथ्या बोलते न झिझकते हों—दुरात्माओं का प्राबल्य हो, स्त्री या नीच पुरुष बढ़े चले हों—वहाँ पर धन, मान, निवास तो क्या-जीवन की भी इच्छा न करे अर्थात वहाँ धन आदि तो क्या प्राप्त होंगे एक दिन प्राण और नष्ट हो जावेंगे ॥ ४४ ४५ ॥

माता न पालयेद्बाल्ये पिता साधुन शिक्षयेत्।
राजा यदि हरेद्वित्तं कातत्र परिदेवना ॥४६॥

जहाँ पर माता बालकपन में पालन न करे, पिता अच्छी तरह शिक्षा न दे और राजा धन का अपहरण करता रहे, तो फिर ऐसे अधर्म की क्या शिकायत की जा सकती है ॥ ४६ ॥

सुसेविताः प्रकुप्यंति मित्रस्वजन पार्थिवाः।
गृहमग्न्य शनिहतं का तत्र परिदेवना ॥४७॥

यदि अच्छी तरह सेवा करने पर भी मित्र, स्वजन और राजा कुपित होते चले जावें-तो घर को आग या बिजली मार देवे-तो फिर भाग्य के सिवा किस को दोष दिया जावे। इस उत्कट दशा में तो किसी की शिकायत से कुछ भी नहीं बन पावेगा ॥ ४७ ॥

आप्तवाक्यमना दृत्य दर्पेणा चरितं यदि ।
फलितं विपरीतं तत्कातत्र परिदेवना ॥४८॥

यदि हितकारी पुरुषों के वचन न मानकर मदोन्मत्तता से किसी काम को कर लिया—और फिर उसका परिणाम विपरीत निकला-तो इसमें रोना धोना—क्या फल रखता है। यह तो अपने कर्मों का दोष है ॥ ४८ ॥

सावधान मनानित्यं राजानं देवतां गुरुम् ।
अग्नि तपस्विनं धर्मज्ञान वृद्धं सुसेवयेत् ॥४९॥

मनुष्य, नित्य सावधानी के साथ, राजा, देवता, आचार्य, अग्नि, तपस्वी, धर्म और ज्ञान वृद्ध पुरुष की अच्छी तरह सेवा करता रहे ॥ ४९ ॥

मातृ पितृ गुरुस्वामि भ्रातृ पुत्र सखिष्वपि ।
नविरुध्येन्नाप कुर्यान्मनसापिचणं क्वचित् ॥५०॥

माता, पिता, गुरु, स्वामी, भ्राता, पुत्र, मित्र—इनका विरोध और अपकार मन से भी कभी क्षण भर के लिये न करे ॥ ५० ॥

स्वजनैर्न विरुध्येतनस्पर्धेत बलीयसा ।
नकुर्यात्स्त्री बाल वृद्ध मूर्खेषुचविवादनम् ॥५१॥

अपने स्वजन के साथ विरोध, बलवान के साथ स्पर्धा, तथा स्त्री, बालक, वृद्ध और मूर्खों के साथ विवाद कभी न करे ॥५१॥

एकः स्वादुन भुंजीत एकोऽर्थान्न विचिन्तयेत् ।
एकोनगच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥५२॥

मनुष्य, कभी अकेला स्वादुपदार्थ न खावे और न अकेला, किसी गम्भीर बात को विचारे । कभी अकेला मार्ग न चले और सोते हुए पुरुषों में अकेला न जागे ॥५२॥

नान्य धर्मंहि सेवेत न द्रुह्याद्धैकदाचन ।
हीनकर्म गुणैः स्त्री भिर्नासीतैकासेन क्वचित् ॥५३॥

कभी अन्य के धर्म का पुरुष सेवन न करे और न किसी के धर्म से द्रोह करे । हीन कर्म और गुण वाले पुरुष तथा स्त्रियों के साथ कहीं एकासन पर न बैठे ॥ ५३ ॥

षड्दोषापुरुषेणेह हातव्या भूति मिच्छता ।
निद्रातंद्राभयं क्रोध आलस्यं दीर्घ सूत्रता ॥५४॥
प्रभवंति विघाताय कार्यस्यैतेन संशयः ।

जो पुरुष अपना कल्याण चाहे, निन्द्रा, तन्द्रा, भय क्रोध, आलस्य और दीर्घ सूत्रता—इन छः दोषों का परित्याग करदे । ये दोष कार्य के विघात के लिए होते हैं—इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५४ ॥

उपायज्ञश्च योगज्ञस्तत्त्वज्ञः प्रतिभानवान् ॥५५॥
स्वधर्म निरतो नित्यं परस्त्रीषु पराङ्मुखः ।
वक्तोहवांश्चित्रकथः स्यादकुंठित वाक्सदा ॥५६॥

जो मनुष्य, किसी काम के करने के उपाय जानता है, उपाय का भली प्रकार संगठन करने की युक्ति समझता है, जो तत्व का ज्ञाता और प्रतिभाशाली है, जो अपने धर्म में श्रद्धा रखने वाला, पर स्त्री संभोग से पराङ्मुख, बोलने में कुशल, विचार शील, विचित्र व्याख्याता, और बोलने में कहीं नहीं चूकने वाला है— वही अपने कार्यों के बनाने में समर्थ होता है ॥ ५५-५६ ॥

चिरंसंश्रृणु यान्नित्यं जानीयात्क्षिप्रमेव च ।
विज्ञाय प्रभजे दर्थान्नकामं प्रभजेत्क्वचित् ॥५७॥

बात को देर तक सुने और उसके तत्व पर शीघ्र पहुँच जावे। किसी भी कार्य के रहस्य को समझ कर उसमें हाथ डाले, किसी भी कामना के वश में न पड़े—वही अपने कार्य के सिद्ध करने में सफल होता है ॥ ५७ ॥

क्रय विक्रयस्याति लिप्सां स्वदैन्यं दर्शयेन्नहि ।
कार्यं विनान्य गेहेन नाशातः प्रविशेदपि ॥५८॥

मनुष्य यदि सफलता चाहे, तो वह अपने क्रय विक्रय के काम में लालच या अतित्व का प्रकाशन करे और न अपनी हीनता दिखावे। काम के विना किसी के घर किसी आशा को लेकर न जावे ॥ ५८ ॥

अपृष्टोनैव कथयेद्गृह कृत्यं तुकंप्रति ।
बह्वर्थाल्पाक्षरं कुर्यात्सन्लापं कार्य साधकम् ॥५९॥

बिना पूछे किसी से कुछ न कहे और अपने घर के काम किसी को न बतावे। जो कुछ मनुष्य, वार्तालाप करे-वह बहुत अर्थ तथा स्वल्प अक्षरों से युक्त करनो चाहिए जिससे काम बन सके ॥ ५९ ॥

नदर्शयेत्स्वाभिमतमनुभूता द्विनासदा ।

ज्ञात्वा परमतं सम्यक्तेनाज्ञा तोत्तरं वदेत् ॥६०॥

किसी मत का अनुभव किए बिना उसको शीघ्र प्रकाशित न करे। अन्य के मत को अच्छी तरह जानकर अपने रहस्य को छुपा कर विद्वान अन्य का शीघ्र उत्तर देता रहे ॥ ६० ॥

दंपत्योः कलहेसाक्ष्यं न कुर्यात्पितृ पुत्रयोः ।

सुगुप्तः कृत्यमंत्रः स्यान्नत्य जेच्छरणागतम् ॥६१॥

पति पत्नी तथा पिता पुत्र के कलह में किसी की साक्षी न दे। अपने काम के मन्त्र का गुप्त रखे तथा कभी शरणागत का त्याग न करे ॥ ६१ ॥

यथा शक्ति चिकीर्षेत्तुकुर्यान्मुह्ये च्चनापदि ।

कस्यचिन्नस्पृशेन्मर्म मिथ्यावादं न कस्यचित् ॥६२॥

जब मनुष्य पर कोई आपत्ति आवे, तो उसके हटाने की यथाशक्ति चेष्टा-करे-उपाय करे और मोह को प्राप्त न होवे। किसी भी मनुष्य के मर्म का स्पर्श न करे और मिथ्या बात का पक्ष भी न लेवे ॥ ६२ ॥

नाश्लीलं कीर्तयेत्कंचित्प्रलापं न च कारयेत् ।
अस्वर्ग्यं स्याद्धर्म्यमपिलोक विद्वेषितंतुयत् ।६३॥

कोई अश्लील (गन्दी) बात न करे, और न पागल की सी बरड़ मारे। जिस किसी धर्म कृत्य का संसार द्वेष करे वह भी अधर्म ही समझना चाहिए उससे कभी मोक्ष नहीं मिल सकता है ॥ ६३ ॥

स्वहेतुभिर्नहन्येत कस्यवाक्यं कदाचन ।
प्रविचार्योत्तरं देयं सहसान वदेत्क्वचित् ॥६४॥

किसी के सत्य वाक्य को अपने मिथ्या हेतुवादों से खण्डित न करे। किसी भी बात का विचार कर उत्तर देना चाहिए। एक दम किसी बात को नहीं कह-बैठना चाहिए ॥ ६४ ॥

शत्रोरपि गुणाग्राह्या गुरोस्त्याज्यास्तु दुर्गुणाः ।
उत्कर्षो नैवनित्यः स्यान्नापकर्षस्तथैवच ॥६५॥

यदि शत्रु के भी गुण है, तो भी उनको मानना या ग्रहण करना चाहिए और दुर्गुण तो गुरु के भी त्याज्य हैं। विना गुणों के किसी का उत्कर्ष नहीं है और विना दुर्गुण के किसी का अपकर्ष नहीं किया जा सकता ॥ ६५ ॥

प्राक्कर्मवशतो नित्यं सधनो निर्धनो भवेत् ।
तस्मात्सर्वेषु लोकेषु मैत्रीनैव च हापयेत् ॥६६॥

पूर्व जन्म के कर्मों के वश से धनवान भी निर्धन हो जाता है। यह विचार कर सब मनुष्यों से मित्रता के व्यवहार का परित्याग नहीं करना चाहिए ॥ ६६ ॥

दीर्घदर्शी सदाचस्यात्प्रत्युत्पन्नमतिः क्वचित् ।
साहसीसालसी चैवचिरकारी भवेन्नहि ॥६७॥

मनुष्य, परिणाम पर दृष्टि रखे और समय पर बुद्धि से काम लेने की योग्यता रखे। अपनी शक्ति से बाहर किसी काम के करने का साहस और आलस कभी न करे और न दीर्घ सूत्री होकर थोड़ी देर के काम में अधिक विलम्ब लगावे ॥ ६७ ॥

यः सुदुर्निष्फलं कर्मज्ञात्वा कर्तुं व्यवस्यति ।
द्रागादौ दीर्घदर्शीस्यात्सचिरं सुखमश्नुते ॥६८॥

जो मनुष्य, कठिन कर्म को भी झटपट कर देने में प्रवृत्त हो जाता है और उसके परिणाम को प्रथम ही जान लेता है—वह चिरकाल तक सुख भोगता है ॥ ६८ ॥

प्रत्युत्पन्नमतिः प्राप्तां क्रियांकर्तुं व्यवस्यति ।
सिद्धिः सांशयिकी तत्रचापल्यात्कार्य गौरवात ॥६९॥

जिसकी बुद्धि कार्य काल में जागृत हो उठती है, वह काम के आने पर काम में जुट पड़ता है। इस दशा में यदि कोई चपलता (मूर्खता) न की गई—तो सिद्धि में कोई सन्देह नहीं समझना चाहिए। सिद्धि में सन्देह तो चपलता या कार्य के भारी होने के कारण से ही होता है ॥ ६९ ॥

यततेनैव कालेपिक्रियांकर्तुं चसालसः ।
न सिद्धिस्तस्य कुत्रा पि स नश्यति च सान्वयः ।।७०।।

जब समय आजावे, और उस समय भी काम करना न चाहे, वह आलसी कहाता है। उसको कहीं भी सिद्ध नहीं मिलती है और वह अपने सहचरों के साथ बिल्कुल नष्ट हो जाता है ॥७०॥

क्रियाफलम विज्ञाय यतते साहसीचसः ।
दुःख भागी भवत्येव क्रियायां तत्फलेनवा ॥७१॥

क्रिया के फल को बिना जाने—जो उसमें पिल पड़ता है, वह साहसी कहाता है। उस काम के करने के समय या उसके फल निकलने के समय उस मनुष्य को अवश्य दुःख भोगना पड़ता है ॥ ७१ ॥

महत्कालेनाल्प कर्मचिरकारी करोतिच ।
सशोचत्यल्पफलतो दीर्घदर्शी भवेदतः ॥७२॥

थोड़े समय में करने योग्य काम को जो बहुत देर में करता है, वह चिरकारी कहाता है। अन्त में थोड़े फल निकलने के कारण उसे शोक करना पड़ता है, इससे मनुष्य को दीर्घ दर्शी होना चाहिए ॥ ७२ ॥

सुफलं तु भवेत्कर्म कदाचित्सहसा कृतम् ।
निष्फलं वापि प्रभवेत्कदाचित्सुविचारितम् ॥७३॥

यह दूसरी बात है, कि दैव के कारण कभी कोई कार्य विचार कर करने पर निष्फल चला जाता है ॥ ७३ ॥

तथापि नैवकुर्वीत सहसानर्थ कारितत् ।
कदाचिदपि संजातम कार्यादिष्ट साधनम् ॥७४॥
यदनिष्टं तु सत्कार्यान्नाकार्य प्रेरकं हि तत् ।

यह सब कुछ है, तो भी विना विचारे काम नहीं करना चाहिए-क्योंकि उससे प्रायः अनर्थ की उत्पत्ति होती है। इस बात का क्या है, कभी २ तो अनर्थकारी कामों से इष्ट का साधन देखा गया है। यदि कहीं पर सत्कार्य करने पर भी अनिष्ट की प्राप्ति हो जावे, तो भी अकार्य करने का सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता ॥ ७४ ॥

भृत्यो भ्राता पिता पुत्रः पत्नी कुर्यान्न चैवयत् ॥७५॥
विधास्यंति च मित्राणि तत्कार्यम निशंकितम् ।
अतोयतेततत्प्राप्त्यै मित्रलब्धिर्वरा नृणाम् ॥७६॥

भृत्य, भ्राता, पिता, पुत्र और पत्नी भी जिस कार्य का सम्पादन नहीं कर सकती हैं, उस काम को मित्र निश्चय सिद्ध कर देते हैं, इससे मित्र प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। मित्र लाभ, मनुष्यों को बहुत ही उत्तम माना गया है॥ ७५-७६ ॥

नात्यंतं विश्वसेत्कं चिद्विश्वस्तमपि सर्वदा ।
पुत्रं वा भ्रातरं भार्या ममात्यमधिकारिणम् ॥७७॥
धन स्त्री राज्य लोभोहि सर्वेषामधिकोयतः ।
प्रामाणिकं चानुभूत माप्तं सर्वत्र विश्वसेत् ॥७८॥

कोई कितना ही विश्वासपात्र हो, उसका अत्यन्त विश्वास न करे। पुत्र, भ्राता, भार्या, अमात्य, अधिकारी, इन सबको धन स्त्री और राज्य का लोभ लगा है। जो प्रामाणिक, हितेच्छु व्यक्ति भूत हो, उसका सर्वत्र विश्वास करना चाहिए॥ ७७-७८ ॥

विश्वसित्वात्म वद्गूढस्तत्कार्यं विमृशेत्स्वयम् ।
तद्वाक्यं तर्कतोनर्थं विपरीतं न चिंतयेत् ॥७६॥

जिस पर विश्वास कर लिया, उसके कार्य को गुपचुप अपना काम समझ कर करता रहे। उसके वाक्य में कुतर्क करके उसे अनर्थकारी और विपरीत न समझे ॥ ७६ ॥

चतुः षष्टितमांशंतन्नाशितं शमयेदथ ।
स्वधर्म नीति बलवांस्तेन मैत्रीं प्रधारयेत् ॥८०॥

किसी सेवक से यदि कार्य का चौसठवां भाग हानि में चला गया-तो उसे क्षमा कर देनी चाहिए। अपने धर्म और नीति के बल से मनुष्य, उसके साथ मित्रता ही गांठता रहे ॥ ८० ॥

दानैर्मानैश्च सत्कारैः सुपूज्यान्पूजयेत्सदा ।
कदापिनोग्र दंडः स्यात्कटु भाषण तत्परः ॥८१॥

जो अपने पूज्य हो-उनको दान मान और सत्कार से अर्चित करे। अपने पूज्यों में कभी उग्रदण्ड का प्रयोग न करे और न कटु-भाषण में तत्पर होवे ॥ ८१ ॥

भार्या पुत्रोप्युद्विजते कटुवाक्यात्प्रदंडतः ।
पशवोपिवशंयांति दानैश्च मृदु भाषणैः । ८२॥

यदि कटु-भाषण और उग्रदण्ड दिया जावेगा-तो भार्या या पुत्र भी बिगड़ बैठते हैं। दान और मृदु भाषण से तो पशु भी वश में आते देखे गए हैं ॥ ८२ ॥

नविद्यया न शौर्येण धनेनाभि जनेन च ।
न बलेन प्रमत्तः स्याच्चाति मानी कदाचन ॥८३॥

विद्या, शूरवीरता, धन, कुलीनता, और बल के कारण कभी उन्मत्त न होवे और न कभी अधिक अहङ्कार करे ॥ ८३ ॥

नाप्तोपदेशंसं वेत्तिविद्यामत्तः स्वहेतुभिः ।
अनर्थमप्यभिप्रेतं मन्यते परमार्थवत ॥८४॥

विद्याभिमानी पुरुष, अपने हेतुवादों की कल्पना करके-आप्तों की शिक्षा का अनुसरण नहीं करता है। वह तो इतना मदोन्मत्त हो जाता है, कि अपने कल्पित अनिष्ट मनोरथ को भी परमार्थ जानता रहता है ॥ ८४ ॥

शौर्यमत्तस्तु सहसा युद्धं कृत्वाजहात्यसून् ।
व्यूहादि युद्ध कौशल्यं तिरस्कृत्य च शात्रवान् ॥८५।

जो शूरवीरता के मद में भरा होता है, वह बिना विचारे युद्ध छेड़ कर अपने प्राण दे बैठता है। वह अपने २ अभिमान में व्यूह रचना आदि युद्ध कौशल पर अमल नहीं करता और शत्रुओं को तुच्छ मान लेता है ॥ ८५ ॥

श्रीमत्तः पुरुषोवेत्तिन दुष्कीर्ति मजोयथा ।
स्वमूत्र गंधं मूत्रेण मुखमासिं च तिस्वकम् ॥८६॥

श्री के मद से उन्मत्त हुआ पुरुष, अपनी बढ़ती हुई दुष्कीर्ति को बिल्कुल नहीं जान पाता है। वह तो बकरे की तरह अपने मूत्र से दुर्गन्धित अपने मुख को फिर मूत्र से ही धोता रहता है

अर्थात् श्री के अभिमान से बढ़ी हुई अपकीर्ति को श्री के चक्कर में पड़कर बढ़ाता रहता है ॥ ८६ ॥

तथाभिजनमत्तस्तु सर्वानेवाव मन्यते ।
श्रेष्ठान पीतरान्सम्यग कार्ये कुरुतेमतिम् ॥८७॥

जिसको अपने कुलीन होने का अभिमान होता है, वह अच्छा हो बुरा—सबका अपमान करता रहता है । तथा अकार्यों में उसकी बुद्धि प्रविष्ट होती है ॥ ८७ ॥

बलमत्तस्तु सहसा युद्धे विदधतेमनः ।
बलेन बाधते सर्वानश्वा दीन पिह्यन्यथा ॥८८॥

जो बल से उन्मत्त पुरुष होता है, वह सर्वदा युद्ध के लिए घूमता रहता है । अपने बल से सबको पीड़ा पहुँचाता रहता है और उलट कर अश्वादिकों से भी भिड़ जाता है ॥ ८८ ॥

मानमत्तोमन्यतेस्म तृणवच्चाखिलं जगत् ।
अनर्होपि च सर्वेभ्यस्त्वत्यर्घासनमिच्छति ॥८६॥

प्रतिष्ठा से उन्मत्त—पुरुष, सारे जगत् को तृणवत्—मानने लगता है । वह सबसे अयोग्य होने पर भी अत्यन्त मूल्यवान आसन पर बैठना चाहता है ॥ ८६ ॥

मदाएतेव लिप्तानां सतामेतेदमाः स्मृताः ।
विद्यायाश्च फलं ज्ञानं विनयश्च फलंश्रियः ॥६०॥
यज्ञदानेबल फलंसद्रक्षण मुदाहृतम् ।
नामिताः शत्रवः शौर्यफलं च करदीकृताः ॥६१॥

ये विद्या आदि उत्तम गुण उन्मत्तों को मदकारी और सज्जनों को शान्तिकारी होने हैं। विद्या का फल ज्ञान और विनय है। ऐश्वर्य का फल यज्ञ में दान देना है। बल का फल सज्जनों की रक्षा है, शत्रुओं को दबा देना और उनसे कर लेना, शूरवीरता का फल है॥ ६०-६१॥

शमोदमश्चार्जवं चाभिजनस्य फलंत्विदम्।
मानस्य तु फलं चैतत्सर्वेस्त्र सदशाइति॥६२॥

कुलीन होने का फल तो यही समझना चाहिए, कि मनुष्य मन और इन्द्रियों को कुमार्ग गामी न होने दे, तथा सरलता से चले। प्रतिष्ठा—प्राप्ति का यही फल है, कि सबको अपने सदृश माने॥ ६२॥

सुविद्या मंत्र भैषज्य स्त्री रत्नं दुष्कुलादपि।
गृह्णीयात्सु प्रयत्नेन मानमुत्सृज्य साधकः॥६३॥

उत्तम विद्या, मन्त्र, औषध, स्त्री, रत्न, दुष्कुल से भी सिद्धि चाहने वाले पुरुष को अभिमान छोड़ कर प्राप्त कर लेने—चाहिए॥ ६३॥

उपेक्षेत प्रणष्टं यत्प्राप्तं यत्तदुपाहरेत।
न बालं न स्त्रियं चातिलालयेत्ताडयेन्न च॥६४॥

जो नष्ट हो चुका-उसे भूल जावे और जो मिल रहा हो-उसे प्रयत्न से ले लेवे। बालक और स्त्री को न तो बहुत लड़ावे और न बहुत ताड़ित ही करे॥ ६४॥

विद्याभ्यासे गृह कृत्ये तावुभौयो जयेत्क्रमात् ।
पर द्रव्यं क्षुद्रमपिनादत्तं संहरेदणु ॥६५॥

बालकों को विद्याभ्यास और स्त्री को गृह कृत्य में जोते रखे। अन्य के द्रव्य का क्षुद्र कण भी बिना दिए कभी ग्रहण न करे ॥ ६५ ॥

नोच्चारयेदघं कस्यचित्स्त्रियं नैव च दूषयेत् ।
न ब्रूयाद नृतं साक्ष्यंकृतं साक्ष्यं न लोपयेत् ॥६६॥

किसी के पाप को न खोले—और स्त्री को व्यर्थ दूषित न करे कभी झूठी गवाही न देवे और जो सत्य साक्षी है, उसे झूंठा न बनावे ॥ ६६ ॥

प्राणात्ययेऽनृतं ब्रूयात्तु महत्कार्य साधने ।
कन्यादात्रे तु ह्यधनं दस्यवे सधनं नरम् ॥६७॥
गुप्तं जिघांसवे नैवविज्ञातमपि दर्शयेत् ।

यदि प्राणों के ऊपर संकट आ बना हो—या किसी बड़े जाति कार्य का सम्पादन हो रहा हो झूंठ भी बोल दिया जावे, परन्तु कन्या देने वाले को कभी दरिद्री न बतावे और चोर को किसी धनवान् मनुष्य की सूचना न देवे। यद्यपि यह जान लिया, कि अमुक व्यक्ति सुरक्षित है, तो भी हिंसक को उसे न बतावे ॥६७॥

जायापत्योश्च पित्रोश्च भ्रात्रोश्च स्वामिभृत्ययोः ।६८॥
भगिन्योर्मित्रयोर्भेदं न कुर्याद्गुरु शिष्ययोः ।
न मध्यादुमनं भाषा शालिनोः स्थितयोरपि ॥६९॥

पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहन या भाभी, स्वामी-सेवक, बहन-बहन, मित्र-मित्र, और गुरु शिष्य में कलह उत्पन्न न करे। जो दो पुरुष अपनी वार्तालाप में मगन हुए बैठे हैं, उनके बीच में से न निकले ॥ ६८-६६ ॥

सुहृदं भ्रातरं बंधु मुपचर्यात्सदात्मवत ।
गृहागतं क्षुद्रमपि यथार्ह पूजयेत्सदा ॥१००॥

मित्र, भ्राता, बन्धु, इनकी सर्वदा अपने शरीर के समान सेवा करे। जो घर पर छोटा मनुष्य भी चला आवे—तो भी उसकी यथा योग्य पूजा करनी उचित है ॥ १०० ॥

तदीय कुशल प्रश्नः शक्त्यादानैर्जलादिभिः ।
सपुत्रस्तु गृहे कन्यां सपुत्रां वासयेन्नहि ॥१०१॥
सभर्तृकांच भगिनीमनाथे ते तु पालयेत ।

उससे प्रेम के साथ कुशल प्रश्न और शक्ति के अनुसार जल आदि का दान करे। आयसपुत्र होकर सपुत्र कन्या को अपने घर पर न रखे। बहनोई के साथ बहन को घर न रखे यदि वे अनाथ (अपाहज) हों—तो उनकी पालना का प्रबन्ध कर दे ॥ १०१ ॥

सर्पोऽग्नि दुर्जनो राजाजा माता भगिनी सुतः ॥१०२॥
रोगः शत्रुर्नावमान्योऽप्यल्प इत्युपचारतः ।

सर्प, अग्नि, दुर्जन, राजा, जामाता, भानजा, रोग, शत्रु—इनको छोटा मानकर इनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इनके दमन का सर्वदा उद्योग करते रहना उचित है ॥ १०२ ॥

क्रौर्यात्तैक्ष्ण्याद्दुःस्वभावात्स्वामित्वात्पुत्रिकाभयात्।
स्वपूर्वज पिंडदत्वाद्वृद्धि भीत्या उपाचरेत्।

सर्प बड़ा क्रूर होता है, अग्नि तीक्ष्ण है, दुर्जन का स्वभाव बहुत नीच होता है। राजा सबका स्वामी है, जामाता के पुत्र के हक़दार बन जाने का भय रहता है, भानजा अपने पूर्वजों के पिण्ड के देने का अधिकारी नहीं रहता है, रोग बढ़ जाता है, शत्रु से भय खड़ा हो जाता है—इससे इनका अवश्य-उपचार (इलाज) कर देना चाहिए ॥ १०३ ॥

ऋणशेषं रोगशेषं शत्रु शेषं नरक्षयेत् ॥१०४॥
याचकाद्यैः प्रार्थितः सन्नतीक्ष्णं चोत्तरं वदेत्।
तत्कार्यं तु समर्थश्चेत्कुर्याद्वा कारयीत च ॥१०५॥

ऋण रोग और शत्रु को कभी शेष न छोड़े। याचक कुछ याचना करे—तो उससे कभी कटु वचन न बोले। यदि अपने में शक्ति हो—तो उसके काम को कर दे या किसी से करवा देवे ॥ १०४-१०५ ॥

दातॄणां धार्मिकाणां च शूराणां कीर्तनं सदा।
शृणुयात्तु प्रयत्नेन तच्छिद्रं नैवलक्षयेत् ॥१०६॥

दाता, धार्मिक और शूरवीरों की कीर्ति का बड़े प्रयत्न से श्रवण करे तथा उनकी त्रुटियों पर अधिक दृष्टि न डाले ॥ १०६॥

कालें हितमिताहार विहारी विघसाशनः ।

अदीनात्मा च सुस्वप्नः शुचिः स्यात्सर्वदानरः ॥१०७

समय पर हितकारी थोड़ा आहार करे और उत्तम रहन सहन रखे। जहाँ तक हो सके-यज्ञ शेष का भोजन करे। किसी के सन्मुख दीनता न करे, सुख से सोवे और मनुष्य सर्वदा मन, वचन और काम से पवित्र रहे ॥ १०७ ॥

कुर्याद्विहारमाहारं निर्हारं विजनेसदा ।

व्यवसायी सदा चस्यात्सुखं व्यायाममभ्यसेत् ॥१०८

विहार (स्त्री के साथ क्रीड़ा) आहार और मलमूत्र का त्याग मनुष्य को सदा एकान्त में करने चाहिए। मनुष्य सर्वदा उद्योग शील होवे, और सुखपूर्वक व्यायाम करता रहे॥ १०८ ॥

अन्नंननिंद्यात्सुस्वच्छः स्वीकुर्यात्प्रीति भोजनम् ।

आहारं प्रवरं विद्यात्षड्रसं मधुरोत्तरम् ॥१०६॥

अच्छा मनुष्य, कभी अन्न की निन्दा न करे। कैसा भी भोजन सन्मुख आवे-उसे प्रेम से चटकर जाना चाहिए। अपने आहार को षड्रस सम्पन्न और मधुर रस से परिपूर्ण समझे ।१०६।

विहारं चैव स्व स्त्रीभिर्वेश्याभिर्नकदाचन ।

नियुद्धं कुशलैः साधं व्यायामं नतिभिर्वरम् ॥११०॥

अपनी-स्त्रियों के साथ ही सम्भोग करना-चाहिए—कभी वेश्याओं के साथ संभोग न करे। कुशल पुरुषों के साथ नियुद्ध (युद्ध विशेष) और प्रणाम करने वालों के साथ दण्डवत् प्रणाम उत्तम माना गया है ॥ ११० ॥

हित्वा प्राक्पश्चिमौ यामौनिशिस्वापोवरो मतः
दीनांध पंगु बधिरानोप हास्याः कदाचन ॥१११॥

रात के प्रथम और अन्तिम प्रहर को छोड़ कर रात में सोना चाहिए। दीन, अन्धे, पंगु और बधिरों की कभी हँसी नहीं उड़ानी चाहिए ॥ १११ ॥

नाकार्ये तु मति कुर्याद्द्राक्स्वकार्यं साधयेत् ।
उद्योगेन बलेनैव बुद्धयाधैर्येण साहसात् ॥१२॥
पराक्रमेणार्जवेनमान मुत्सृज्य साधकः ।
नानिष्टं प्रवदेत्कस्मिन्नच्छिद्रं कस्य लक्षयेत् ॥११३॥

कभी अकार्य में बुद्धि को न—लगावे और फौरन ही अपने कार्य को उद्योग, बल, बुद्धि, धैर्य, साहस, पराक्रम और सरलता आदि से सिद्ध कर लेवे। साधक को अभिमान बिल्कुल छोड़ देना चाहिए। किसी को बुरी लगने वाली बात न कहे, और और किसी के दोष का दर्शन न करे ॥ ११२-११३ ॥

आज्ञा भंगस्तु महतां राज्ञः कार्योन वैक्वचित् ।
असत्कार्य नियोक्तारं गुरुंवापि प्रबोधयेत् ॥११४॥

महापुरुष और राजाओं की कभी आज्ञा भंग न करे। असत्कार्य में लगाते हुए गुरु को भी समझा देवे। अर्थात् उसकी बात न माने॥ ११४॥

नातिक्रमेद पिलघुं कचित्सकार्य बोधकम्।
कृत्वास्वतंत्रांतरुणीं स्त्रियंगछेन्नवैकचित्॥११५॥

जो अपने कार्य की सिद्धि का बोधक है, वह छोटा भी क्यों न हो, उसका अपमान नहीं करना चाहिए। अपनी युवति स्त्री को स्वतन्त्र छोड़ कर मनस्वी पुरुष कहीं विदेश आदि में न जावे॥ ११५॥

स्त्रियोमूलमनर्थस्य तरुण्यः किंपरैः सह।
नप्रमाद्येन्मद द्रव्यैर्न विमुह्येत्कुसंततौ॥११६॥

स्त्री तो सदा से अनर्थ का मूल होती आई हैं। इस पर तरुण और वह फिर अन्य पुरुष से मिल जावे। कभी मदपान करके प्रमादी न बने और कुत्सित संतान के मोह को प्राप्त न हो-अर्थात् दुष्ट सन्तान का भी परित्याग कर दे॥ ११६॥

साध्वी भार्या पितृ पत्नी माता बालः पितास्नुषा।
अभर्तृकान पत्यायाा साध्वी कन्यास्वसापिच॥११७॥
मातुलानी भ्रातृ भार्या पितृ मातृस्वसा तथा।
माता महोन पत्यश्च गुरुश्वशुर मातुलाः॥११८॥

बालाः पिता च दौहित्रो भ्राता च भगिनी सुतः।
एतेवश्यं पालनीयाः प्रयत्नेन स्वशक्तितः ॥११६॥

पतिव्रता पत्नी, पालन करने वाले की स्त्री, अपनी माता, बालक, पिता, पुत्र वधू, भर्ता और पुत्र रहित साध्वी कन्या, ऐसी ही बहन, मामी, भाभी, पिता की भगिनी (बुआ) माता की भगिनी (मोसी) सन्तान हीन मातामह गुरु, श्वसुर, मातुल, जाति के बालक, अन्न दाता पिता, दौहिता भ्राता, भगिनी पुत्र भानजा-इन सब की शक्ति के अनुसार—प्रयत्न पूर्वक अवश्य पालना करनी उचित है ॥ ११७-११६ ॥

अविभवेपि विभवे पितृ मातृ कुलं सुहृत् ।
पत्न्याः कुलंदास दासी भृत्यवर्गांश्च पोषयेत् ॥१२०॥
विकलांगान्प्रव्रजितान्दीनानाथांश्च पालयेत् ।

अपने पास सम्पत्ति हो या न हो, पिता, माता, मित्र, पत्नी के कुल, दास दासी तथा सेवक वर्ग का अवश्य पालन करे। अङ्ग-भङ्ग संन्यासी हीन और अनाथों की अवश्य सेवा करे ॥ १२०॥

कुटुम्ब भरणार्थे यो यत्नवान्न भवेन्नरः ॥१२१॥
तस्य सर्वगुणैः किंतुजीवन्नेव मृतश्चसः।

जो मनुष्य, अपने कुटुम्ब के भरण पोषण में प्रयत्न नहीं करता, वह कितना भी गुणी क्यों न हो-वह तो जीवित ही मृतक के तुल्य माना गया है ॥ १२१ ॥

न कुटुंबं भृतं येन नामितः शत्रवोपिन ॥१२२॥
प्राप्तं संरक्षितं नैवतस्यकिंजीवितेनवै ।

जिस मनुष्य ने अपने कुटुम्ब का पालन नहीं किया और न कभी शत्रुओं को झुकाया तथा प्राप्त हुए पदार्थ की रक्षा नहीं कर सका—उसके जीवन की क्या प्रशंसा है ॥ १२२ ॥

स्त्री भिर्जितो ऋणीनित्यं सुदरिद्री च याचकः ॥
गुणहीनोर्थधीनः सन्मृता एते सजीवकः ।

जो मनुष्य, स्त्रियों के वश में है तथा जो सर्वदा ऋण से दबा रहता है। जो बहुत दरिद्री है। जो प्रत्येक से याचना करता है। जो गुणहीन और शत्रु के वश में रहता है—इतने मनुष्य जीते ही मरे समझने चाहिए॥ १२३ ॥

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मंत्र मैथुन भेषजम् ॥१२४॥
दानमानापमानं च नवैतानि सुगोपयेत् ।

आयु, धन, गृहछिद्र, मन्त्र, मैथुन, औषध, दान, मान और अपमान—इन बातों को बुद्धिमान मनुष्य, कभी प्रकाशित न करे॥ १२४ ॥

देशाटनं राजसभा वेशनं शास्त्र चिंतनम् ॥१२५॥
वेश्या निदर्शनं विद्वन्मैत्रीं कुर्यादतंद्रितः ।

देशाटन, राजसभा—में प्रवेश, शास्त्र चिन्तन, वैश्या सम्पर्क और विद्वानों के साथ में भी—इन बातों को मनुष्य प्रयत्न और

सावधानी के साथ सेवन करे—तो लोक कुशलता बहुत ही प्राप्त हो जाती है ।। १२५ ।।

अनेकाश्च तथा धर्माः पदार्थाः पशवोनराः ।।१२६।।
देशाटनात्स्वानुभूताः पर्वता देशरीतयः ।

अनेक धर्म, पदार्थ, पशु, नर, पर्वत तथा अन्य देशों की रीति—ये देशाटन से मनुष्य के देखने में आते हैं ।। १२६ ।।

कीदृशा राज पुरुषान्योय्यान्यार्य्यं च कीदृशम् ।।
मिथ्या विवादिनः केचके वैसत्य विवादिनः ।
कीदृशी व्यवहारस्य प्रवृत्तिः शास्त्र लोकतः ।।१२८।।
सभागमन शीलस्य तद्विज्ञानं प्रजायते ।

राज पुरुषों का क्या ढंग है । राज्य में न्याय अन्याय की क्या दशा है । कौन मिथ्या-झगड़ते हैं । कौन सत्यवादी हैं । शास्त्र और लोकानुसार व्यवहारों (मुकद्दमों) का किस तरह निर्णय होता है-यह सब कुछ सभा में गमन करने से मनुष्य को मालूम होता रहता है ।। १२७-१२८ ।।

नाहंकारी च धर्मांधः शास्त्राणां तत्त्वचिंतनैः ।।१२९।।
एकं शास्त्र मधीयानोनविद्यात्कार्य निर्णयम् ।
स्याद्बहागमसंदर्शी व्यवहारो महानतः ।।१३०।।
बुद्धिमानभ्यसेन्नित्यं बहु शास्त्राण्य तंद्रितः ।
तदर्थं तु गृहीत्वापि तदधीनोन जायते ।।१३१।।

जो मनुष्य शास्त्र के अर्थ का चिन्तन करता है-वह अहङ्कारी और धर्मान्ध नहीं होता है। जो केवल—एक विषय का पण्डित है, वह कार्य-निर्णय में समर्थ नहीं हो सकता है। मनुष्य, बहुत शास्त्रों का दर्शी हो, क्योंकि सांसारिक व्यवहार महान् होता है, इसीसे बुद्धिमान् मनुष्य निरालस होकर शास्त्रों का अभ्यास करता रहे। मनुष्य का स्वभाव है, कि वह शास्त्र को पढ़कर भी उसके अनुसार ठीक २ आचरण नहीं कर पाता है॥ १२६-१३१॥

वेश्या तथा विधावापि वशीकर्तुं नरंन्नमा।

नेयात्कस्य वशंतद्वत्स्वाधीनं कारयेज्जगत् ॥१३२॥

वैश्या या वैश्या जैसी व्यभिचारिणी स्त्री मनुष्यों को किस तरह फँसा लेती हैं। इस बात का ज्ञान हो जाता है, जिससे वह-सावधान होकर किसी के वश में नहीं-होता, किन्तु वह स्वयं जगत् को अपने चक्कर में फँसा लेता है॥ १३२॥

श्रुतिस्मृति पुराणानामर्थ विज्ञान मेवच।

सहवासात्पंडितानां बुद्धिः पंडा प्रजायते ॥१३३॥

श्रुति, स्मृति, पुराणों के अर्थ का ज्ञान विद्वानों के सहवास से ही होता है। सब कुछ अनुभव वाली बुद्धि, विद्वानों के संसर्ग से ही होती है॥ १३३॥

देव पित्रतिथिभ्योन्न मदत्त्वानाश्नियात्कचित्।

आत्मार्थं यः पचेन्मोहान्नरकार्थे स जीवति ॥१३४॥

जो मनुष्य, देव, पितर, अतिथियों को अन्न समर्पित न करके, स्वयं खा लेता है और अपने जिह्वा के आस्वाद के निमित्त भोजन बनाता है, वह नरक के लिए जीता है॥ १३४॥

मार्गं गुरुभ्यो बलिने व्याधितायशवायच।
राज्ञे श्रेष्ठाय व्रतिनेयान गाय समुत्सृजेत् ॥१३५॥

प्रत्येक मनुष्य, अपने गुरु, बलवान, रोगी, मृतक, राजा, श्रेष्ठ पुरुष, व्रतशील, और यान पर जाने वाले को मार्ग छोड़ देवे॥ १३५॥

शकटात्पंच हस्तं तु दशहस्तां तु वाजिनः।
दूरतः शतहस्तं च तिष्ठेन्नागाद्वृषाद्दश ॥१३६॥

गाड़ी से पांच हाथ, अश्व से दश हाथ, हाथी से सौ-हाथ और वृष से दश हाथ की दूरी पर मनुष्य स्थित होवे॥ १३६॥

शृंगिणां नखिनां चैव दंष्ट्रिणां दुर्जनस्य च।
नदीनांवसतौ स्त्रीणां विश्वासं नैवकारयेत् ॥१३७॥

सींग वाले पशु, नख वाले जन्तु, दांत वाले प्राणी, दुर्जन, नदी समीप के ग्राम और स्त्री का विश्वास न करे॥ १३७॥

खादन्न गच्छेद्ध्वानंन च हास्येन भाषणम्।
शोकं न कुर्यान्नष्टस्य स्वकृतेरपि जल्पनम् ॥१३८॥

मनुष्य, खाता हुआ मार्ग न चले। हँसता हुआ भाषण न करे। नष्ट हुए पदार्थ का शोक न करे और अपने काम की प्रशंसा न करे॥ १३८॥

सशंकितानां सामीप्यं त्यजेद्वै नीच सेवनम् ।
सँल्लापं नैवशृणुयाद्गुप्तः कस्यापि सर्वदा ॥१३६॥

जो शंका करता हो उनके समीप न ठहरे। नीच की सेवा छोड़ दे। छुपकर किसी के वार्तालाप को न सुने ॥ १३६ ॥

उत्तमैरननुज्ञातं कार्यं नेच्छेच्चतैः सह ।
देवैः साकं सुधापानाद्राहोश्छिन्नं शिरोयतः ॥१४०॥

बड़ों की आज्ञा के विना उनके साथ न चले। देवों के साथ अमृतपान की इच्छा से राहु का शिर काटा गया ॥ १४० ॥

महतो सत्कृतमपि भवेत्तद्भूषणायवै ।
विषपानं शिवस्यैवत्वन्येषां मृत्यु कारकम् ॥१४१॥

बड़े मनुष्यों का असत्कृत्य भी भूषण बनकर उनकी शोभा बढ़ा देता है। विषपान शिव का भूषण होगया-वही अन्य की मृत्यु का कारण बन जाता है ॥ १४१ ॥

तेजस्वी क्षमते सर्वं भोक्तुं वह्निरि वानघः ।
नसां मुख्ये गुरोः स्थेयं राज्ञः श्रेष्ठस्य कस्यचित् ॥

दोष रहित तेजस्वी पुरुष, सब कुछ भक्षण कर जाने में समर्थ होता है। गुरु, राजा और श्रेष्ठ पुरुष के सन्मुख बेढंग खड़ा न होवे ॥ १४२ ॥

राजा मित्रामितिज्ञात्वा न कार्यं मानसेप्सितम् ।
नेच्छेन्मूर्खस्य स्वामित्वं दास्यमिच्छेन्महात्मनाम् ॥
विरोधं न ज्ञान लवदुर्विदग्धस्य च रंजनम् ।

राजा-मेरा मित्र है-यह जानकर अच्छा बुरा कार्य उच्छृङ्खलता से न करे। कभी मूर्ख को स्वामी न बनावे। महापुरुषों के दास बनने की सर्वदा इच्छा करे। जो मनुष्य, ज्ञान की चिनगारी से दग्ध है अर्थात् थोड़े पढ़े हैं, उनके साथ विरोध अच्छा नहीं है और न उनको प्रसन्न ही किया जा सकता है ॥ १४३॥

अत्यावश्यमनावश्यं क्रमात्कार्यं समाचरेत् ॥१४४॥
प्राक्पश्चाद्द्राग्विलंबेन प्राप्तं कार्यं तु बुद्धिमान् ।

अत्यावश्यक और अनावश्यक-इन दोनों-प्रकार के कार्यों के आ पड़ने पर अत्यावश्यक को शीघ्र करे। पहले काम पहले और पीछे का काम पीछे करे। शीघ्रता का काम शीघ्र और बिलम्ब का कार्य बिलम्ब से करे। जो कार्य प्राप्त हो जावे-बुद्धिमान् उसे ही कर डाले ॥ १४४ ॥

पित्राज्ञातेनवैमातृवध रूपे सु पूजिता ॥१४५॥
धृतागौतम पुत्रेण ह्यकार्ये चिरकारिता ।

पिता के—अज्ञान में माता के वधरूप (व्यभिचार) अकार्य के होने पर भी गौतमपुत्र शतानन्द को अपनी माता के चिरकाल सेवन से पूजा प्राप्त हो चुकी है ॥ १४५ ॥

प्रेम्णासमीप वासेन स्तुत्यानत्या च सेवया ॥१४६॥
कौशल्ये न कलाभिश्च कथाभिर्ज्ञानतो पित्रा ।
आदरेणार्जवेनैव शौर्यादानेन विद्यया ॥१४७॥

प्रत्युत्थानाभिगमनैरानं दस्मित भाषणैः।

उपकारैः स्वाशयेन वशी कुर्याज्जगत्सदा ॥१४८॥

प्रेम, समीप वास, स्तुति, नमस्कार, सेवा कुशलता, कारीगरी, व्याख्यान, आदर सरलता, शौर्य, दान, विद्या प्रत्युत्थान, (खड़े होना) आगे बढ़कर स्वागत, आनन्द पूर्वक मुसकुराहट के साथ भाषण, उपकार, स्वच्छ अन्तःकरण के द्वारा मनुष्य, सबको वश में करता रहे ॥ १४६-१४८ ॥

एतेवश्य करोपाया दुर्जने निष्फलाः स्मृताः।

तत्सन्निधिं त्यजेत्प्राज्ञः शक्तस्तं दंडतो जयेत् ॥१४६

छलभूतैस्तु तद्रूपैरुपायैरेभिरेव वा।

ये वश करने के जितने भी उपाय बताए गए हैं, वे सब दुर्जन में निष्फल होते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य, उनकी संगति का परित्याग करे। यदि हो सके—तो उनको दण्ड-देकर ढीला कर दे। यदि दुर्जन के जीतने में कोई छल भूत उपाय भी किया जावे—तो भी कोई हानि नहीं है॥ १४६ ॥

श्रुतिस्मृति पुराणानामभ्यासः सर्वदाहितः ॥१५०॥

सांगानां सोपवेदानां सकलानां नरस्यहि।

श्रुति, स्मृति, पुराणका अभ्यास मनुष्यको सर्वदा हितकारी होता है। इससे साङ्गपद और सारे वेद उपवेदों का स्वाध्याय मनुष्य की उन्नति का करने वाला है॥ १५० ॥

मृगयाद्याः स्त्रियः पानं व्यसनानि नृणांसदा ॥१५१
चत्वार्येतानि संत्यज्य युक्त्या संयोजयेत्क्वचित् ।

मृगया, द्यूत, स्त्री भोग, सुरापान—ये मनुष्यों को दुर्व्यसन माने गए हैं। मनुष्य, इन चारों वासनाओं का परित्याग करे। यदि उनका कहीं करना आवश्यक हो—तो बड़ी युक्ति से करे ॥ १५१ ॥

कूटेन व्यवहारं तु वृत्तिलोपं न कस्यचित् ॥१५२॥
न कुर्याच्चिंतयेत्कस्य मनसाप्य हितं क्वचित् ।

किसी झूंठे कृत्य से किसी के व्यवहार और वृत्ति का विनाश न करे। और न किसी का मन से भी अहित का चिन्तन करे ॥ १५२ ॥

तत्कार्यं तु सुखं यस्माद्भवेत्रै कालिकं दृढम् ॥१५३॥
मृतेस्वर्गं जीवति च विंद्यात्कीर्तिं दृढां शुभाम् ।

मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए, जिसमे तीनों कालों में दृढ़ सुख की प्राप्ति हो, मरने पर स्वर्ग, जीते रहने पर दृढ़ और शुभ कीर्ति प्राप्त करने के कार्य करने ही उचित हैं ॥ १५३ ॥

जागर्ति च सचिंतोयः आधिव्याधि सुपीडितः ॥१५४
जारश्चोरो बलि द्विष्टो विषयी धनलोलुपः ।
कुसहायी कुनृपतिर्भिन्नामात्य सुहृत्प्रजः ॥१५५॥

चिन्तातुर, आधिव्याधि से पीड़ित, व्यभिचारी, चोर, बलवान से वैर रखने वाला, विषयी, धन का लालची, कुत्सित-

सहायता वाला, फूट हुए मित्र, अमात्य और प्रजा से युक्त-मूर्ख राजा, जागते २ रात बिताया करते हैं ॥ १५४-१५५ ॥

कुर्याद्यथा समीच्यैतत्सुखं स्वप्याच्चिरंनरः ।
राज्ञोनानु कृतिं कुर्यान्न च श्रेष्ठस्य कस्यचित् ॥१५६॥

मनुष्य, ऐसे कार्य करे. जिससे रात भर सुख से शयन कर सके। राजा या किसी सेठ साहूकार के कर्मों का अनुकरण (नकल) भी न करे ॥ १५६ ॥

नैकोगच्छेद्‌व्याल व्याघ्र चोरेषु च प्रबाधितुम् ।
जिघांसंतंजिघांसीयाद्गुरु मप्यातातायिनम् ॥१५७।

सर्प, सिंह और चोर को बाधा पहुँचाने के निमित्त अकेला न जावे। जो मारने वाला-आताताथी गुरु भी हो-तो उसको भी मार डालना चाहिए ॥ १५७ ॥

कलहे न सहायः स्यात्संरक्षेद्बहु नायकम् ।
गुरूणां पुरतो राज्ञो न चासीत महासने ॥१५८।

किसी के झगड़े में किसी एक का सहायक न बने। बहुतसी सेना वाले के साथ मित्रता गांठे रहे। राजा और गुरु के सन्मुख उच्चासन पर न बैठा रहे ॥ १५८ ॥

प्रौढपादो न तत्कार्यं हेतुभिर्विकृतिं नयेत् ।
यत्कर्तव्यं न जानाति कृतं जानाति चेतरः ॥१५९॥
नैववक्ति च कर्तव्यं कृतं यश्चोत्तमोनरः ।

किसी अधिकार पर अच्छी तरह जमकर बैठने पर भी किनही—हेतुवादों से उस काम को झंझट में न डाल दे। जिस मनुष्य के मन में स्थित-कार्य को कोई नहीं जान पाता है, उसको लोग हो जाने पर जान पाते हैं—अर्थात् जो मनुष्य अपने कार्य को दृढ़ता से करता और उसका रहस्य किसी से नहीं खोलता-उसीका काम सिद्ध होता है। जो मनुष्य, अपने आगे करने योग्य कार्य को नहीं कहता-और करने पर भी जो अपनी डींग नहीं मारता-वही उत्तम मनुष्य है ॥ १५९ ॥

न प्रिया कथितं सम्यङ्मनुतेनुभवंविना ॥१६०॥
अपराधं मातृस्नुषा भ्रातृपत्नि सपत्निजम् ।

पुत्र वधू. भ्राता की पत्नी (भाभी) और सपत्नी के अपराध को अपनी भार्या बतावे-तो भी अपने अनुभव के बिना उसे सत्य न माने ॥ १६० ॥

षोडशाब्दात्परं पुत्रं द्वादशाब्दात्परं स्त्रियम् ॥१६१॥
नताडयेद्दुष्टवाक्यैः पीडयेन्नस्नुषादिकम् ।

सोलह वर्ष से ऊपर पुत्र और बारह वर्ष से ऊपर स्त्री को बच्चे की तरह ताड़न न करे। न इनसे दुष्ट वाक्य कहे-और न पुत्र वधू को ताड़ना करे ॥ १६१ ॥

पुत्राधिकाश्च दौहित्रा भागिनेयाश्च भ्रातरः ॥१६२॥
कन्याधिकाः पालनीया भ्रातृ भार्यास्नुषास्वसा ।

आगमार्थं हियतते रक्षणार्थं हि सर्वदा ।।६३।।

कुटुम्ब पोषणेस्वामी तदन्ये तस्कराइव ।

अपने दौहित्र, भानजे, और भ्राता को पुत्र से भी अधिक मानना चाहिए। भ्राता का भार्या भाभी) पुत्र वधू और बहन को अपनी पुत्री से भी अधिक समझे। उत्तम मनुष्य, इनकी सदा आने की इच्छा और इनकी रक्षा का प्रयत्न करता रहे। जो पुरुष कुटुम्ब का भरण पोषण करता है, वह स्वामी है, शेष तो चोर समझने चाहिए ।। १६२-१६३ ।।

अनृतं साहसं मौर्ख्यं कामाधिक्यं स्त्रियांयतः ।।१६४

कामाद्विन कशयनेनैवसुप्यात्स्त्रियासह ।

अधिकांश स्त्रिया में अनृत, साहस, मूर्खता और काम की अधिकता होती है—इसस संभोग काल का छोड़ कर स्त्री के साथ कभी एक शय्या पर न सोवे। एक शय्या पर वे कान भर देती हैं ।। १६४ ।।

दृष्ट्वा धनं कुलंशीलं रूपं विद्यांबलवयः ।।१६५।।

कन्यांदद्यादुत्तमंचेन्मैत्रीं कुर्यादथात्मनः ।

भार्यार्थिनं वयोविद्यारूपिणं निर्धनंत्वपि ।।१६६।।

न केवलेन रूपेण वयसान धनेन च ।

धन, कुल, शील, रूप, विद्याबल, और वय आदि को देखकर मनुष्य, अपनी कन्या का वर को दान देवे। जो अपने से उत्तम

हो-उससे ही मित्रता या सम्बन्ध अच्छा माना गया है। जो वर विवाह करके भार्या ग्रहण करना चाहे, उसकी आयु विद्या और रूप अवश्य देखे-चाहे, उस पर धन न हो। केवल, रूप, वय या धन मात्र पर कन्या प्रदान न कर दे ॥ १६५-१६६ ॥

आदौ कुलं परीक्षेत ततोविद्यां ततोवयः ॥१६७॥
शीलंधनवलं रूपं देशंपश्चाद्विवाहयेत् ।

प्रथम कुल की परीक्षा करे-उसके बाद विद्या, फिर अवस्था, (आयु) शील, धन, बल, रूप और देश की भी जांच करे-इसके पश्चात् वर के साथ कन्या का विवाह होना चाहिए ॥१६७॥

कन्यावरयते रूपं मातावित्तं पिताश्रुतम् ॥१६८॥
बांधवाः कुलमिच्छति मिष्टान्नमितरे जनाः ।
भार्यार्थं वरयेत्कन्याम समानर्षि गोत्रजाम् ॥१६९॥
भ्रातृमतीं सकुलां च योनि दोष विवर्जिताम् ।

कन्या—रूप, माता धन और पिता विद्या को चाहता है। बान्धव-लोग, कुल में विवाह करने—की प्रशंसा करते रहते हैं। अन्य जन तो केवल मिठाई उड़ान वाले हैं। जिस कन्या के साथ गोत्र या प्रवर न मिले—उसके साथ विवाह करना चाहिए। उस कन्या के भ्राता अवश्य हो। वह कुलीन भी होनी उचित है। उसके कोई योनि दोष भी ना हो ॥ १६८-१६९ ॥

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च साधयेत ॥१७०॥
नत्याज्यौ तु क्षण कणौ नित्यं विद्याधनार्थिना ।

मनुष्य, प्रत्येक क्षण में विद्या और प्रत्येक कण का सञ्चय करके धन का संग्रह करे। जो विद्या और धन का अभिलाषी है, वह कभी क्षण और कण की उपेक्षा न करे॥ १७०॥

सुभार्या पुत्र मित्रार्थं हितं नित्यं धनार्जनम् ॥१७१॥

दानार्थं च विनात्वेतैः किंधनैश्च जनैश्चकिम् ।

पतिव्रता भार्या, पुत्र, मित्र और दान के निमित्त धन का उपार्जन करना बड़ा ही हितकारी है। जब ये न हो—तो धन और अन्य जनों का क्या उपयोग है॥ १७१॥

भावि संरक्षण क्षमंधनं यत्नेन रक्षयेत् ॥१७२॥

जीवामिशत वर्षं तु नंदामिच धनेनवै ।

इतिबुद्ध्या संचिनुयाद्धनं विद्यादिकंसदा ॥१७३॥

भविष्य में मनुष्य के संरक्षण के उपयोगी धन की यत्न से रक्षा करे। मनुष्य का यही ध्यान होना चाहिए, कि मैं सौ वर्ष तक जीऊँगा और धन से आनन्द उड़ाऊँगा। यह सोचकर मनुष्य सर्वदा धन और विद्या सञ्चय करता रहे॥ १७२-१७३॥

पंचविंशत्यब्द पूरं तदर्धं वातदर्धकम् ।

विद्याधनं श्रेष्ठतरंतन्मूलमितरद्धनम् ॥१७४॥

दानेन वर्धते नित्यं न भारायन नीयते ।

विद्यार्थी पच्चीस बर्ष, साढ़े बारह वर्ष, या सवा छः वर्ष तक अवश्य अध्ययन करे, विद्याधन बड़ा श्रेष्ठ है–इसीके आधार से

अन्य धन की प्राप्ति स्वयं हो जाती है। विद्याधन-दान से नित्य बढ़ती है, इसका कुछ भी बोझा नहीं होता और न इसे कोई चुराकर ले जा सकता है॥ १७४ ॥

अस्तियावत्तु सधनस्तावत्सर्वैस्तु सेव्यते ॥७५॥
निर्धनस्त्यज्यते भार्या पुत्राद्यैः सगुणोप्यतः ।
संसृतौ व्यवहाराय सारभूतं धनं स्मृतम् ॥१७६॥

धनवान मनुष्य के पास जब तक धन रहता है—तभी तक उसकी सेवा करते हैं। कोई कितना भी गुणवान क्यों न हो—निर्धन—होने पर तो भार्या पुत्र आदि से भी छोड़ दिया जाता है, इसलिए संसार के व्यवहार के लिए तो धन को ही सार माना गया हैं॥ १७५-१७६ ॥

अतोयते तत्प्राप्त्यैनरः सूपाय साहसैः ।
सुविद्ययासु सेवाभिः शौर्येण कृषि भिस्तथा ॥१७७॥
कौसीदवृद्धया पण्येन कलाभिश्च प्रतिग्रहैः ।
ययाकया चापि वृत्त्या धनवान्स्यात्तथा चरेत ॥१७८

मनुष्य को चाहिए कि वह उत्तम विद्या, समुचित सेवा, शौर्य, कृषि, ब्याज, व्यापार, उत्तम उपाय, साहस, कारीगरी, प्रतिग्रह—आदि किसी भी वृत्ति से धन होने का आचरण—करे॥ १७७-१७८॥

तिष्ठंति सधन द्वारे गुणिनः किंकराइव ।

दोषा अपिगुणा यंते दोषायं ते गुणाअपि ॥१७६॥

धनवतो निर्धनस्य निंद्यते निर्धनोखिलैः ।

धनवान के द्वार—पर गुणी दास की भाँति स्थित-सोते हैं। धनवान के दोष भी गुण हो जाते हैं और निर्धन के गुण भी दोष में परिणत देखे गए हैं। सब लोग, निर्धन की निन्दा या हँसी उड़ाया करते हैं ॥ १७९ ॥

यथानजानंति धनंसंचितं कतिकुत्रवै ॥१८०॥

आत्मा स्त्री पुत्र मित्राणि सलेखं धारयेत्तथा ।

नैवास्ति लिखितादन्यत्स्मारकं व्यवहारिणाम् ॥१८१॥

कितना धन सञ्चित किया जा चुका—कहाँ रखा है, इस बात को अपने स्त्री, पुत्र, मित्र आदि भी न जान पावे। धन को जहाँ रखे—उसका लेख—अवश्य बनाकर रख लेवे। व्यवहारी लोगों को लेख से अधिक किसी वस्तु के स्मरण दिलाने का अन्य कोई साधन नहीं है ॥ १८०-१८१ ॥

न लेखे न विनाकुर्याद्व्यवहारं सदाबुधः ।

निर्लोभे धनिके राज्ञि विश्वस्तेत्तमिणांवरे ॥१८२॥

सुसंचितं धनं धार्यं गृहीत लिखितं तुवा ।

मैत्र्यर्थेयाचितं दद्याद कुसीदं धनंसदा ॥१८३॥

तस्मिन्स्थितं चेन्न बहु हानिकृच्च तथाविधम् ।

बुद्धिमान् मनुष्य, कभी लेख के बिना व्यवहार न करे। निर्लोभी, विश्वास के योग्य, क्षमा शील धनिक या राजा के कोश में धन को सुरक्षित कर दे और उसके सम्बन्ध में कोई लेख ले लेवे। मित्रता के सम्बन्ध से जो ऋण रूप में धन मांगे, उसे बिना ब्याज देना चाहिए। अपने मित्र के पास रखा हुआ धन बहुत हानिकर नहीं होता है॥ १८२-१८३॥

दृष्ट्वाधमर्णं वृद्ध्यापि व्यवहार क्षमंसदा ॥१८४॥

संबंधं स प्रतिभुवं धनं दद्याच्च साक्षिमत्।

गृहीत लिखितं योग्य मानं प्रत्यागमे सुखम् ॥१८५॥

ऋण लेने वाले को व्यवहार के योग्य देख कर धन वृद्धि के निमित्त ऋण दिया जा सकता है, इसके लिए प्रतिभू (जामिन) और साक्षी बना लेने चाहिए, ऋण देने का पत्र लिख लेना, बड़ा प्रमाण है और ऋण के आने के समय वह बड़ा सुखदायी होता है ॥१८४-१८५॥

नदद्याद्वृद्धि लोभेन नष्टं मूलधनं भवेत्।

आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत् ॥१८६॥

ऐसे वैसे आदमी को वृद्धि के लोभ से धन न देवे, इससे मूलधन भी नष्ट हो जाता है। कोई—कितना भी दबावे—दबाना नहीं चाहिए। आहार और व्यवहार में जो—किसी का संकोच नहीं मानता—वही सुखी रहता है॥ १८६॥

धनं मैत्री करंदाने चा दाने शत्रु कारकम् ।
कृत्वास्वांते तथौदार्यं कार्पण्यं बहिरेवच ॥१८७॥

लेती बार धन के मित्रता और देती बार- शत्रुता हो जाती है। मनुष्य, अपने चित्त में उदारता और चित्त के-बाहर कृपणता को करके ऋण को चुका देवे ॥ १८७ ॥

उचितं तु व्ययंकालेनरः कुर्यान्नचान्यथा ।
सुभार्या पुत्र मित्राणि शक्त्यासंरक्षयेद्धनैः ॥१८८॥

जब व्यय का समय आवे—तो मनुष्य उसको अवश्य करे। अपने सुपुत्र, भार्या, मित्र आदि की शक्ति के अनुसार धन से अवश्य रक्षा करे ॥ १८८ ॥

नात्मा पुनरतोत्मानं सर्वैः सर्वंपुनर्भवेत् ।
पश्यंतिस्म सजीवश्चेन्नरो भद्र शतानि च ॥१८९॥

सब कुछ फिर दुबारा हो सकते हैं, परन्तु अपना आत्मा फिर नहीं होता, इससे सबका बलिदान करके अपनी रक्षा करे। यदि मनुष्य का जीवन बचा रहा—तो वह सैकड़ों कल्याणों का कभी मुँह देख सकता है॥ १८९ ॥

सदार प्रौढ पुत्रान्द्राक्श्च योर्थी विभजेत्पिता ।
सदार भ्रातरः प्रौढाविभजेयुः परस्परम् ॥१९०॥

जो मनुष्य, अपना हित चाहे, वह अपने युवा पुत्रों का फौरन बटवारा करदे। उसमें एक भाग अपनी भार्या का होना चाहिए।

यदि पिता न रहा हो-तो युवा होने पर भ्राता परस्पर अपना २ भाग बराबर बांट लेवें ।। १६० ।।

एकोदरा अपिप्रायो विनाशायान्यथा खलु ।
नैकत्र संवसेच्चापि स्त्री द्वयं मनुजस्यतु ।।१६१।।

यदि दो सहोदर भाइयों में भी जब झगड़ा हो जाता है, तो वे एक दूसरे के विनाश के लिए होते हैं। मनुष्यों में देखा गया कि दो स्त्रियां एक जगह नहीं रह पाती हैं—उनमें खटकते देर नही लगती है ।। १६१ ।।

कथंवसेत्तद्बहुत्वं पशूनां तु नरद्वयम् ।
विभजेयुर्न तत्पुत्रायद्धनं वृद्धिकारणम् ।।१६२।।

पशुओं के तुल्य दो मनुष्य और बहुत सी स्त्रियां एक जगह कैसे रह सकती हैं। जो धन व्यापार में लगा हुआ है, पुत्र उस मूलधन का बटवारा न करके उसकी आय को बांटते रहे ।। १६२ ।।

अधमर्णस्थितं चापि यद्देयं चौत्तमर्णिकम् ।
यस्येच्छेदुत्तमां मैत्रीं कुर्यान्नार्थाभिलाषकम् ।।१६३।।

जो ऋण देना हो। या जो ऋण लेना हो-इसको भी न बांटे मूलधन की वृद्धि से उसे चुकाया जावे। जिससे अपनी उत्तम—मैत्री की अभिलाषा हो, उससे धन की अभिलाषा न करे ।।१६३।।

परोक्षेतद्गृहश्चारं तत्स्त्री संभाषणं तथा ।
तन्न्यून दर्शनं नैवतत्प्रतीप विवादनम् ।।१६४।।
असाहाय्यं च तत्कार्येह्यनिष्टोपेक्षणं न च ।

मित्र के परोक्ष में उसकी स्त्री के—पास, गमन, उससे बात-चीत, मित्र की न्यूनता, दर्शन—उसके प्रतिकूल विवाह, उसके अनिष्ट की उपेक्षा—न करे। और मित्र के काम में सहायता न देना—मित्रता का नाशक है—इससे ये बातें कभी न करे॥ १६४॥

सकुसीदम कुसीदं धनं यच्चौक्त मर्णिकम् ॥१६५॥
दद्याद्गहीतमिवनो चोभ्योः क्लेशकृद्यथा।
नासाक्षिमच्च लिखितमृणपत्रस्य पृष्ठतः ॥१६६॥

ब्याज सहित या बिना ब्याज जो द्रव्य, उत्तमर्ण (कर्जदार) से लिया है। उसको उसी तरह देवे—जैसे गुपचुप में लिया है। जिससे दोनों को कोई क्लेश न हो। ऋणपत्र के पीछे साक्षी बिना कराए कभी ऋण न देवे॥ १६५-१६६॥

आत्म पितृ मातृ गुणैः प्रख्यातश्चोत्तमोत्तमः।
गुणैरात्मभवैः ख्यातः पैतृकैर्मातृकैः पृथक् ॥१६७॥
उत्तमोमध्यमो नीचोधमो मातृगुणैर्नरः।
कन्या स्त्री भगिनी भाग्योनरः सोप्यधमाधमः ॥१६८॥

जो मनुष्य, अपने, पिता, माता के गुणों से विख्यात होता है, वह उत्तमोत्तम माना गया है, परन्तु जो अपने, पिता और माता के पृथक् २ गुणों से पृथक् बात में विख्यात है, वह क्रम से उत्तम, मध्यम और अधम होता है, वह अधम या नीच है। कन्या, स्त्री, भगिनी के भाग्य से जो विख्यात हुआ है। वह अधमाधम पुरुष माना जाता है॥ १६७-१६८॥

भूत्वा महाधनः सम्यक् पोष्यवर्गं तु पोषयेत् ।
अदत्त्वायत्किंचिदपि ननयेद्दिवसंबुधः ॥१९९॥

जब मनुष्य, महाधनी हो जावे—तो उसे अच्छी तरह अपने पोष्य वर्ग का पालन करना चाहिए। इनको विना कुछ दान दिए बुद्धिमान को एक दिन भी खाली न जाने देना चाहिए ॥ १९९ ॥

स्थितो मृत्युमुखेचाहं क्षणमायुर्ममास्तिन ।
इति मत्वादानधर्मौयथेष्टौतु समाचरेत् । २००॥

अब मैं मृत्यु के मुख में पहुँच चुका अब मेरी क्षण भर भी आयुनहीं रही है। इस तरह मान कर मनुष्य अपनी इच्छानुसार दान और धर्म का आचरण करे ॥ २०० ॥

नतौविनामेपरत्रसहायाः संतिचेतरे ।
दानशीलाश्रयाल्लोकोवर्ततेन शठाश्रयात् ॥२०१॥
भवंति मित्रादानेन द्विषंतोपि च किंपुनः ।

इस धर्म या दान के बिना मेरा परलोक में कोई सहायक नहीं होगा-ऐसी मनुष्य की अवस्था होना चाहिए । यह लोक, दानशील—मनुष्यों के आश्रय से चलता है, ठगों के आश्रय से इसका सञ्चालन नहीं है। दान देने से तो शत्रु भी मित्र बन जाते हैं फिर साधारण मनुष्यों की चर्चा ही क्या है ॥ २०१ ॥

देवतार्थं च यज्ञार्थं ब्राह्मणार्थं गवार्थकम् ॥२०२॥
यद्दत्तं तत्पारलोक्यं संविदत्तं तदुच्यते ।

देवता, यज्ञ, ब्राह्मण, गौ आदि के निमित्त जो दान दिया जाता है—वह परलोक में हितकारी होता है । इसका नाम संविद्दत्त-होता है ॥ २०२ ॥

वंदि मागध मल्लादि नटानर्थं च दीयते ॥२०३॥

पारितोष्यं यशोर्थं तच्छ्रियादत्तं तदुच्यते ।

बन्दी, मागध, मल्ल, नट आदि को जो धन दान दिया जाता है, वह पारतोषिक कहाता है—यह यश के लिए दिया जाता है—इससे इसे श्रीदत्त कहते हैं ॥ २०३ ॥

उपायनीकृतंयत्तु सुहृत्संबंधि बंधुषु ॥२०४॥

विवाहादिषुवाचार दत्तंहीदत्त मेवतत् ।

सुहृद, सम्बन्धी, बान्धव आदि को जो परिपाटी के अनुसार विवाह आदि में दिया जाता है, वह लज्जा से देना पड़ता है, इससे इसे ही दत्त कहते हैं ॥ २०४ ॥

राज्ञे च बलिनेदत्तं कार्यार्थं कार्यघातिने ॥२०५॥

पाप भीत्याथवायच्चतत्तुभिदत्त मुच्यते ।

राजा, बलवान् तथा कार्य विघातक को जो कार्य सिद्धि के निमित्त दिया जाता-एवं जो पाप के भय से देना है, वह सब भय दत्त कहाता है ॥ २०५ ॥

यद्दत्तं हिंस्रवृद्ध्यर्थं नष्ट द्यूत विनाशितम् ॥२०६॥

चौरैहृतं पाप दंतत्परस्त्री संगमार्थकम् ।

जो धन हिंसा की वृद्धि में दिया जाता है। खो जाता है, जुआ में चला जाता है, चोर चुरा ले जाते हैं; पर स्त्री संभोग में चला जाता है—यह पापदत्त कहाता है॥ २०६॥

आराधयतियं देवंत मुत्कृष्टतरं वदेत् ॥२०७॥
तन्न्यूनतां नैव कुर्याज्जोषयेत्तस्य सेवनम्।
विना दानार्जवाभ्यांन भुव्यस्ति च वशीकरम् ॥२०८

जिस धन से देवता का आराधन किया जावे—वह सर्वोत्तम माना गया है। उसमें कभी न्यूनता न करे। उसकी बड़ी प्रीति से सेवा करता रहे। दान और सरलता से अधिक पृथिवी पर कोई बड़ा वशीकरण नहीं है॥ २०७-२०८॥

दान क्षीणो विवर्धिष्णुः शशीवक्रोप्यतः शुभः
विचार्य स्नेहं द्वेषं वा कुर्यात्कृत्वान चान्यथा ॥२०९॥

जो मनुष्य, दान से क्षीण होता है, और फिर बढ़ने का प्रयत्न करता रहता है, वह एक दिन बढ़ जाता है। चन्द्रिका दान देते २ क्षीण हुआ चन्द्रमा भी फिर पूर्णिमा को पूर्ण वृद्धि को प्राप्त हो जाता है। मनुष्य को विचार कर प्रीतिया द्वेष करना चाहिए। यदि प्रीति या द्वेष विना विचारे कर डाले-तो उसका उलटा ही परिणाम होता है॥ २०९॥

नाप कुर्यान्नोप कुर्याद्भवतोनर्थ कारिणो।
नाति क्रौर्यंनाति शाठ्यंधारयेन्नातिमार्दवम् ॥२१०॥

विना विचारे, किसी का अपकार या उपकार न करे। इस तरह सज्जन का अपकार और दूर्जन का उपकार हो जाना सम्भव है। मनुष्य अत्यन्त क्रूरता, अति शठता, और अत्यन्त कोमलता भी-धारण न करे ॥ २१० ॥

नाति वादंनातिकार्या सक्तिमत्याग्रहं न च ।

अति सर्वनाशहेतुह्यतोत्यंतं विवर्जयेत् ॥२११॥

न किसी की अत्यन्त निन्दा या अत्यन्त विवाद करे और न किसी विषम कार्य में अत्यन्त आसक्त होवे । अत्यन्त आग्रह (हठ) भी बुरा है । किसी भी बात की बहुत खेंच तो नाश का ही हेतु है—अतएव—किसी भी बात की अधिकता करना अच्छा नहीं है ॥ २११ ॥

उद्वेजतेजनः क्रौर्यात्कार्पण्यादति निंदति ।

मार्दवान्नैवगणयेदपमानोतिवादतः ॥२१२॥

यदि अत्यन्त क्रूरता (क्रोध) होगी—तो लोग, बिगड़ बैठेंगे। यदि अत्यन्त कंजूसी हुई, तो लोग निन्दा करेंगे। कोमल प्रकृति मनुष्य का कोई प्रभाव नहीं मानता और अत्यन्त विवाद करने से अपमान हो जाता है ॥ २१२ ॥

अति दानेनं दारिद्यं तिरस्कारोति लोभतः ।

अत्याग्रहान्नरस्यैव मौर्ख्यंसंजायते खलु ॥२१३॥

अत्यन्त—दान से दरिद्रता अत्यन्त लोभ से तिरस्कार, तथा अत्यन्त आग्रह से मनुष्य की मूर्खता प्रकट होती है ॥ २१३ ॥

अनाचाराद्धर्म हानिरत्याचारस्तु मूर्खता ।
ह्यधिकोस्मीति सर्वेभ्योयधिक ज्ञानवानहम् ॥२१४॥
धर्मतत्व मिदमितिनैवं मन्येत बुद्धिमान् ।
नेच्छेत्स्वाम्यं तु देवेषु गोषु च ब्राह्मणेषु च ॥२१५॥

अनाचार से धर्म की हानि है और अधिक आचार से पागल-पन प्रकट होता है। मैं सब से अधिक हूं। मेरा ज्ञान भी सबकी अपेक्षा—महान है। मैं जो जानता हूँ—वही धर्म तत्व है—इस तरह बुद्धिमान मनुष्य को नहीं समझना चाहिए। देवता, गौ और ब्राह्मणों के स्वामी बनने की इच्छा न करे॥ २१४-२१५ ॥

महानर्थ करंह्येतत्समग्र कुलनाशनम् ।
भजनं पूजनं सेवामिच्छेनदेषु सर्वदा ॥२१६॥

देव, गौ और ब्राह्मण का स्वामी बनना महान् अनर्थ का मूल है। इससे सारा कुल भी नाश होता देखा गया है। देवता का भजन, गौ की पूजा और ब्राह्मणों की सेवा करने की सर्वदा इच्छा करे॥ २१६ ॥

नज्ञायते ब्रह्मतेजः कस्मिन्कीदृक्प्रतिष्ठितम् ।
पराधीन नैव कुर्यात्तरुणीधन पुस्तकम् ॥२१७॥
कृतंचेल्लभ्यते दैवाद्भ्रष्टं नष्टं विमर्दितम् ।
बह्वर्थं न त्यजेदल्पहेतु नाल्पं न साधयेत् ॥२१८॥

बह्वर्थ व्ययतो धीमानभिमानेन नो क्वचित् ।
बह्वर्थ व्ययभीत्यातु सत्कीर्तिन त्यजेत्सदा ॥२१६॥

कौन जान सकता है, कि किस ब्राह्मण में कितना ब्रह्म तेज प्रतिष्ठित है। इससे ब्राह्मण को अपमानित करके उसे रुष्ट नहीं करना चाहिए। अपनी तरुणी स्त्री, धन और पुस्तक इनको कभी अन्य के अधीन न करे। यदि पराधीन करने पर दैव से मिल भी जावे—तो तरुणी के भ्रष्ट हो जाने को सम्भावना है, धन नष्ट हो सकता है और पुस्तक फट जाती है। थोड़ी सिद्धि के लालच में बड़ी सिद्धि का परित्याग न करे। तथा बहुत व्यय से होने वाली थोड़ी सिद्धि को नहीं करे। यही बुद्धिमत्ता है। बुद्धिमान मनुष्य अभिमान के कारण या बहुत व्यय के भय से अपनी सत्कीर्ति का त्याग न करे॥ २१७-२१६॥

भटानाम सदुक्त्यातु नर्देत्कुप्यान्नतैः सह ।
लज्जतेन सुहृद्योनाभिद्यते दुर्मना भवेत् ॥२२०॥
वक्तव्यं न तथा किंचिद्विनोदेपि च धीमता ।

बलवानों के असत् वचन से न दुःख माने और न उन पर क्रोध करे। मित्र लज्जित न हो, न भेद को प्राप्त हो—ऐसा वचन बोलना चाहिए। जिससे मित्र, उदास हो जावे, ऐसा-वचन बुद्धिमान् को विनोद में भी न बोलना चाहिए॥ २२०॥

आजन्म सेवितैर्दानैर्मानैश्च परितोषितम् ॥२२१॥
तीक्ष्णवाक्यान्मित्रमपि तत्कालंयाति शत्रुताम् ।
वक्रोक्ति शल्य मुद्धर्तुंनशल्यं मान संयतः ॥२२२॥

जिस मित्र की जन्म भर सेवा की, दान और मान से जिसको संतुष्ट किया–वह मित्र भी तीक्ष्ण—वाक्य से तत्काल शत्रु बनता है, क्योंकि कटु वचन का कांटा मन से कभी नहीं निकल सकता है॥ २२१-२२२ ॥

वहेद मित्रंस्कंधेन यावत्स्यात्स्व बलाधिकः ।
ज्ञात्वा नष्ट बलंतत्तु भिद्यात् घट मिवाश्मनि ॥२२३॥

शत्रु जब तक अपने से बल में अधिक है, तभी तक उसको अपने कंधों पर लिए फिरो, परन्तु जब तुमको यह ज्ञान हो जावे, कि वह नष्ट बल हो गया–तो पत्थर से घड़े की भाँति उसे फोड़ डालो ॥ २२३ ॥

न भूषयत्यलंकारो न राज्यं न च पौरुषम् ।
नविद्या न धनंतादृक्याद्दृक्सौजन्य भूषणम् ॥२२४॥

मनुष्य को अलङ्कार, राज्य, पुरुषार्थ, विद्या और धन–इतना सुशोभित नहीं कर सकते हैं, जितना सुजनता का भूषण मनुष्य की शोभा को बढ़ाता है ॥ २२४ ॥

अश्वे जवोवृषेधैर्यंमणौकांतिः क्षमानृपे ।
हाव भावौ च वेश्यायां गायके मधुरस्वरः ॥२२५॥

दातृत्वं धनिके शौर्यं सैनिके बहु दुग्धता ।
गोषु दमस्तपस्विषु विद्वत्सु वावदूकता ॥२२६॥
सभ्येष्व पक्षपातस्तु तथा साक्षिषु सत्यवाक् ।
अनन्य भक्तिर्भृत्येषु सुहितोक्तिश्च मंत्रिषु ॥२२७॥
मौनं मूर्खेषु च स्त्रीषु पातिव्रत्यं सुभूषणम् ।
महादुर्भूषणं चैतद्विपरीतममीषुच ॥२२८॥

अश्व में वेग, वृषभ में धैर्य, मणि में कान्ति, राजा में क्षमा, वैश्या में हाव भाव, गायक में मधुर स्वर, धनवान में उदारता, सैनिक में शौर्य, गौओं में बहु दुग्धता, तपस्वियों में जितेन्द्रियता, विद्वानों में व्याख्यान शक्ति, सभ्यों (जजों) में अपक्षपात, साक्षियों में सत्यवादित्व, भृत्यों में अनन्य भक्ति, मन्त्रियों में हितकारी वचन कहने की शक्ति, मूर्खों में मौन, स्त्रियों में पातिव्रत्य बड़ा ही-भूषण है। इनसे विपरीत होना-इनमें बड़ा ही दूषण बन जाता है ॥ २२५-२२८ ॥

भारयेक नायकं नित्यं नैवनिर्बहुनायकम् ।
न च हिंस्रमुपेक्षेतशक्तोहन्याच्चतत्क्षणे ॥२२९॥

कोई भी बात हो, वह तभी तक ठीक चलती है, जब तक उसका एक नायक हो। नायक हीन या बहुत नायकों से युक्त बात पार नहीं पड़ती है। हिंसक की उपेक्षा न करे और शक्ति होवे-तो उसे तत्क्षण मार देवे ॥ २२९ ॥

पैशुन्यं चंडताचौर्यंमात्सर्यमति लोभता ।

असत्यं कार्यघातित्वं तथालसकताप्यलम् ॥२३०

गुणिनामपि दोषाय गुणानाच्छाद्य जायते ।

पैशुन्य (चुगुली) क्रोधीपन, चोरी, मत्सरता (डाह) अति-लोभ, असत्य, कार्य का विनाश और अत्यन्त आलसी होना—ये ये बातें गुणियों के गुणों को ढक कर उनके दोष के लिए हो जाती हैं ॥ २३० ॥

मातुः प्रियायाः पुत्रस्यधनस्य च विनाशनम् ॥२३१॥

बाल्यें मध्ये च वार्धकये महापाप फलं क्रमात् ।

श्रीमता मन पत्यत्वमधनानां च मूर्खता ॥२३२॥

स्त्रीणां षंढपतित्वं चन सौख्यायेष्ट निर्गमः ।

बचपन में माता का, यौवन में भार्या का तथा वृद्धावस्था में पुत्र और धन का नष्ट होना—महा पाप का फल माना गया है। धनवानों को सन्तान हीन, निर्धनों का मूर्ख, स्त्रियों का नपुंसक पति होना सुख के लिए नहीं होता है। इससे अपने अभीष्ट का नाश ही होता है ॥ २३१-२३२ ॥

मूर्खः पुत्रोऽधवा कन्या चंडी भार्या दरिद्रता ॥२३३॥

नीच सेवाटनं नित्यंनैतत्षट्कं सुखायच ।

मूर्ख पुत्र, विधवा कन्या, क्रोध युक्त भार्या, दरिद्रता, नीच की सेवा, नित्य अटन—ये छः बातें सुख के लिए नहीं होती ॥२३३॥

नाध्यापनेनाध्ययनेन देवेन गुरौद्विजे ।।२३४।।

न कलासुनसंगीतेसेवायां नार्जवेस्त्रियाम् ।

न शौर्येन च तपसिसाहित्ये रमतेमनः ।।२३५।।

यस्यमुक्तः खलः किंवानर रूप पशुश्चसः ।

अध्यापन, अध्ययन, देव, गुरु, द्विज, कला संगीत, सेवा, ऋतुता, स्त्री, शूरवीरता, तप और साहित्य में जिसका मन नहीं लगता—वह या तो मुक्त पुरुष है। या दुष्ट तथा नर रूप में कोई पशु विचर रहा है ।। २३४-२३५ ।।

अन्योदया सहिष्णुश्च छिद्रदर्शी विनिंदकः ।।२३६।।

द्रोहशीलः स्वांतमलः प्रसन्नास्यः खलः स्मृतः ।

अन्य की उन्नति का असहिष्णु, अन्य के छिद्रों का देखने वाला, निन्दक, द्रोहशील, मन का मैला और प्रसन्न मुख होना खल के लक्षण हैं ।। २३६ ।।

एकस्यैवन पर्याप्तमस्तियद्ब्रह्मकोशजम् ।।२३७।।

आशाबद्धस्योज्झितस्य तस्याल्पमपि पूर्तिकृत् ।

करोत्यकार्यं साशोन्यं बाधयत्यनुमोदते ।।२३८।।

जो आशा के चक्कर में फँस गया—उसको ब्रह्माण्ड के भीतर बने हुए सारे पदार्थों की प्राप्ति से भी सन्तोष नहीं हो सकता है, परन्तु जिसने आशा का फेर छोड़ दिया, उसकी थोड़े से भी पूर्ति हो जाती है। आशा पाश में फँसा हुआ मनुष्य, अकार्य करता है,

अन्य को सुझाता है और करते हुए का अनुमोदन करता है ॥ २३७-२३८ ॥

भवंत्यन्योप देशार्थे धूर्ताः साधू समाः सदा ।
स्वकार्यार्थं प्रकुर्वंतिह्यकार्याणां शततुते ॥२३९॥

धूर्त मनुष्य, अन्य के उपदेश करने को साधु पुरुष के सदृश बन जाते। परन्तु जब उनका स्वयं काम आ पड़ता है, तो—वे सैकड़ों अकार्य करते हैं ॥ २३९ ॥

पित्रो राज्ञा पालयति सेवने च निरालसः ।
छायेववर्तते नित्यंयतते चागमायवै ॥२४०॥
कुशलः सर्व विद्यासु सपुत्रः प्रीतिकारकः ।
दुःखदोविपरीतोयो दुर्गुणी धन नाशकः ॥२४१॥

जो पुत्र, पिता की आज्ञा का पालन करता—है तथा उनकी सेवा में निरालस हैं, जो छाया की तरह चलता है, आय के लिए प्रयत्न करता है, जो सारी विद्याओं में कुशल हैं, वह सुपुत्र होता है, जिसके देखने से भी आनन्द होता है। इन गुणों से विपरीत पुत्र कुपुत्र और दुःखदायो है। वह दुर्गुणी पुत्र, धन का नाशक होता है ॥ २४०-२४१ ॥

पत्यौ नित्यं चानुरक्ता कुशलागृह कर्मणि ।
पुत्रप्रसूसुशीलाया प्रियापत्युः सुयौवना ॥२४२॥

पति से सर्वदा प्रेम करने वाली, गृहकार्य में कुशल, पुत्रोत्पत्ति करने वाली, सुशील, और सुयौवना, भार्या ही पति को प्यारी होती है ॥ २४२ ॥

पुत्रा पराधान्क्षमतेया पुत्र परिपोषिणी ।
सामाता प्रीतिदानित्यं कुलटान्याति दुःखदा ॥२४३॥

जो माता पुत्रों के अपराध क्षमा कर देती है और उनका लालन-पालन करती रहती है, वही माता प्रीति-जननी मानी है। परन्तु जो व्यभिचारिणी है, वह बड़ी दुःख दायी मानी जाती है॥ २४३ ॥

विद्या गमार्थं पुत्रस्यवृत्त्यर्थं यततेचयः ।
पुत्रं सदासाधुशास्ति प्रीतिकृत्सपितानृणी ॥२४४॥

पुत्र के विद्या पढ़ाने में प्रवृत्त, वृत्ति (भरण पोषण) के लिए प्रयत्न शाली, ऋण हीन ही प्रशंसनीय माना गया है। पर अपने को सर्वदा उत्तम २ शिक्षा देता रहता है ॥ २४४ ॥

यः साहाय्यंसदा कुर्यात्प्रतीपन्न वदेत्कचित् ।
सत्यं हितंवक्तियातिदत्त गृह्णातिमित्रताम् ॥२४५॥

जो सर्वदा सहायता करे और विपरीत बात न बोले। सत्य, हितकारी बात कहे। सदा अपने पास आता रहे। देना-लेना बना ये रखे—वही मित्रता को निभाने वाला मित्र होता है ॥ २४५ ॥

नीचस्याति परिचयोह्यन्यगेहे सदागतिः ।
जातौ संघेप्रातिकूल्यंमानहानिर्दरिद्रता ॥२४६॥

नीच का अत्यन्त परिचय, अन्य घर पर सदा जाते रहना, जाति और संघो से विरुद्ध रहना, मान हानि और दरिद्रता, का करने वाला है ॥ २४६ ॥

व्याघ्राग्नि सर्पहिंस्राणां नहिसंघर्षणं हितम् ।
सेवितत्वात्त राज्ञोनैतेमित्राःकस्य संतिहि ॥२४७॥

सिंह, अग्नि, सर्प, घातक (हत्यारा) इनसे सम्बन्ध रखना हितकारी नहीं है । राजा भी सेवन करने पर भी मित्र नहीं होता-इससे यही कहना होगा—कि ये सिंह आदि प्राणी किसी के भी मित्र नहीं है ॥ २४७ ॥

दौर्मनस्यं च सुहृदां सुप्राबल्यंरिपोः सदा ।
विद्वत्स्वपिच दारिद्र्यं दारिद्र्याद्बहपत्यता ॥२४८॥

सुहृदों का मन अधिकतर बिगड़ जाता है । शत्रु प्रायः बलवान् हो—जाता है, विद्वानों में दरिद्र और दरिद्र से मनुष्य के बहुत—सन्तान टपक पड़ती है ॥ २४८ ॥

धनीगुणी वैद्य नृप जलहीने सदास्थितिः ।
दुःखायकन्यकाप्येका पित्रोरपि च याचनम् ॥२४९॥

धनी, गुणी, वैद्य, नृप और जल—से हीन स्थान में मनुष्य अपनी स्थिति बनावे । एक कन्या भी दुःख के लिए होती है तथा मांगना तो पिता से भी बुरा लगता है २४९ ॥

सुरूपः सधनः स्वामीविद्वान पिबलाधिकः ।
न कामयेद्यथेष्टं यः स्त्रीणां नैवसु सौख्यकृत् ॥२५०॥

जो मनुष्य, सुन्दर, धनवान्, सबका स्वामी, विद्वान् और बलवान् है, परन्तु यदि वह स्त्रियों की कामना पूर्ण नहीं करता है, तो उसे सुख की प्राप्ति होना दुष्कर है ॥ २५० ॥

योयथेष्टं कामयते स्त्री तस्यवशगा भवेत् ।
संधारणाल्लालनाच्च यथा यातिवशं शिशुः ॥२५१॥

जो स्त्री की काम पिपासा यथेष्ट शान्त करते हैं स्त्री उनके ही वश में इस तरह हो जाती है, जैसे गोद में लेने या लड़ाने से बच्चा वश में आ जाता है ॥ २५१ ॥

कार्यं तत्साधकादींश्च तव्द्ययंसुविनिर्गमम् ।
विचिंत्य कुरुतेज्ञानी नान्यथा लघ्वपिकंचित् ॥२५२॥

कार्य और उसके साधक उनका व्यय और निकास—इन सबको विचार करके ज्ञानी पुरुष करता है, नहीं तो उलटा ही फल निकलता है ॥ २५२ ॥

न च व्ययाधिकं कार्यं कर्तुमीहेत पंडितः ।
लाभाधिक्यं यतक्रियते चेल्लद्वाव्यवसायिभिः ॥२५३॥

पण्डित को अधिक व्यय साध्य—काम नहीं करना चाहिए। उद्योगी मनुष्य—चाहे, छोटा काम हो, परन्तु उसे ही करते हैं—जिसमें अधिक लाभ की सम्भावना हो ॥ २५३ ॥

मूल्यंमानं च पण्यानां याथात्म्यान्मृग्यतेसदा ।
तपःस्त्री कृषिसेवासोप भोग्येनापि भक्षणे ॥२५४॥

बेचने योग्य वस्तुओं के मूल्य और तोल का सर्वदा ठीक २ ध्यान रखे। तप, स्त्री, कृषि-सेवा—भोग और भक्षण के लिए ही हैं ॥ २५४ ॥

हितः प्रतिनिधिर्नित्यं कार्येन्येतं नियोजयेत् ।
निर्जनत्वं मधुर भुक्जारश्चोरः सदेच्छति ॥२५५॥

प्रतिनिधि हितकारी होना चाहिए—उसको उत्तम कार्य में नियुक्त करे। मधुर खाने का लालची, व्यभिचारी और चोर, सदा निर्जन स्थान चाहते हैं ॥ २५५ ॥

साहाय्यं तु बलिद्विष्टो वेश्या धनिक मित्रताम् ।
कुनृपश्च छलं नित्यंस्वामि द्रव्यं कुसेवकः ॥२५६॥

बलवान से विरोध रखने वाला-सहायक की, वैश्या-धनवान की, खोटा राजा-छल की और खोटा सेवक-स्वामी के द्रव्य की सदा अभिलाषा-करता रहता है॥ २५६ ॥

तत्त्वं तु ज्ञानवान्दंभं तपोग्निं देवजीवकः ।
योग्येकांतं च कुलटा जारं वैद्यं च व्याधितः ॥२५७॥
धृतपण्यो महर्घत्वं दानशीलं तु याचकः ।
रक्षितारं मृगयते भीतश्छिद्रं तु दुर्जनः ॥२५८॥

ज्ञानवान् तप की, तप पाखण्ड की, देव याजक अग्नि की, योगी एकान्त की, कुलटा जार की, रोगी वैद्य की, कोठे में माल वाला व्यापारी मँहगे की, याचक दानशील की, भयभीत रक्षक की, दुर्जन छिद्र की खोज में लगे रहते हैं ॥२५७-२५८ ॥

चंडायते विवदतेस्वपित्यस्नाति मादकम् ।
करोति निष्फलं कर्म मूर्खोवास्वेष्ट नाशनम् ॥२५९॥

जो मूर्ख मनुष्य होता है, वह या तो वृथा क्रोध करता रहता है—या विवाद में लग जाता है। वह रात दिन सोता है और मादक पदार्थ खाने लगता है। यह बैठे बैठे निष्फल कर्म करता है, या अपने ही अभीष्ट का नाश कर लेता है ॥ २५९ ॥

तमोगुणाधिकं क्षात्रं ब्राह्मं सत्त्वगुणाधिकम्।
अन्यद्रजोधिकं तेजस्तेषु सत्त्वाधिकं वरम् ॥२६०॥

क्षत्रिय में तमोगुण अधिक होता है ब्राह्मण सत्वगुणधारी माना गया है। अन्य में रजोगुण की प्रधानता है। इनमें सत्वाधिक तेज सर्वश्रेष्ठ होता है ॥२६०॥

सर्वाधिको ब्राह्मणस्तु जायतेऽहिस्वकर्मणा।
तत्तेजसोनुते जांसिसंति च क्षत्रियादिषु ॥२६१॥

सब में ब्राह्मण श्रेष्ठ है, क्योंकि उसका कर्म भी बहुत कठिन है। क्षत्रिय आदि में तेज का प्रकाश तो उसी के तेज से व्याप्त होता है ॥२६१॥

स्वधर्मस्थं ब्राह्मणं हि दृष्ट्वाबिभ्यति चेतरः।
क्षत्रियादिर्नान्यथा स्वधर्मंचातः समाचरेत् ॥२६२॥

अपने धर्म में स्थित ब्राह्मण को देखकर अन्य क्षत्रियादि भयभीत हो जाते हैं अन्य से नहीं। इससे ब्राह्मण को अपने धर्म का भली प्रकार आचरण करना चाहिए ॥२६२॥

नस्यात्स्व धर्महानिस्तु ययावृत्त्या च सावरा।
सदेशः प्रवरोयत्र कुटुंब भरणं भवेत् ॥२६३॥

जिस वृत्ति से धर्म की हानि न हो-वही उत्तम मानी गई है। वह देश उत्तम है। जिसमें अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण हो सके ॥२६३॥

कृषिस्तु चोत्तमावृत्तिः यासरिन्मातृ कामता।
मध्यमा वैश्यवृत्तिश्च शूद्रवृत्तिस्तु चाधमा ॥२६४॥
यच्चाधमतरा वृत्तिह्युत्तमासा तपस्विषु।
क्वचित्सेवोत्तमा वृत्तिर्धर्मशील नृपस्य च ॥२६५॥

कृषि उत्तम वृत्ति है, जिसमें नहर की सिचाई से अन्न उत्पन्न होता हो। वैश्य वृत्ति मध्यम है और शूद्र वृत्ति अधम मानी जाती है। याचना करना अधमाधम वृत्ति है। परन्तु यह-तपस्वियों का भूषण है। यदि राजा धर्मशील हो-तो सेवा वृत्ति भी उत्तम मानी गई है ॥२६४-२६५॥

अध्वर्यवादिकं कर्मकृत्वाया गृह्यते भृतिः।
साकिंमहाधनायैव वाणिज्य मलमेवकिम् ॥२६६॥
राजसेवां विनाद्रव्यं विपुलं नैवजायते।
राज सेवाति गहना बुद्धिमद्भिर्विना न सा ॥२६७॥
कर्तुं शक्या चेतरेण ह्यसिधारेव सर्वदा।

अध्वर्यु आदि के कर्म यज्ञादि करने से जो वृत्ति होती है, उससे क्या बहुतसा धन इकट्ठा हो सकता है। क्या वाणिज्य से धन का पूरा काम हो सकता है? अपितु नहीं। विपुल धन तो राज सेवा के बिना कभी नहीं हो सकता है। राज सेवा बड़ी

गहन है और वह-बुद्धिमान के बिना अन्य से सम्पादित नहीं हो सकती है, क्योंकि वह तो तलवार की धार के तुल्य तीखी है ॥

व्याल ग्राही यथा व्यालं मंत्रीमंत्रबलान्नृपम् ॥२६८॥

करोत्यधीनं तु नृपेभयं बुद्धिमतांमहत् ।

ब्राह्म तेजो बुद्धिमत्सु क्षात्रं राज्ञि प्रतिष्ठितम् ॥२६९॥

सर्प पकड़ने वाला जिस तरह सर्प को बिल से निकाल लेता है, इसी तरह मन्त्री अपने मन्त्र के बल से राजा को अपने अधीन कर लेता है। राजा को बुद्धिमान् मनुष्यों से बड़ा भय बना रहता है। बुद्धिमानों में ब्रह्मतेज और राजा में क्षात्रतेज विद्यमान होता है ॥२६८-२६९॥

आरा देव सदा चास्ति तिष्ठन्दूरेपि बुद्धिमान् ।

बुद्धिपाशैर्बंधयित्वा संताडयति कर्षति ॥२७०॥

बुद्धिमान् मनुष्य, कितनी भी दूरी पर बैठा हो, वह सर्वदा पास में ही समझना चाहिए। बुद्धिमान, राजा को बुद्धि की पाश में बांध कर खैंच लेता है और पर्याप्त झटके लगाता है ॥२७०॥

समीपस्थोपि दूरेस्तिह्य प्रत्यक्ष सहायवान् ।

नानुवाक्र हताबुद्धिर्व्यवहार क्षमाभवेत् ॥२७१॥

अनुवाक्रहतायातु न सा सर्वत्रगामिनी ।

छुप कर सहायता देने वाला मनुष्य समीप में स्थित होकर भी दूर ही होता है। वेद शास्त्रों के चक्कर में पड़ी हुई बुद्धि व्यवहार

अवसर पर कथन करने से विजय, उत्तम वस्त्रों से प्रसिद्धि, सभा में विद्या से मान होता है, परन्तु राज्य में कोई अधिकार प्राप्त हो जावे-तो ये तीनों बातें एक दम मिल जाती हैं ।। २८० ।।

सुभार्या सुष्ठुचापत्यं सुविद्या सुधनं सुहृत् ।
सुदास दास्यौ सदेहः सद्वेश्म सु नृपः सदा ।।२८१।।
गृहिणांहि सुखायालं दशैतानि न चान्यथा ।

सुन्दर भार्या, श्रेष्ठ पुत्र, उत्तम विद्या, धर्मोपार्जित धन, मित्र, उत्तम दास और दासी, नीरोग देह, उत्तम घर, शोभन नृपति-ये दश बातें जिस मनुष्य को प्राप्त हैं, वही सुखी समझना चाहिए- अन्यथा सुख नहीं है ।। २८१ ।।

वृद्धाः सुशीला विश्वस्ताः सदाचाराः स्त्रियोनराः ।।
क्लीबावांतः पुरेयोज्यान युवा मित्रमप्युत ।
कालं नियम्य कार्याणिह्याचरेन्नान्यथा क्वचित् !

अपने अन्तःपुर में वृद्ध, सुशील, विश्वास पात्र, सदाचारी, स्त्री, या पुरुष तथा नपुंसक-नियुक्त करने चाहिए। युवा मित्र भी हो—तो भी उसको प्रवेश न होने दे। काल का नियम करके मित्र के साथ कुछ व्यवहार किया जा सकता है-अन्यथा कभी नहीं ।।२८२-२८३ ।।

गवादिष्वात्मवज्ज्ञानमात्मानं चार्थ धर्मयोः ।
नियुंजीतान्न सांसिद्धयै मातरं शिक्षणे गुरुम् ।।२८४।।

गवादि पशुओं की रक्षा में उस मनुष्य को नियत करे—जो उनको भी अपनी-सी देह समझे। अपने को धर्म और धन के उपार्जन में लगावे। माता को भोजन के बनाने या खिलाने पर और शिक्षा में सद्गुरु की नियुक्ति करे॥ २८४॥

गच्छेद् नियमेनैव सदैवांतः पुरेनरः ।

भार्या न पत्यासद्यानं भारग्राही सुरक्षकः ॥२८५॥

परदुःखहरा विद्या सेवकश्च निरालसः ।

षडैतानि सुखायालं प्रवासे तु नृणांसदा ॥२८६॥

मनुष्य, अपने अन्तःपुर (जनान खाने) में बिना नियम गमन करे। सन्तान रहित भार्या, उत्तम यान (सवारी) भार ले चलने में समर्थ चौकीदार, पर दुःख हरने वाली विद्या, आलस रहित सेवक ये छः परदेश में बड़े सुखदायी होते हैं॥२८५-२८६॥

मार्गं निरुध्यनस्थेयं समर्थेनापि कर्हिचित् ।

सद्यानेनापि गच्छेन्नहट्ट मार्गे नृपोपिच ॥२८७॥

मनुष्य, कितना भी समर्थ क्यों न हो, परन्तु मार्ग रोग कर खड़ा न हो। राजा भी क्यों न हो—वह मार्ग (बाजार) में अच्छे यान से भी न चले अर्थात् बाजार में सवारी पर चलने से प्रजा को पीड़ा होती है॥ २८७॥

ससहायः सदाचस्याद्ध्वगो नान्यथा क्वचित् ।

समीपसन्मार्गजलो भयग्रामेध्न गोवसेत् ॥२८८॥

तथाविधेवाविरमेन्नमार्गे विपिनेपिन ।

मार्ग में अकेला न जावे-किसी को साथ—अवश्य लेले। अकेले जाने से बहुत से भय खड़े होने की आशङ्का है। जिस गांव के समीप जल और सन्मार्ग हो—उसमें ही राहगीर रात को निवास करे। यदि दिन में विश्राम करना हो-तो भी ऐसे ही गांव में करे। किसी मार्ग या वन में ही डेरा न डाले ॥ २८८ ॥

अत्यटनं चा नशनमति मैथुन मेवच ॥२८९॥
अत्यायासश्च सर्वेषां द्राग्जराकरणं भवेत् ।
सर्व विद्यास्वनभ्यासो जराकारी कलासुच ॥२९०॥

अत्यन्त घूमना, भोजन न मिलना, अति मैथुन, अत्यन्त परिश्रम,—मनुष्यों को शीघ्र बुढ़ापा लाने वाला होता है। जो मनुष्य अभ्यास छोड़ देता है, उसकी सारी विद्या और कलाओं में जर लग जाती है ॥ २८९-२९० ॥

दुर्गुणं तु गुणी कृत्यकीर्तयेत्सप्रियो भवेत् ।
गुणाधिक्यं कीर्तयतियः किंस्यान्नपुनः सखा ॥२९१॥

जो मनुष्य, दुर्गुण को भी गुण बनाकर कथन करे-वह प्रिय होता है, परन्तु जो गुणों को बढ़ाकर कहता है, वह क्यों नहीं मित्र मालूम होगा ॥ २९१ ॥

दुर्गुणं वक्तिसत्येन प्रियोपि सो प्रियो भवेत् ।
गुणं हि दुर्गुणी कृत्यवक्तियः स्यात्कथं प्रियः ॥२९२

जो दुर्गुण को सत्य कथन के अभिप्राय से कह-डालता है, वह प्रिय भी अप्रिय लगने लगता है, और गुणों को दुर्गुण में बदल कर कहने लगे-तो वह तो प्रिय कैसे लग सकता है ॥२९२॥

स्तुत्यावशंयांति देवाह्यंजसाकिं पुनर्नराः ।
प्रत्यक्ष दुर्गुणान्नैव वक्तुं शक्नोति कोप्यतः ॥२६३॥

स्तुति से तो देवता भी झटपट-प्रसन्न हो जाते हैं, फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या है। इस व्यवस्था से कोई भी मनुष्य प्रत्यक्ष दुर्गुणों के कथन करने में समर्थ नहीं—हो सकता है ॥ २६३ ॥

स्वदुर्गुणान्स्वयं चातोविमृशेल्लोक शास्त्रतः ।
स्वदुर्गुण श्रवण तोयस्तुष्यतिन क्रुध्यति ॥२६४॥
स्वोपहास प्रविज्ञाने यततेत्यजति श्रुते ।
स्वगुण श्रवणान्नित्यं समस्तिष्ठति नाधिकः ॥२६५॥

अपने दुर्गुणों को लोक और शास्त्र से स्वयं विचारे। जो अपने दुर्गुणों के श्रवण से प्रसन्न हो-कुपित न होवे। अपने उपहास में भी सचाई की खोज करे। सुने हुए दुर्गुणों का त्याग करे। अपने गुणों के श्रवण से उदासीन रहे, प्रफुल्लित न हो जावे ॥ २६४-२६५ ॥

दुर्गुणानांखनिरहं गुणाधानं कथंमयि ।
मय्येव चाज्ञताप्यस्ति मन्यते सोधिको खिलात् ॥२६६
ससाधुस्तस्य देवाहि कलालेशंलभंतिन ।
सदाल्पमप्युपकृतं महत्साधुषु जायते ॥२६७॥
मन्यते सर्षपादल्पं महच्चोप कृतंखलः ।

मैं दुर्गुणों की खान हूं—मुझ में गुण कहाँ से हो सकते हैं। मुझ में ही सब से अधिक मूर्खता है, ऐसा जो मानता है, वही सर्व श्रेष्ठ है। जो ऐसा मनुष्य, होता है, वही साधु पुरुष है। उसकी समानता का थोड़ा अंश भी देवता, प्राप्त नहीं कर सकते हैं। साधु पुरुषों पर किया हुआ थोड़ा उपकार भी महान रूप धारण कर लेता है अर्थात् महापुरुष थोड़े उपकार को भी बहुत अधिक मानते हैं। यदि दुष्ट पुरुष पर उपकार किया गया है, तो वह पर्वत के समान उपकार को भी सरसों के बराबर मानता है॥ २९६-२९७॥

तथान क्रीडयेत्कैश्चित्कलहाय भवेद्यथा ॥२९८॥
विनोदेऽपिशपेनैवते भार्या कुलटास्तिकिम् ।

किसी से—ऐसी हँसी दिल्लगी न करे, जिससे कलह खड़ी हो जावे। विनोद (परिहास) में भी ऐसे-वचन न कहे, कि तेरी भार्या व्यभिचार कराती फिरती है॥ २९८॥

अपशब्दाश्च नोवाच्या मित्र भावाच्चकेष्वपि ॥२९९॥
गोप्यं न गोपयेन्मित्रेतद्गोप्यं न प्रकाशयेत् ।

किसी को पर्याप्त मित्र जानकर भी उससे अपशब्द न कहे। मित्र से किसी भी गोपनीय बात को गुप्त न रखे और मित्र की गुप्त बात को भी प्रकाशित न करे॥ २९९॥

वैरी भूतोपिपश्चात्प्राकथितं वापि सर्वदा ॥३००॥
विज्ञात मपियद्दौष्ट्यं दर्शयेत्तन्नकर्हिचित् ।
प्रति कर्तुंयतेतैव गुप्तः कुर्यात्प्रतिक्रियाम् ॥३०१॥

यदि मित्र से विरोध होगया हो, तो भी उसकी पूर्वकाल में कही हुई बातों का प्रकाश न करे। अथवा उसकी जो दुष्टता ज्ञात हो—उसको न खोले। जहाँ तक हो अपने पूर्व मित्र का उपकार करे, और उसके दोषों के छुपाने का छुपे २ प्रयत्न करते रहे॥ ३००-३०१॥

यथार्थ मपिन ब्रूयाद्बलवद्विपरीतकम्।
दृष्टं स्व दृष्टवत्कुर्याच्छ्रुतमप्यश्रुतं क्वचित् ॥३०२॥

बलवान मनुष्य के विपरीत बात यद्यपि सत्य है, तो भी उसको न कहो। बलवान् के विरुद्ध देखी हुई बात को भी अदेखी हुई करदो और सुनी हुई को भी अनसुनो बनादो॥ ३०२॥

मूकोंधोबधिरः खंजोस्वापत्काले भवेन्नरः।
अन्यथादुःखमाप्नोति हीयते व्यवहारतः ॥३०३॥

मनुष्य, अपने आपत्काल में मूक, अन्धा, बधिर, और लँगड़ा बन जावे अर्थात् किसी के विरुद्ध सत्य न कहे, किसी के दोष को देखकर भी अन्धे की भाँति रहे, न किसी की सुने और न किसी के विरुद्ध भाग दौड़ करे, क्योंकि आपत्काल में विरोधी से झगड़ने की शक्ति नहीं होती है। यदि मनुष्य, इस तरह नहीं करके—अड़ जावेगा—तो उसे दुःख की प्राप्ति होगी और वह व्यवहार से गिर जावेगा॥ ३०३॥

वदेद्वृद्धानुकूलं यन्नबाल सदृशं क्वचित्।
परवेश्मगतस्तत्स्त्री वीक्षणं न चकारयेत् ॥३०४॥

मनुष्य, सर्वदा वृद्धों की सी बात करे—बच्चे के सदृश वचन न कहे। दूसरे घर में जाकर उसकी स्त्रियों को बुरी दृष्टि से न देखे ॥ ३०४ ॥

अधनादननुज्ञातान्न गृह्णीयात्तु स्वामिना ।
स्वशिशुंशिक्षयेदन्य शिशुंनाप्य पराधिनम् ॥३०५॥

स्वामी निर्धन सेवक का धन आपत्काल में भी न ग्रहण करे। यदि वह प्रेम पूर्वक अर्पण करे-तो लिया जा सकता है। अपने बच्चों को दण्ड देवे, परन्तु अन्य के बच्चों को अपराध करने पर भी कुछ न कहे ॥ ३०५ ॥

अधर्मं निरतोयस्तु नीति हीनश्छलांतरः ।
संकर्ष कोति दंडीतद्ग्रामंत्यक्त्वान्यतो वसेत् ॥३०६॥

जिस ग्राम के अधिकांश व्यक्ति अधर्म परायण हों। नीति के अनुसार न चलते हों। किसी के धन के अपकर्षक हों, अत्यन्त दण्ड की व्यवस्था हो, उस ग्राम को छोड़कर अन्यत्र वास जा करे ॥ ३०६ ॥

यथार्थ मपि विज्ञात मुभयोर्वादिनोर्मतम् ।
अनियुक्तोन वैब्रूयाद्धीन शत्रुर्भवेदतः ॥३०७॥

दोनों वादियों (मुदई मुद्दाअला) के झगड़े के यथार्थ तत्व को जान कर भी बिना राजा की आज्ञा के उसका निर्णय न करे। इस तरह मनुष्य, शत्रु हीन हो जाता है ॥ ३०७ ॥

गृहीत्वान्य विवादंतु विवदेन्नैव केनचित् ।
मिलित्वा संघशोराज मंत्रं नैवतु तर्कयेत् ॥३०८।

किसी दूसरे के झगड़े को मोल लेकर किसी के साथ विवाद न करे तथा गोष्ठी बना कर राजा के मन्त्र के विषय में वाद-विवाद न करे ॥ ३०८ ॥

अज्ञात शास्त्रोन ब्रूयाज्ज्योतिषं धर्म निर्णयम् ।
नीति दंडं चिकित्सां च प्रायश्चित्तं क्रियाफलम् ॥

जो शास्त्र को नहीं जानता हो, वह ज्योतिष, धर्म निर्णय, नीति, दण्ड व्यवस्था, चिकित्सा, प्रायश्चित, और क्रिया का फल न कहे ॥ ३०९ ॥

पारतंत्र्यात्परं दुःखं न स्वातंत्र्यात्परं सुखम् ।
अप्रवासीगृहीनित्यंस्वतंत्रः सुखमेधते ॥३१०॥

परतन्त्रता में परम दुःख और स्वतन्त्रता में परमसुख है। जो मनुष्य, अपनी भार्या से वियुक्त न होकर घर में स्वतन्त्रता से रहता है, वह नित्य सुख प्राप्त करता है ॥ ३१० ॥

नूतन प्राक्तनानां च व्यवहार विदांधिया ।
प्रतिक्षणं चाभिनवो व्यवहारो भवेदतः ॥३११॥

नवीन और प्राचीन व्यवहारों के जानने वालों के ढंगों को बुद्धि के साथ देखे। कितना भी अनुभव हो, व्यवहार प्रतिक्षण नया होकर ही सन्मुख आता है ॥ ३११ ॥

वक्तुं न शक्यते प्रायः प्रत्यक्षादनु मानतः।
उपमानेन तज्ज्ञानं भवेदाप्तोपदेशतः ॥३१२॥

इस संसार के व्यवहार को कोई अच्छी तरह खोलकर नहीं बता सकता है। इसका ज्ञान तो प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आप्तों के उपदेश से होता है ॥३१२॥

कथितं तु समासेन सामान्यं नृप राष्ट्रयोः।
नीति शास्त्रं हितायालंयद्विशिष्टं नृपे स्मृतम् ॥३१३॥

तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

यह नीति शास्त्र का अध्याय राजा और प्रजा दोनों के निमित्त सामान्य रीति से कहा है। नीति शास्त्र तो प्रत्येक मनुष्य के हित के लिए होता है, परन्तु इसका अधिक व्यवहार राजकार्यों में दिखाई देता है ॥३१३॥

इतिश्री शुक्रनीति नामक शास्त्रान्तर्गत सामान्य नीति निरूपण नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

चतुर्थ अध्याय

अथ मिश्र प्रकरणं प्रवक्ष्यामि समासतः ।
लक्षणं सुहृदादीनां समासाच्छृणुता धुना ॥१॥

अब हम यह एक अनेक प्रकार की नीतियों का मिश्रित अध्याय संक्षेप में कहते हैं । इसमें प्रथम अब तुम सुहृद आदि के लक्षणों को संक्षेप में सुनो ॥ १ ॥

मित्रः शत्रुश्चतुर्धास्यादुपकाराप कारयोः ।
कर्ताकार यिताचानुमंतायश्च सहायकः ॥२॥

उपकार अपकार, के करने या कराने तथा अनुमोदन करने या कराने सहायता देने या दिलाने से मित्र और शत्रु चार २ प्रकार से बन जाते हैं ॥२॥

यस्यसु द्रवते चित्तं परदुःखेन सर्वदा ।
इं ष्टार्थे यततेन्यस्या प्रेरितः सत्करोतियः ॥३॥
आत्मस्त्री धनगुह्यानांशरणं समये सुहृत् ।
प्रोक्तोत्तमोयमन्यश्च द्वित्र्येकपद मित्रकः ॥४॥

जिस मित्र का चित्र अपने मित्र के दुःख से पिघल जावे। अपने मित्र के अभीष्ट अर्थ के सिद्ध करने का सर्वदा प्रयत्न करे। विना प्रेरणा जो सत्कार करता है। जो अपने, स्त्री धन और गुप्त वस्तुओं का समय पर रक्षक हो, वही उत्तम मित्र कहा गया है।

अन्य तो दो तीन या एक पद चल कर केवल प्रतिज्ञा मात्र करना जानते हैं ॥३-४॥

अनन्य स्वत्वकामत्वमेकस्मिन्विषयेद्वयोः ।
वैरिलक्षण मेतद्वान्येष्ट नाशन कारिता ॥५॥

इस वस्तु पर मेरा अधिकार है, अन्य का नहीं—इस तरह एक विषय पर दो व्यक्तियों का अड़ना वैर कहाता है—इसका करने वाला वैरी होता है। यह परस्पर एक दूसरे के अभीष्ट के नाश करने में प्रवृत्त होते रहते हैं ॥५॥

भ्रातृ भावे पितुर्द्रव्यमखिलंममवै भवेत् ।
नस्या देतस्य वश्येयं ममैवस्यात्परस्परम् ॥६॥

भ्राता के रहने पर भी जो यह सोचता है, कि पिता का सारा धन मेरा हो। मैं इसके वश में न रहूं, किन्तु यही मेरे वश में पड़ा रहे—ऐसी भावना भी वैर की भावना ही कहाती है ॥६॥

भोक्ष्ये खिलमहं चैतद्विनान्यस्तौतु वैरिणौ ।
द्वेष्टिद्विष्ट उभौ शत्रूस्तश्चै कतर संज्ञकौ ॥७॥

इस सारे द्रव्य को मैं ही भोगूं—इसकी इसमें टांग न अड़े। यह वैरियों का व्यवहार होता है। जो द्वेष करता है—या जिससे द्वेष किया जाता है, ये परस्पर एक दूसरे के शत्रु होते हैं ॥७॥

शूरस्योत्थान शीलस्य बलनीतिमतः सदा ।
सर्वेमित्रागूढ वैरा नृपाः कालप्रतीक्षकाः ॥८॥

भवंतीति किमाश्चर्यं राज्यलुब्धान तेहिकिम् ।
नराज्ञो विद्यते मित्रं राजामित्रं न कस्यचै ॥९॥

जो राजा शूरवीर, उद्योगशाली, बल और नीति से युक्त है-उसके सारे मित्र राजा भी गुप्त वैरी होते हैं और वे समय की प्रतीक्षा करते रहते हैं, इसमें कुछ आश्चर्य करने की भी बात नहीं है, क्योंकि क्या ये-अन्य राजा अपना राज्य बढ़ाने का लालच नहीं रखते हैं । राजा का कोई मित्र नहीं होता और न राजा ही किसी का मित्र हो सकता है । जो दो राजा परस्पर मित्र बन जाते हैं। वे प्राय बनावटी मित्र होते हैं ॥८-९॥

प्रायः कृत्रिम मित्रेतेभवतश्च परस्परम् ।
केचित्स्वभावतो मित्राः शत्रवः संतिसर्वदा ॥१०॥
माता मातृकुलंचैव पितातत्पितरौ तथा ।
पितृ पितृव्यात्स कन्या पत्नीतत्कुलमेव च ॥११॥
पितृ मात्रात्म भगिनी कन्यकासंततिश्चया ।
प्रजापालो गुरुश्चैव मित्राणि सहजानिहि ॥१२॥

कोई तो स्वभाव से मित्र और कोई सर्वदा शत्रु ही रहते हैं माता मातृकुल, पिता, दादा, दादी, पिता के चाचा ताऊ, अपनी कन्या, पत्नी, पत्नी का कुल, पिता की भगिनी (बुआ) माता की भगिनी (मौसी) और अपनी बहन, कन्या की सन्तान, प्रजापालक राजा और गुरु ये स्वभाव से कल्याण करने वाले मित्र माने गए हैं ॥१०-१२॥

विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पंचमम् ।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयंति हितैर्बुधाः ॥१३॥

विद्या, शौर्य चतुराई, बल और पांचवां धैर्य–ये भी सहज (स्वाभाविक) मित्र होते हैं। बुद्धिमान लोग तो इन मित्रों के सहारे से ही अधिकतर चलते हैं ॥१३॥

स्वभावतो भवंत्येतेहिंस्रोदुर्वृत्त एवच ।
ऋणकारी पिता शत्रुर्मातास्त्री व्यभिचारिणी ॥१४॥

हिंसक, दुराचारी, ऋणकर्ता पिता, व्यभिचारिणी माता और भार्या–ये सब स्वाभाविक वैरी होते हैं ॥१४॥

आत्मपितृ भ्रातरश्च तत्स्त्री पुत्राश्च शत्रवः ।
स्नुषाश्वश्रूः सपत्नी च ननांदायातरस्तथा ॥१५॥

अपने वैरी अपने भ्राता, पिता के वैरी पिता के भ्राता, उनकी परस्पर स्त्रियां पुत्र, स्वाभाविक शत्रु हैं। सास--बहू, सपत्नी, ननद भौजाई भी परस्पर शत्रु सी ही देखी गई हैं ॥१५॥

मूर्खः पुत्रः कुवैद्यश्चारक्षकस्तु पिता प्रभुः ।
चंडोभवेत्प्रजा शत्रुरदाता धनिकश्चयः ॥१६॥

मूर्ख पुत्र, कुवैद्य, रक्षा नहीं करने वाला पिता, क्रोधी राजा, और धनिक होकर अदाता हो तो--ये प्रजा के शत्रु समझने चाहिए ॥१६॥

आसमंताच्चतुर्दिक्षु सन्निकृष्टाश्चये नृपाः ।

तत्परास्तत्परायेन्ये क्रमाद्धीन बलारयः ॥१७।

शत्रू दासीन मित्राणि क्रमात्ते स्युस्तु प्राकृताः ।

राजा के चारों ओर जो समीपवर्ती राजा होते हैं । उनसे परले राजा और उनसे परे के राजा क्रम से स्वाभाविक शत्रु, उदासीन और मित्र होते हैं । अर्थात् अत्यन्त समीपवर्ती शत्रु, उस के समीपवर्ती उदासीन और उससे आगे का मित्र होता है, क्योंकि उसे डर होने के कारण चढ़ाई करने का सुभीता नहीं होता हैं हीन बल वाले शत्रु भी इसी तरह शत्रु उदासीन और मित्र बन जाते हैं ॥१७॥

अरि मित्रमुदासीनोनां तरस्तत्परस्परम् ॥१८॥

क्रमशोवा तथा ज्ञेयाश्चतुर्दिक्षु तथारयः ।

स्वसमीपतरा भृत्याह्यमात्याद्याश्च कीर्तिताः ॥१९॥

शत्रु, मित्र और उदासीन भी जिस तरह समीपवर्ती हों–वे भी परस्पर उसी तरह क्रम से शत्रु मित्र और उदासीन होंगे । इसी तरह चारों दिशाओं के हीनबल वाले शत्रु भी उनके शत्रु मित्र और उदासीन माने जावेंगे अपने समीप के भृत्य और अमात्य भी इसी तरह शत्रु मित्र और उदासीन होते हैं ॥१८-१९॥

बृंहयेत्कर्षयेन्मित्रं हीनाधिकबलं क्रमात् ।

भेदनीयाः पीडनीयाः कर्षणीयाश्च शत्रवः ॥२०॥

जो हीनबल मित्र हो, उसको कुछ बढ़ावे और अपने से अधिक बल वाले मित्र को कुछ बलहीन करता रहे। तथा शत्रुओं में फूट कराकर उनको पीड़ा पहुंचावे या उनको हीनबल करदे ॥२०॥

विनाशनीयास्ते सर्वेसामादि भिरुपक्रमैः ।
मित्र शत्रू यथायोग्यैः कुर्यात्स्ववशवर्तिनौ ॥२१॥

इन शत्रुओं को सामादि उपायों से नष्ट ही कर देना चाहिए। मित्र हो या शत्रु–उनको यथा योग्य, उपायों से अपने वश में करना चाहिए ॥२१॥

उपायेन यथा व्यालोगजः सिंहोपिसाध्यते ।
भूमिष्ठाः स्वर्गमायांति वज्रं भिंदत्यु पायतः ॥२२॥

उपाय से तो सर्प, गज और सिंह भी वश में आते देखे गए हैं। भूमि पर रहने वाले मनुष्य, उपाय से स्वर्ग पहुंच जाते हैं और उपाय से तो वज्र भी बींध दिया जाता है ॥२२॥

सुहृत्संबंधि स्त्री पुत्र प्रजा शत्रुषु ते पृथक् ।
सामदान भेद दंडाश्चितनीयाः स्वयुक्तिभिः ॥२३॥

मित्र, सम्बन्धी, स्त्री, पुत्र, प्रजा, और शत्रुओं पर पृथक् २ रीति से साम, दान, भेद और दण्ड नीति का युक्तिपूर्वक प्रयोग करे ॥२३॥

एकशील वयो विद्या जातिव्यसन वृत्ततः ।
साहचर्यान्भवेन्मित्रमे भिर्यदितु सार्जवैः ॥२४॥

एक स्वभाव, एक आयु, एक सी विद्या, एक जाति, एक सी आदत, और एक सा आचार जिनका होता है, उनमें मित्रता हो जाती है। यदि ये लोग, नम्रता युक्तहों-तो साथ रहने से इनमें बहुत कुछ मित्रता होजाती है ।।२४।।

त्वत्समस्तु सखानास्ति मित्रेसाममिमं स्मृतम् ।
ममसर्वं तवैवास्तिदानं मित्रे सजीवितम् ।।२५।।

तुम्हारे समान मेरा कोई सखा नहीं है, मित्र के साथ ऐसा व्यवहार साम-कहाता है। मेरा सब कुछ तुम्हारा ही है-यह जीवन भी तुम्हारी भेंट है ऐसा वचन देना मित्र के विषय में दान कहाता है ।।२५।।

मित्रेन्य मित्रसुगुणान्कीर्तयेद्भेदनं हितत् ।
मित्रेदंडोनाकरिष्ये मैत्री मेवं विधोसिचेत् ।।२६।।

मित्र के सन्मुख अन्य मित्र के गुणों का कीर्तन उनमें फूट पटकवाने का कारण होता है। यदि तुम इसी तरह दुरंगी चाल चलते रहे-तो मैं तुम्हारे साथ मित्रता न रखूंगा, यह मित्रके विषय में दण्ड माना गया है ।।२६।।

यान संयोजये दिष्टमन्या निष्टमुपेक्षते ।
उदासीनः सनकथं भवेच्छत्रुः सुसांधिकः ।।२७।।

जो स्वयं कोई प्रिय कार्य न करे और अन्य द्वारा की हुई हानि की ओर भी दृष्टि न डाले। वह चाहे उदासीन भी क्यों न हो-वह सन्धि कर लेने पर शत्रु बन बैठता है ।।२७।।

शत्रु के साथ माना गया है, परन्तु जो बहुत ही निर्बल हो—उसे दण्ड देकर ठीक कर लेना चाहिए ॥ ३५ ॥

मित्रे च सामदानस्तोनकदाभेद दंडने ।
रिपोः प्राजानां संभेदः पीडनं स्वजयायवै ॥३६॥

जो मित्र हो उसके साथ साम दान का व्यवहार होना चाहिए कभी भेद या दण्ड का प्रयोग उनके साथ नहीं करना चाहिए। शत्रु या शत्रु प्रजा का भेद और पीड़न, अपनी विजय के लिए ही माना गया है ॥ ३६ ॥

रिपु प्रपीडितानां च साम्ना दानेन संग्रहः ।
गुणवतां च दुष्टानां हितं निर्वासनं सदा ॥३७॥

शत्रुओं से पीड़ित राजाओं को साम (समझाना) और दान आदि से अपनी ओर मिला लेवे। जो गुणवान होने पर भी दुष्ट हों—उनको देश से निकाल देना ही श्रेष्ठ है ॥ ३७ ॥

स्व प्रजानां न भेदेन नैव दंडे न पालनम् ।
कुर्वीत सामदानाभ्यां सर्वदा यत्नमास्थितः ॥३८॥

अपनी प्रजा को कभी भयभीत न करे और न उसको दण्ड से ही वश में लावे। राजा बड़े प्रयत्न के साथ साम और दान से उनको वश में किए रहे ॥ ३८ ॥

स्वप्रजा दंडभेदैश्च भवेद्राज्य विनाशनम् ।
हीनाधिकायथा नस्युः सदारक्ष्यास्तथा प्रजाः ॥३९॥

अपनी प्रजा के दण्ड और भेद से राज्य का विनाश होता है। प्रजा अत्यन्त निर्बल या अत्यन्त बलवान् जिस तरह न हो सके—राजा को वैसी ही नीति का अनुसरण करना उचित है। इस तरह प्रजा की रक्षा करना ही राजा का कर्तव्य माना गया है॥ ३६॥

निवृत्तिर सदाचाराद्दमनं दंडतश्च तत्।
येन संदम्यतेजंतु रुपायो दंड एवसः॥४०॥

असत् आचरण से निवृत्त करना—दण्ड या दमन कहाता है। जिससे प्राणियों का दमन किया जाता, इस तरह से प्रजा के वश करने के उपाय को दण्ड कहा गया है॥ ४०॥

सउपायो नृपाधीनः ससर्वेषां प्रभुर्यतः।
निर्भत्सनं चापमानोनाशनं बंधनं तथा॥४१॥
ताडनं द्रव्यहरणं पुरान्निर्वासनांकने।
व्यस्तक्षौरमसद्यानमंगच्छेदो वधस्तथा॥४२॥
युद्ध मेतेह्यु पायाः स्युर्दंडस्यैव प्रभेदकाः।
जायंते धर्म निरताः प्रजादंड भयेन च॥४३॥
करोत्याधर्षणं नैव तथा चा सत्य भाषणम्।
क्रूराश्च मार्दवंयांति दुष्टा दौष्ट्यं त्यजंति च॥४४॥
पशवो पिवशंयांति विद्रवंति च दस्यवः।
पिशुनामूकतांयांतिभयं यांत्याततायिनः॥४५॥

करदाश्च भवंत्यन्ये वित्रासंयांति चापरे।
अतो दंड धरोनित्यंस्यान्नृपो धर्म रक्षणे ॥४६॥

यह दण्ड देने का कार्य, राजा के अधीन है, क्योंकि वह शक्तिशाली होता है। फटकारना, अपमान करना, नष्ट करना, बांध लेना, ताड़ना देना, द्रव्य हरण करना, पुर से निकाल देना, दाग लगाना, उलटी क्षौर कराकर गधे पर चढ़ाना, अङ्ग छेद करना और वध भी करा देना-ये सब दण्ड के प्रकार हैं। युद्ध करके राजा अन्य राजा को दण्ड देते हैं। प्रजा इस दण्ड के भय से ही धर्म में निरत रह पाती है। कोई दुष्ट पुरुष किसी पर आक्रमण नहीं कर सकता और न असत्य भाषण कर सकता है। क्रूर पुरुष इस दण्ड के कारण ढीले पड़ जाते हैं और दुष्ट भी अपनी दुष्टता छोड़ बैठते हैं। पशु भी दण्ड से वश में आजाते हैं। और चोर लुटेरे भाग जाते हैं। पिशुन (चुगल) चुप हो जाते हैं, और घातक आततायी भयभीत होकर चुप रहते हैं। जो राजा के विरुद्ध होते हैं, वे दण्ड के कारण ही कर दायी बन जाते हैं, तथा अन्य भी त्रास मानने लगते हैं, इसीलिये धर्म की रक्षा के निमित्त राजा को दण्ड धारी होना चाहिए ॥ ४१-४६ ॥

गुरोरप्य व लिप्तस्य कार्या कार्यमजानतः।
उत्पथ प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥४७॥

जो गुरु भी मदोद्धत हो जावे और कार्याकार्य को भूल जावे तथा धर्म मार्ग को छोड़ कर चल पड़े-तो उसको भी राजा अवश्य दण्ड देवे ॥ ४७ ॥

राज्ञां स दंडनीत्याहि सर्वे सिध्यंत्युपक्रमाः ।
दंड एवहि धर्माणां शरणं परमं स्मृतम् ॥४८॥

राजाओं की दण्ड नीति से ही सारे उपक्रम सिद्ध होते हैं। दण्ड ही सारे धर्मों का एक मात्र रक्षक माना गया है ॥ ४८ ॥

अहिंसैवा साधु हिंसा पशुवच्छ्रुति चोदनात् ।
दंड्यस्या दंडनान्नित्यम दंड्यस्य च दंडनात् ॥४९॥
अति दंडाच्चगुणि भिस्त्यज्यते पातकी भवेत् ।
अल्पदानान्महत्पुण्यं दंड प्रणयनात्फलम् ॥५०॥

वेद द्वारा विदित पशु वध के समान दुष्ट की हिंसा अहिंसा ही है। दण्डनीय को दण्ड न देने, दण्ड के अयोग्य को दण्ड देने तथा अधिक दण्ड देने से राजा का गुणी लोग परित्याग कर देते हैं। राजा स्वयं भी पाप का भागी हो जाता है। समय पर थोड़े से दान से भी जैसे महान् फल की प्राप्ति होती है, उसी तरह, दण्ड के प्रचार से राजा को पुण्य मिलता है। मुनियों ने संसार की प्रवृत्ति और भय के निमित्त इस दण्ड का शास्त्रों में विधान किया है ॥ ४९-५० ॥

शास्त्रेषूक्तं मुनिवरै प्रवृत्यर्थं भयायच ।
अश्वमेधादिभिः पुण्यं तत्किंस्यात्स्तोत्र पाठतः ॥५१॥
क्षमयायत्तु पुण्यं स्यात्तत्किं दंड निपातनात् ।
स्वप्रजा दंडनाच्छ्रेयः कथं राज्ञो भविष्यति ॥५२॥

अश्वमेध आदि से जो पुण्य होता है, वह क्या स्तोत्र के पाठ से हो सकता है। क्षमा से जो पुण्य मिलता है, वह क्या दण्ड देने से प्राप्त होता है। अपनी प्रजा को–अधिक दण्ड देने से राजा का कल्याण कैसे हो सकता है॥ ५२॥

तद्दंडाज्जायते कीर्तिर्धन पुण्य विनाशनम् ।
नृपस्य धर्म पूर्णत्वाद्दंडः कृतयुगेनहि ॥५३॥

त्रेतायुगे पूर्णदंडः पादाधर्मा प्रजायतः ।
द्वापरे चार्ध धर्मत्वात्त्रिपादंडो विधीयते ॥५४॥

प्रजानिस्वाराज दौष्ट्याद्दंडार्धेतु कलौयुगे ।
युग प्रवर्तको राजा धर्माधर्म प्रशिक्षणात् ॥५५॥

प्रजा के दण्ड से कीर्ति, धन और पुण्य का विनाश होता है। सत्युग में प्रजा धर्म परायण होती थी–इससे राजा को दण्ड ही नहीं देना पड़ता था। त्रेतायुग में पूर्ण दण्ड था, क्योंकि प्रजा में तीन-पाद धर्म शेष था। द्वापर में धर्म के दो पाद रह गए–इससे तीन पाद दण्ड की व्यवस्था थी। राजा की दुष्टता से कलियुग में प्रजा निर्धन हो जाती है। इससे आधे दण्ड की व्यवस्था है। धर्म और अधर्म के शिक्षक होने से राजा को युग का प्रवर्तक माना गया है॥ ५३-५५॥

युगानांन प्रजानांद दोषः किंतुनृपस्यहि ।
प्रसन्नोयेन नृपतिस्तदाचरति वैजनः ॥५६॥

अधर्म की प्रवृत्ति में न तो युगों का दोष है और न प्रजा का ही दोष—माना गया है। दोष तो सारा राजा का होता है। मनुष्य वो वही काम करते हैं, जिससे राजा प्रसन्न होता है॥ ५६॥

लोभाद्भयाच्चकिंतेन शिक्षितं नाचरेत्कथम्।
सुपुण्योयत्र नृपतिर्धर्मिष्ठास्तत्रहि प्रजाः॥५७॥
महापापी यत्र राजा तत्राधर्म परोजनः।
न कालवर्षी पर्जन्यस्त्रभूर्न महाफला॥५८॥
जायते राष्ट्रहासश्चशत्रु वृद्धिर्धनक्षयः।
सुराप्य पिवरो राजानस्त्रैणो नातिकोपवान्॥५९॥

जो राजा लोभ या भय से कुछ अच्छा कार्य करता है, तो उसकी शिक्षा का प्रजा अनुसरण क्यों न करेगी। जिस देश में राजा पुण्यात्मा होता है—वहाँ पर प्रजा धर्म निष्ठ होती है। जहाँ पर राजा महापापी होता है, वहाँ प्रजाजन भी अधर्मी-हो जाते हैं। उस देश में समय पर मेघ वर्षा नहीं करता और न भूमि अधिक अन्न उत्पन्न करने में समर्थ होती है। वहाँ पर राष्ट्र का ह्रास, शत्रु वृद्धि और धन का क्षय होता है। सुरापान करने वाला राजा तो जैसे तैसे अच्छा माना भी जा सकता है, परन्तु पर स्त्री भोग परायण और अत्यन्त क्रोधी राजा अच्छा नहीं है॥ ५७-५६॥

लोकांश्चंडस्तापयति स्त्रैणोवर्णान्विलुंपति।
मद्यप्येकश्च भ्रष्टः स्याद्ध द्रूया च व्यवहारतः॥६०॥

यदि राजा क्रोधी हुआ तो वह लोगों को दुःखी कर देता है। यदि राजा कामी हुआ तो वर्ण धर्म का विनाश करके संकर सन्तान का प्रचारक हो जाता है। सुरापान करने वाले राजा की तो अपनी बुद्धि व्यवहार ही बिगड़ते हैं, परन्तु व्यभिचार और क्रोध से प्रजा का नाश होता है ॥ ६० ॥

काम क्रोधौ मद्यतमौ सर्व मद्याधिकौयतः।
धन प्राणहरो राजा प्रजायाश्चाति लोभतः ॥६१॥
तस्मादेतत्रयंत्यक्त्वा दंडधारी भवेन्नृपः।
अंतर्मृदुर्बहिः क्रूरो भूत्वा स्वां दंडयेत्प्रजाम् ॥६२॥

काम और क्रोध—ये दो बड़े भारी मद हैं। यह तो सारे सुरापानों से अधिक माने जाते हैं। जो राजा अत्यन्त लोभी होगा—वह प्रजा के धन और प्राण दोनों का अपहारक होगा, इसलिए राजा, काम, क्रोध और लोभ को छोड़ कर दण्डधारी होवे। राजा भीतर से मृदु, बाहर से क्रूर होकर अपनी प्रजा को दण्ड देवे ॥ ६१-६२ ॥

अत्युग्र दंडकल्पः स्यात्स्वभावा हितकारिणः।
राष्ट्रं कर्णे जपैर्नित्यं हन्यते च स्वभावतः ॥६३॥
अतोनृपः सूचितोपि विमृशेत्कार्य मादरात्।
आत्मनश्च प्रजायाश्च दोषदर्श्युत्तमो नृपः ॥६४॥

जो राजा के स्वभाव से अहित करने वाले हैं, राजा उनको उग्र दण्ड देवे। यह प्रकृति है, राष्ट्र में जब पिशुनों (चुग़लों)

की बहुत वृद्धि हो जाती है, तो वह राष्ट्र ही नष्ट हो-जाता है। इससे राजा किसी बात की सूचना मिलने पर उस पर गम्भीरता के साथ विचार करे। जो राजा अपने और प्रजा के दोष देखता है—वही उत्तम राजा है ॥ ६३-६४ ॥

विनियच्छति चात्मानमादौ भृत्यांस्ततः प्रजाः।
कायिको वाचिको मानसिकः सांसर्गिकस्तथा ॥६५॥
चतुर्विधोऽपराधः सबुद्ध्यबुद्धि कृतोद्विधा।
पुनर्द्विधा कारितश्चतथाज्ञेयोनुमोदितः ॥६६॥
सकृदसकृदभ्यस्तस्वभावैः सचतुर्विधः।

राजा सब से प्रथम अपना नियमन (शासन) करे इसके बाद, अमात्यादि भृत्य और फिर प्रजा का नियमन करना उचित है। कायिक, वाचिक, मानसिक और संग दोष से होने वाले चार प्रकार के अपराध होते हैं। इन चार प्रकार के अपराधों के ज्ञान पूर्वक या अज्ञान पूर्वक—ये दो भेद होते हैं। फिर ये भी कराये जाने या जानने पर अनुमोदन करने से दो प्रकार के और हो जाते हैं। अपराधों का एक बार करना, बार बार करना, अभ्यास पूर्वक करना और स्वभाव से करना—ये चार भेद और माने गए हैं ॥ ६५-६६ ॥

नेत्रवक्त्र विकाराद्यैर्भावैर्मानसिकं तथा ॥६७॥
क्रिययाकायिकं वीक्ष्य वाचिकं क्रूर शब्दतः।
सांसर्गिकं साहचर्यैर्ज्ञात्वा गौरव लाघवम् ॥६८॥

उत्पन्नोत्पत्स्यमानानां कार्याणां दंडमावहेत् ।
प्रथमं साहसं कुर्वन्नुत्तमो दंडमर्हति ॥६९॥
न्याय्यं किमिति संपृच्छेत्तवै वेयमसत्कृतिः ।
उपहासं यथोक्तं च द्विगुणं त्रिगुणं ततः ॥७०॥

नेत्र, मुख आदि के विकारों से युक्त चेष्टाओं से मानसिक अपराध का पता लगता है। क्रियाओं से कायिक और क्रूर शब्द से वाचिक और साहचर्य से सांसारिक अपराधों को जाने और उनके बलाबल का पता लगावे। जो अपराध उत्पन्न हो चुके या उत्पन्न होने वाले हैं, उनका दण्ड देवे। यदि उत्तम मनुष्य ने साधारण दण्ड के योग्य अपराध किया हो—तो उसको प्रथम यह दण्ड देना चाहिए कि बताओ, इस समय तुम्हारे साथ क्या न्याय किया जावे। तुम से यह प्रश्न करना तुम्हारा पर्याप्त अनादर है। इस बात को यदि उपहास में बदले, तो उसे पूर्वोक्त तथा उसके बाद दुगुना तिगुना दण्ड देना चाहिए॥ ६७-७० ॥

मध्यमं साहसं कुर्वन्नुत्तमो दंडमर्हति ।
धिग्दंडं प्रथमं चाद्य साहसं तदनंतरम् ॥७१॥
यथोक्तंतु तथा सम्यग्यथा वृद्धिह्यनंतरम् ।

यदि मनुष्य, मध्यम साहस (अपराध) कर डाले, तो उसे प्रथम धिक्कार का दण्ड देना चाहिए। उसके बाद साहस संज्ञक दण्ड होना उचित है। यदि अपराध हो भी गया हो—तो पूर्वोक्त

दण्ड देवे और अभ्यास हो जाने पर दुगुना-तिगुना दण्ड लगावे ॥ ७१ ॥

उत्तमं साहसं कुर्वन्नुत्तमो दंडमर्हति ॥७२॥
प्रथमं साहसं चादौ मध्यमंतदनंतरम् ।
यथोक्तं द्विगुणं पश्चादवरोधंततः परम् ॥७३॥

यदि उत्तम पुरुष उत्तम दण्ड के अपराध करे-तो उसको प्रथम-प्रथम—साहस नामक दण्ड दिया जावे। उसके बाद अपराध करने पर मध्यम—दण्ड होता है। इस पर भी वह अपराध करे—तो पूर्वोक्त से दुगुना दण्ड हो और इसके भी बाद उसे अवरोध (क़ैद) कर देना चाहिए ॥ ७२-७३ ॥

बुद्धि पूर्वं नृघातेन विनैतद्दंड कल्पनम् ।
उत्तमत्वं मध्यमत्वं नीचत्वं चात्रकीर्त्यते ॥७४॥

जो मनुष्य ज्ञान पूर्वक किसी की हत्या करे-तो इस नियम को छोड़कर उसको दण्ड की कल्पना करनी चाहिए। इसके लिए उत्तम, मध्यम और नीच दण्ड का विधान कहा जाता है ॥ ७४ ॥

गुणेनैवतु मुख्यं हि कुलेनापिधनेन च ।
प्रथमं साहसं कुर्वन्मध्यमो दंडमर्हति ॥७५॥
धिग्दंडमर्धदंडं च पूर्णदंडमनुक्रमात् ।
द्विगुणं त्रिगुणं पश्चात्संरोधं नीचकर्मच ॥७६॥

गुण, कुल और धन से मनुष्य की उत्तमता की पहचान होती है। यदि मध्यम कोटि का पुरुष प्रथम साहस को करे-तो उसे दण्ड

दिया जाना चाहिए। अर्थात उत्तम पुरुष को साधारण अपराध पर दण्ड का विधान नहीं है, मध्यम पुरुष को है। प्रथम धिक्कार का दण्ड, फिर आधा दण्ड और उसके बाद पूर्ण दण्ड दिया जाता है। यदि फिर भी वह अपराध करता रहे—तो उसको दुगुना, तिगुना, फिर संरोध (क़ैद) और फिर—नीच कर्म करवाने पर बाधित किया जाता है ॥ ७५-७६ ॥

मध्यमं साहसं कुर्वन्मध्यमो दंडमर्हति ।
अर्धं यथोक्तं द्विगुणं त्रिगुणं बंधनं ततः ॥७७॥

मध्यम साहस करने पर मध्यम पुरुष को पूर्वोक्त से आधा या पूर्वोक्त सारा दण्ड तथा उससे दुगुना या तिगुना और अन्त में बन्धन (क़ैद) भी किया जा सकता है ॥ ७७ ॥

मध्यमं साहसं कुर्वन्नधमो दंडमर्हति ।
पूर्वं साहस मादौतु यथोक्तं द्विगुणं ततः ॥७८॥

यदि अधम पुरुष, मध्यम साहस (अपराध) करे—तो उसको प्रथम साहस का आदि में दण्ड होगा और फिर दुगुना या तिगुना होता चला जावेगा ॥ ७८ ॥

उत्तमं साहसं कुर्वन्मध्यमो दंडमर्हति ।
मध्यमं साहसं चादौ यथोक्तं तदनंतरम् ॥७९॥
द्विगुणं त्रिगुणं पश्चाद्यावज्जीवंतु बंधनम् ।

मध्यम पुरुष यदि उत्तम साहस के योग्य अपराध करे—तो उसे आदि में मध्यम साहस का दण्ड होगा। फिर पूर्वोक्त दण्ड

दिया जावेगा। यदि वह मनुष्य फिर भी अपराध करता चला जावे-तो उसको दुगुना तिगुना दण्ड होगा। इसके बाद यावज्जीवन को उसे कारागार भेज दिया जा सकता है ॥ ७९ ॥

प्रथमं साहसं कुर्वन्नधमो दंड मर्हति ॥८०॥
ततः संशोधनं नित्यं मार्ग संस्करणार्थकम् ।

यदि अधम पुरुष, प्रथम साहस करे-तो उसे पूर्वोक्त दण्ड देना चाहिए। इसके बाद उसे बन्धन में (क़ैद) कर ले और उससे नित्य सड़क की सफ़ाई करवाई जावे ॥ ८० ॥

उत्तमं साहसं कुर्वन्नधमो दंड मर्हति ॥८१॥
मध्यमं साहसं चादौ यथोक्तं द्विगुणंततः ।
यावज्जीवं बंधनं च नीचकर्मैव केवलम् ॥८२॥

उत्तम दण्ड के योग्य-अपराध यदि अधम पुरुष करे-तो उसे यह दण्ड होना चाहिए, कि आदि में उसको मध्यम साहस फिर यथोक्त और फिर दुगुना दण्ड होना उचित है। उसको जीवन पर्यन्त बन्धन में भी डाला जा सकता है. और केवल नीच कर्म कराया जा सकता है ॥ ८१-८२ ॥

हरेत्पादं धनात्तस्ययः कुर्याद्धनगर्वतः ।
पूर्वं ततोर्धमखिलं यावज्जीवंतु बंधनम् ॥८३॥

जो मनुष्य धन के घमण्ड में आकर अपराध करे, तो उसके धन का चतुर्थ भाग छीन लेना चाहिए। इसके बाद अपराध करने

पर आघा और फिर सारा तथा इसके बाद उसे बन्धन में डाल देना चाहिए ॥ ८३ ॥

सहाय गौरवाद्विद्या मदाच्चबल दर्पतः ।
पापं करोतियस्तंतु बंधयेत्ताडयेत्सदा ॥८४॥

अपने सहायकों के अभिमान, विद्या मद और बल के दर्प से जो मनुष्य, पाप करता है उसको बन्धन (जेल) में डाल कर उसके बेंत लगवाने चाहिए ॥ ८४ ॥

भार्या पुत्रश्च भगिनी शिष्योदासः स्नुषाऽनुजः ।
कृतापराधास्ताड्यास्तेतनु रज्जुसुवेणुभिः ॥८५॥
पृष्ठतस्तुशरीरस्य नोत्तमांगे कथचन ।
अतोन्यथा तुप्रहरेच्चोरवद्दंड मर्हति ॥८६॥

भार्या, पुत्र, भगिनी, शिष्य, दास, स्नुषा, छोटा भ्राता-यदि ये-अपराध करें—तो उनको पतली बांस की लकड़ी से मारा जा सकता है। इनकी मार पीठपर पड़नी चाहिए। मुख या मस्तक पर नहीं। जो इसके विपरीत प्रहार करे-तो उसको चोर के समान दण्ड देना चाहिए ॥ ८५-८६ ॥

नीचकर्म करंकुर्याद्बंधयित्वातु पापिनम् ।
माससमात्रं त्रिमासंवा षण्मासं वापि वत्सरम् ॥८७॥
यावज्जीवं तुवा कश्चिन्नकश्चिद्वध मर्हति ।
न निहन्याच्च भूतानित्विितिजागर्ति वै श्रुतिः ॥८८॥

जो अपराधी हो—उसको बन्धन में डाल कर उससे एक महीने, तीन महीने, छः महीने या वर्ष भर तक बन्धन में डाल कर उससे नीच कर्म करवाना चाहिए। अथवा यावज्जीवन उससे नीच कर्म करवाया जा सकता है। परन्तु किसी को फाँसी नहीं देनी चाहिए। किसी भी प्राणी की हिंसा अच्छी नहीं है। यह वेद की—श्रुति सबको सावधान कर रही है॥ ८७-८८॥

तस्मात्सर्व प्रयत्नेन वध दंडं त्यजेन्नृपः।
अवरोधाद्बंधनेन ताडनेन च कर्षयेत् ॥८९॥

इन सब बातों को सोचकर राजा, जहाँ तक हो अपराधियों को वध का दण्ड न देवे। अवरोध, (जल) बन्धन (रोक थाम) तथा ताड़न से कभी किसी को कोई क्षीण शक्ति न बनावे ऐसी वेद की आज्ञा है॥ ८९॥

लोभान्न कर्षयेद्राजा धनदंडेन वै प्रजाम्।
ना सहायास्तु पित्राद्या दंड्याः स्युरपराधिनः॥९०॥

राजा लोभ के कारण धन दण्ड देकर प्रजा को पीड़ित न कर डाले। यदि पिता आदि अपराधी हों और उनका कोई सहायक न हो—तो इन अपराधियों को दण्ड की व्यवस्था नहीं की जा सकती है॥ ९०॥

क्षमाशीलस्यवै राज्ञो दंडग्रहणमीदृशम्।
नापराधं तु क्षमते प्रचंडो धनहारकः॥९१॥

नृपो यदा तदालोकः क्षुभ्यते भिद्यते परैः।
अतः सुभाग दंडीस्यात्क्षमावान्रंजको नृपः ॥६२॥

जो राजा क्षमाशील—होता है—उसका दण्ड ऐसा माना गया है। जो राजा प्रचण्ड और धन का अपहारक होता है, वह कभी अपराध को क्षमा नहीं करता है। इस दशा में लोग, व्याकुल हो उठते हैं और शत्रुओं से तोड़ लिए जाते हैं। इसलिए राजा सोच समझ कर साधारण दण्ड देने वाला होना चाहिए जो राजा क्षमाशील होता है, वही प्रजा का अनुरञ्जन कर सकता है॥ ६१-६२ ॥

मद्यपः कितवःस्तेनो जारश्चंडश्च हिंसकः।
त्यक्त वर्णाश्रमाचारो नास्तिकः शठ एवच ॥६३॥
मिथ्याभिशापकः कर्णेजपार्य देवदूषकौ।
असत्यवाक्न्यासहारीतथावृत्तिविघातकः ॥६४॥
अन्योदया सहिष्णुश्च ह्युत्कोच ग्रहणेरतः।
अकार्य कर्ता मंत्राणां कार्याणां भेदकस्तथा ॥६५॥
अनिष्ट वाकपरुष वाग्जलाराम प्रबोधकः।
नक्षत्र सूचीराज द्विट्कुमंत्री कूट कार्यवित् ॥६६॥
कुवैद्या मंगला शौचशीला मार्ग निरोधकाः।
कुसाद्युद्धतवेषश्च स्वामिद्रोही व्ययाधिकाः ॥६७॥
अग्निदोगरदोवेश्यासक्तः प्रबल दंडकृत्।

तथा पाक्षिकसभ्यश्च बलाल्लिखित ग्राहकः ।९८॥
अन्यायकारी कलहशीलो युद्धे पराङ्मुखः ।
साद्यलोपी पितृ मातृ सती स्त्री मित्र द्रोहकः ॥९९॥

असूयकः शत्रुसेवीमर्मच्छेदी च वंचकः ।
स्वकीयद्विटगुप्त वृत्ति वृषलोग्राम कंटकः ॥१००॥
विना कुटुंब भरणा त्तपो विद्यार्थिनं सदा ।
तृण काष्ठादि हरणे शक्तः सन्भैक्ष्यभोजकः ॥१०१॥
कन्यायाश्रपि विक्रेता कुटुम्ब वृत्ति हासकः ।
अधर्म सूचकश्चापि राजा निष्टमुपेक्षकः ॥१०२॥

कुलटापति पुत्रौ स्त्री स्वतंत्रा वृद्ध निंदिता ।
गृह कृत्योज्झितानित्यं दुष्टाचार प्रियस्नुषा ॥१०३॥
स्वभाव दुष्टानेताहि ज्ञात्वा राष्ट्राद्विवासयेत् ।
द्वीपे निवासित व्यासने बद्धा दुर्गोदरेथवा ॥१०४॥
मार्ग संरक्षणेयोज्याः कदन्नन्यून भोजनाः ।
तत्तज्जात्युक्त कर्माणि कारयीतचतैं नृपः ॥१०५॥

सुरापान करने वाले, जुआरी, चोर, जार, क्रोधी, हिंसक, वर्ण और आश्रम के आचार से हीन, नास्तिक, शठ, व्यर्थ, दुःख पहुँचाने वाला, चुगलखोर, आर्य पुरुष, और देवोंका दूषक, अत्यन्त भाषी, धरोहर पचा जाने वाला, किसी की वृत्ति को हानि पहुँचा ने वाला, अन्य की उन्नति का असहिष्णु, उत्कोच (रिश्वत)

के ग्रहण में आसक्त, अकार्य कर्ता, किसी के मन्त्र और कार्य का भेदक, अनिष्ट या कठोर वचन बोलने वाला, जलाशय और बगीचों को हानि पहुँचाने वाला, अपराध करके चुपचाप नक्षत्रों की ओर देखे, कुछ उत्तर न देने वाला, राजा का द्वेषी, कुत्सित मन्त्री, कपट पूर्ण कार्य कर्ता, कुवंद्य, अमङ्गल और अपवित्र आचार धारी, मार्ग-रोधक, मिथ्या-साक्षी देने वाला, उद्धत वेष धारी, स्वामी का द्रोही, आमदनी से अधिक व्यय करने वाला, आगल गाने वाला, विष दाता, वैश्यागामी, प्रबल दण्ड दाता, पक्षपाती अधिकारी, बल पूर्वक लिखे लेख का मानने वाला, अन्यायकारी, कलह शील, युद्ध से भागने वाला, साक्षी के बहका ने वाला, पिता, माता, सती स्त्री, और मित्र, इनसे द्रोह कर्ता, निन्दक, शत्रु सेवी, मर्मच्छेदी, वंचक, अपने सम्बन्धियों से द्वेष रखने वाला, गुप्त वृत्ति रखने वाला, धर्म—लोभी, गांव भर का शत्रु, कुटुम्बके भरण पोषणकी चिन्ता छोड़कर तप और विद्या का अभिलाषी, तृण काष्ठ बेचने में समर्थ—होकर भी भिक्षा करने वाला, कन्या विक्रेता, कुटुम्ब की वृत्ति का ह्रास करने वाला, अधर्म सूचक, राजा के भावी अनिष्ट को जानकर भी सूचना नहीं देने वाला—कुलटा स्त्री के पति और पुत्र, वृद्धों से निन्दित, स्वतन्त्र (व्यभिचारिणी) स्त्री घर के कामों को छोड़ देने वाली, दुष्टाचार प्रिय, पुत्र वधू ये स्वभाव से—दुष्ट व्यक्ति माने गए हैं। राजा इनका पता लगा कर इनको अपने राज्य से बाहर निकाल देवे। किसी अन्य द्वीप में बसा देवे, या बांध कर किसी

दुर्ग में क़ैद कर देवे। इनको कुत्सित और थोड़ा अन्न भोजन देकर किसी मार्ग की रक्षा में लगादे। राजा इन लोगों से उनकी जातियों के जो कर्म हैं, वे भी करता रहे ॥ ९३-१०५ ॥

एवं विधान साधूंश्च संसर्गेण च दूषितान् ।
दंडयित्वाच सन्मार्गे शिक्षयेत्तान्नृपः सदा ॥१०६॥

यदि कोई सत्पुरुष, किसी सङ्गति से इन लोगों के से कर्म कर डाले—तो उनको दण्ड देकर राजा उन्हें सन्मार्ग में लगा देवे। तथा राजा उनको सर्वदा-शिक्षा देता रहे, कि तुम उच्च कुल के लोगों को कभी आगे अनुचित कर्म—नहीं करना चाहिए॥ १०६ ॥

राज्ञो राष्ट्रस्य विकृतिं तथा मंत्रिगणस्य च ।
इच्छंति शत्रु संबंधाद्ये तान्हन्याद्धिद्राङ्नृपः ॥१०७॥

राजा—राष्ट्र और मन्त्रिगण, की बुराई को जो शत्रु से सम्बन्ध उत्पन्न करके खड़ी कर देता है। राजा उनका जल्दी से जल्दी बध कर डाले—इसी में सबका कल्याण है ॥ १०७ ॥

नेच्छेच्चयुगपद्घासं गण दौष्टये गणस्यच ।
एकैकं घातयेद्राजा वत्सोश्नाति यथास्तनम् ॥१०८॥

यदि किसी गण (समाज) ने मिलकर कोई अपराध कर डाला-तो राजा, एक दम सारे गण को दण्ड देने को उद्यत न हो जावे, किन्तु-राजा इस तरह एक २ का नाश करदे, जैसे बछड़ा क्रम से एक २ स्तन का पान करता है ॥१०८॥

अधर्म शीलो नृपतिर्यदातं भीषयेज्जनः ।
धर्म शीलाति बलवद्रि पोराश्रयतः सदा ॥१०६॥

जब राजा, अधर्म परायण हो जावे, तो प्रजा, धर्मशील और अति बलवान् रिपु के आश्रय की धमकी देकर उसको उचित मार्ग पर लाने को उकसाती रहे ॥ १०६ ॥

यावत्तु धर्मशीलः स्यात्सनृपस्ताव देवहि ।
अन्यथा नश्यतेलोको द्राङ् नृपोपि विनश्यति ॥११०

जब तक राजा धर्मशील है, तभी तक राज्य सिंहासन पर रह सकता है। इसके विपरीत होते ही जगत् और राजा दोनों ही शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ ११० ॥

मातरं पितरं भार्यायः संत्यज्य विवर्तते ।
निगडैर्बंधयित्वातं योजयेन्मार्ग संस्थतौ ॥१११॥
तद्भृत्यर्धंतुसंदद्यात्तेभ्यो राजा प्रयत्नतः ।

सदाचारी माता, पिता और भार्या को छोड़ कर जो स्वयं आनन्द उड़ाता है, राजा उसे बेड़ियों से बांध कर सन्मार्ग में लाने की चेष्टा करे। राजा उस मनुष्य की आमदनी में से उन माता आदि को आधा धन प्रयत्न पूर्वक दिला देवे ॥ १११ ॥

त्रिंशत्पण सहस्रं तु दंड उत्तम साहसः ॥११२॥
दश माषमितं ताम्रं तत्पणोराज मुद्रितम् ।
वराटि सार्ध शतक मूल्यं कार्षापणश्च सः ॥११३॥

एक सहस्र पण का दण्ड उत्तम साहस दण्ड कहाता है। दश मासा भर ताँबे का एक राज चिन्ह युक्त सिक्का पण कहाता है। डेढ़ सौ कौड़ियों का जो मोल हो—वह कार्षापण होता है॥ ११२-११३॥

तदर्धश्च तदर्धश्च मध्यमः प्रथमः क्रमात्।
प्रथमे साहसेदंडः प्रथमश्च क्रमात् परौ ॥११४॥
मध्यमे मध्यमो धार्यश्चोत्तमेतूत्तमो नृपैः।
सोपायाः कथितामिश्रे मित्रोदासीन शत्रवः ॥११५॥

पूर्वोक्त एक सहस्र पण से आधा-दण्ड मध्यम साहस और उससे आधा प्रथम साहस दण्ड कहाता है। प्रथम साहस अपराध में प्रथम साहस—दण्ड ही होना चाहिए। इसी तरह मध्यम उत्तम को जानो, कि मध्यम साहस अपराध में मध्यम साहस दण्ड होना चाहिए और उत्तम साहस में उत्तम दण्ड का विधान है। इस मिश्र अध्याय में मित्र उदासीन और शत्रुओं का उपायों के सहित कुछ वर्णन किया गया है॥ ११४-११५॥

अथ कोश प्रकरणं ब्रुवे मिश्रे द्वितीयकम्।
एकार्थं समुदायोयः सकोशः स्यात्पृथक्पृथक् ॥११६॥

इस मिश्र प्रकरण में अब दूसरा-प्रकरण चलता है, जिसे कोश प्रकरण कहते हैं। जिस किसी भी वस्तुओं का एक स्थान में संग्रह हो, वह उस उसका पृथक २ कोश कहाता है॥ ११६॥

येन केन प्रकारेण धनं संचिनुयान्नृपः ।
तेन संरक्षयेद्राष्ट्रं बलं यज्ञादिकाः क्रियाः ॥११७॥

राजा, जिस किसी भी तरह धन का संग्रह करे और उस धन से राष्ट्र की रक्षा, सेना संग्रह और यज्ञादिक क्रियाओं का सम्पादन करे॥ ११७॥

बल प्रजा रक्षणार्थं यज्ञार्थं कोश संग्रहः ।
परत्रेहच सुखदो नृपस्यान्यश्च दुःखदः ॥११८॥

सेना, और प्रजा के संरक्षण के निमित्त, और यज्ञ करने को कोश का संग्रह माना जाता है। ऐसा कोश संग्रह, इस लोक और परलोक में राजा को सुखदायी है। भोग विलास के निमित्त संग्रहित कोश दुःख का कारण बन जाता है॥ ११८॥

स्त्री पुत्रार्थं कृतोयश्च सोपभोगाय केवलः ।
नरकायैव सज्ञेयो न परत्र सुखप्रदः ॥११९॥

जो कोश संग्रह स्त्री और पुत्रों के लिए ही किया गया है, वह केवल उपभोग के लिए होता है। यह कोश, नरक के लिए होता है, इससे परलोक में कोई सुख नहीं मिलता है॥ ११९॥

अन्यायेनार्जितो यस्माद्येनतत्पापभाक्चसः ।
सुपात्रतो गृहीतं यद्दत्तं वा वर्धतेच यत् ॥१२०॥

जिसने अन्याय से कोश का संग्रह किया—वह पाप का भागी होता है। जो धन सुपात्र से ग्रहण किया या सुपात्र को दान दिया, वही बढ़ता है॥ १२०॥

स्वागमीसव्ययीपात्रम पात्रं विपरीतकम् ।
अपात्रस्य धनं सर्वं हरेद्राजान दोषभाक् ॥१२१॥

जो मनुष्य, सन्मार्ग से आमदनी करता है और सन्मार्ग में व्यय करता है, वह पात्र हैं और अधर्म से संग्रह करके जो भोग में लगोता है, वह अपात्र है। यदि अपात्र का सारा धन राजा छीन लेवे—तो भी उसे दोष नहीं लग सकता है॥ १२१ ॥

अधर्म शीलनृपतेः सर्वतः संहरेद्धनम् ।
छलाद्बलाद्दस्यु वृत्यापरराष्ट्राद्धरेत्तथा ॥१२२॥

जो अधर्म शील राजा है, उसका भी सब तरह से धन छीन लेना उचित है। छल, बल प्रयोग, दस्यु वृत्ति—किसी भी तरह दुष्ट-शत्रु के राष्ट्र से धन ले आना चाहिए॥ १२२ ॥

त्यक्त्वानीति बलंस्वीय प्रजापीडनतो धनम् ।
संचितंयेनतत्तस्य स्वराज्यं शत्रु साद्भवेत् ॥१२३॥

जिस राजा ने, नीति बल का परित्याग करके अपनी—प्रजा के पीड़न से धन का संग्रह किया है। उस राजा का राज्य एक दिन शत्रु के वश में जाना है॥ १२३ ॥

दंडभूभाग शुल्कानामाधिक्यात्कोश बर्धनम् ।
अनापदिन कुर्वीत तीर्थ देवकर ग्रहात् ॥१२४॥

दण्ड, पृथिवी कर, और शुल्क (महसूल) को बढ़ा कर कोश को न भरे। तीर्थ या देव स्थानों से आपत्काल को छोड़ कर कभी कर न लेवे॥ १२४ ॥

यदा शत्रु विनाशार्थं बल संरक्षणो द्यतः।
विशिष्ट दंड शुल्कादि धनं लोकात्तदाहरेत् ॥१२५॥

जब राजा, दुष्ट शत्रु के विनाश के निमित्त सेना संग्रह करे, तो उस समय वह विशिष्ट २ (खास २) दण्ड, शुल्क आदि बढ़ा-कर प्रजा से धन का संग्रह कर सकता है॥ १२५॥

धनिकेभ्यो भृतिं दत्त्वास्वापत्तौतद्धनं हरेत्।
राजा स्वापत्समुत्तीर्णस्तत्संदद्यात्स वृद्धिकम् ॥१२६॥

जब राजा पर कोई आपत्ति आवे, तो उस समय वह धन-वानों से व्याज पर धन ले सकता है। जब राजा का आपत्ति से छुटकारा हो जावे, तब वह–उस धन को व्याज के सहित उनको चुका देवे॥ १२६॥

प्रजान्यथा हीयतेच राज्यं कोशो नृपस्तथा।
हीनाः प्रबल दंडेन सुरथाद्या नृपायतः ॥१२७॥

यदि आपत्काल को छोड़ कर राजा कर बढ़ा देता है, या प्रजा के धन का शोषण करता है, तो प्रजा, राज्य कोश और राजा नष्ट हो जाते हैं। पूर्वकाल में प्रबल दण्ड से सुरथ आदि-राजा नष्ट हो चुके हैं॥ १२७॥

दंड भूभाग शुल्कैस्तु विना कोशाद्बलस्यच।
संरक्षणं भवेत्सम्यग्यावद्विंशति वत्सरम् ॥१२८॥

तथा कोशस्तु संधार्यः स्वप्रजा रक्षणात्तमः।
बल मूलोभवेत्कोशः कोशमूलं बलं स्मृतम् ॥१२९॥

दण्ड, भूमि का कर, शुल्क (महसूल) के बिना कोश से ही बीस वर्ष तक सेना का संरक्षण हो सके—राजा इतना ही कोश बढ़ावे, कोश ही तो प्रजा के रक्षण में समर्थ होता है। कोश सेना के—आधार पर होता है और सेना—कोश के आधार पर मानी गई है ॥ १२८-१२९ ॥

बल संरक्षणात्कोश राष्ट्र वृद्धिररिक्षयः।

जायतेतत्रयंस्वर्गः प्रजा संरक्षणेन वै ॥१३०॥

सेना के संरक्षण से कोश और राष्ट्र की वृद्धि तथा शत्रु का क्षय होता है। प्रजा के संरक्षण से कोश और राष्ट्र की वृद्धि तथा शत्रु क्षय के साथ स्वर्ग की प्राप्ति होती है ॥ १३० ॥

यज्ञार्थं द्रव्यमुत्पन्नं यज्ञः स्वर्ग सुखायुषे।

अर्यभावो बलंकोशो राष्ट्रवृद्धयै त्रयंत्विदम् ॥१३१॥

द्रव्य तो उत्पन्न ही यज्ञ के लिए हुआ है। यज्ञ, स्वर्ग और आयु का कारण माना गया है। शत्रु का अभाव, सेना, कोश और राष्ट्र इन तीनों की वृद्धि का हेतु माना गया है ॥ १३१ ॥

तद्वृद्धिर्नीतिनैपुण्यात्क्षमा शील नृपस्यच ।

जायते तोयतेतै वयावद्बुद्धि बलोदयम् ॥१३२॥

क्षमाशील राजा की नीति निपुणता से कोश आदि की वृद्धि होती है। इससे जितना बुद्धिबल हो, उसके आधार से राजा कोश आदि की वृद्धि का उपाय करे ॥ १३२ ॥

मालाकारस्य वृत्त्यैव स्वप्रजारक्षणेनच ।
शत्रुं हि करदीकृत्यतद्धनैः कोश वर्धनम् ॥१३३॥
करोतिस नृपः श्रेष्ठोमध्यमो वैश्य वृत्तितः ।
अधमः सेवयादंड तीर्थदेव करग्रहैः ॥१३४॥

मालाकर, जिस तरह अनुचित वृक्षों को काटकर उपयोगी वृक्षों को रखता है, उसी तरह राजा भी, अपनी प्रजा की रक्षा करके शत्रु को कर दायी करके जो उसके धन से अपने कोश को भरता है-वही राजा उत्तम माना गया है। इसके विपरीत तो राजा वैश्य वृत्ति वाला होता है, जो मध्यम माना गया है। अधम राजा, सेवा, दण्ड, तीर्थ, देवस्थान आदि पर कर लगा कर कोश का संग्रह करता है ॥ १३४ ॥

प्रजाहीन धनारक्ष्या भृत्यामध्यधनाः सदा ।
यथाधिकृत्प्रतिभुवोधिक द्रव्यास्तथोत्तमाः ॥१३५॥

जो प्रजा धन हीन और जो भृत्य मध्यम धन वाले हों-उनकी राजा रक्षा करता रहे। अधिकारी तथा अधिक धनशाली मनुष्य, प्रतिभू (जामिन) अच्छे माने गये हैं ॥ १३५ ॥

धनिकाश्चोत्तम धनानहीनानाधिका नृपैः ।
द्वादशाब्द प्रपूरंयद्धनं तन्नीच संज्ञकम् ॥१३६॥
पर्याप्तं षोडशाब्दानामध्यमंतद्धनं स्मृतम् ।
त्रिंशदब्दप्रपूरं यत्कुटुंब स्योत्तमं धनम् ॥१३७॥

बहुत से-धन से भरपूर धनवान् हो, जो-राजा से हीन या अधिक नहीं हो। जिस धन से बारह वर्ष तक परिवार का सञ्चालन हो—वह नीच धन कहाता है। जिससे सोलह वर्ष पर्यन्त निर्वाह हो सके, वह धन मध्यम है। इसी तरह जिस धन से तीस वर्ष तक कुटुम्ब का भरण पोषण हो सके—वह उत्तम धन कहाता है॥ १३६-१३७ ॥

क्रमादर्धं रक्षयेद्वाऽस्त्वापत्तौ नृप एषु वै ।

मूलै र्व्यवहरन्त्यर्धैर्नवृद्ध्या वणिजः क्वचित् ॥१३८॥

व्यापारी आधे धन से व्यापार चलावे, और आधे धन को राजा के पास सुरक्षित रखे, जिससे वह आपत्ति में काम आवे। आधे मूलधन से व्यापारी व्यापार करते हैं। कोई भी व्यापारी केवल व्याज की रकम से व्यापारी नहीं बन सकता है ॥ १३८ ॥

विक्रीणंति महार्घेतुहीनार्घे संचयंतिहि ।

व्यवहारे धृतं वैश्यैस्तद्धनेन विना सदा ॥१३९॥

जब माल पर दाम चढ़े होते हैं तब व्यापारी माल बेचते हैं, और जब दाम उतरे होते हैं तब वे खरीदते हैं। वैश्य लोग, इस तरह करते आए हैं, और वे अपने आधे धन से हाथ भी नहीं लगाते हैं, जो राजा के पास सुरक्षित है ॥ १३९ ॥

अन्यथा स्वप्रजातापो नृपंदहतिसान्वयम् ।

धान्यानां संग्रहः कार्यो वत्सरैस्त्रयपूर्तिदः ॥१४०॥

तत्तत्कालेस्त्र राष्ट्रार्थं नृपेणात्महिताय च।
चिरस्थायी समृद्धानामधिकोवापि चेष्यते ॥१४१॥

यदि राजा प्रजा के—पास धन न रहे–तो प्रजा की पीड़ा बढ़ जावेगी, जो राजा को परिवार के साथ दग्ध कर देता है। तीन वर्ष तक काम–दे सके, इतना धान्य का संग्रह राजा को करना चाहिए। यह धान्य का संग्रह राजा को दुर्भिक्ष युद्ध आदि के समय के लिए रखना चाहिए। प्रजा और राजा का इसी में हित अन्तर्हित है। जो अधिक समृद्धशाली हैं, वे चिरस्थायी अन्न का अधिक भी संग्रह कर सकते हैं १४०-१४१ ॥

सुपुष्टं कांतिमज्जाति श्रेष्ठं शुष्कं नवीनकम्।
ससुगंध वर्णरसंधान्यं संवीक्ष्य रक्षयेत् ॥१४२॥

मोटा, कान्तिशाली, जाति श्रेष्ठ, शुष्क नवीन, सुगन्धि युक्त, वर्ण और रस–सहित, धान्य को देख कर राजा या व्यापारी उसका संग्रह करे ॥ १४२ ॥

सुसमृद्धं चिरस्थायी महार्घमपिनान्यथा।
विष वह्नि हिमव्याप्तं कीट जुष्टं न धारयेत् ॥१४३॥

सर्वोत्तम चिरकाल तक ठहरने वाली वस्तु अधिक भाव पर मिली हो–तो भी अच्छी है। इसके विपरीत अच्छी नहीं है। विष, अग्नि, वर्फ और कीड़े आदि के खाये हुए धान्य का कोई कभी संग्रह न करे॥ ४३ ॥

निः सारतां नहि प्राप्तं व्य येतावन्नियोजयेत् ।
व्ययीभूतं तु यद्दृष्ट्वा तत्तुल्यं तु नवीनकम् ॥१४४॥
गृह्णीयात्सुप्रयत्नेन वत्सरेवत्सरे नृपः
औषधीनां च धातूनां तृण काष्ठादि कस्यच ॥१४५॥

जो धान्य निःसार न हुआ हो—उसको व्यय में लेता रहे। जितना व्यय होता चला जावे, उतना ही राजा को नवीन खरीद कर लेनी चाहिए। यह सब कुछ खरीददारी राजा प्रतिवर्ष किया करे। धान्य की तरह ही औषधि, धातु, तृण और काष्ठादिका संग्रह माना गया है॥ १४४-१४५॥

अन्न शस्त्रास्त्राग्नि चूर्ण भांडादेर्वाससां तथा।
यद्यच्च साधकं द्रव्यं यद्यत्कार्ये भवेत्सदा ॥१४६॥
संग्रहस्तस्य तस्यापि कर्तव्यः कार्यसिद्धिदः।
संरक्षयेत्प्रयत्नेन संगृहीतं धनादिकम् ॥१४७॥

अन्न, शस्त्र, अस्त्र, अग्नि चूर्ण (बारूद) भाण्ड (सामग्री) वस्त्र आदि जिन २ वस्तुओं की राजा को जिस २ कार्य में आवश्यकता हो, उस २ वस्तु का संग्रह करना उचित है। वह समय पर काम दे देती है। राजा अपने संग्रहीत धन की प्रयत्न के साथ रक्षा करता रहे॥ १४६-१४७॥

अर्जनेतु महद्दुःखं रक्षणेतच्चतुर्गुणम्।
क्षणं वोपेक्षितं यत्तद्विनाशं द्रावसमाप्नुयात् ॥१४८॥

धन के उपार्जन में बड़ा क्लेश है और उसकी रक्षा में तो महान् क्लेश है ही। यदि धन की क्षण भर भी उपेक्षा की तो उसके फौरन ही नष्ट हो जाने की सम्भावना है ॥ १४८ ॥

अर्जकस्यैवयद्दुखं स्याद्यथार्जित नाशने।
स्त्री पुत्राणामपि तथानान्येषां तु कथं भवेत्।

उपार्जित धन के नाश होने में जो—उसके उपार्जन करने वाले को कष्ट होता है, वैसा ही स्त्री और पुत्रों को होता है। अन्य को उसका दुःख क्यों होने लगा है ॥ १४९ ॥

स्वकार्ये शिथिलोयः स्यात्किमन्येन भवंतिहि।
जागरूकः स्वकार्येयस्तत्सहायाश्चतत्समाः ॥१५०॥

जब मनुष्य, आपही-अपने काम में शिथिल होगा-तो अन्य भृत्य आदि शिथिल क्यों नहीं हो जावेंगे। जो मनुष्य अपने काम में सावधान रहता है, तो उसी तरह उसके साथी भी सावधान होकर उद्यत रहते हैं ॥ १५० ॥

योजानात्यर्जितुं सम्यगर्जितं न हि रक्षितुम्।
नातः परतरो मूर्खो वृथा तस्यार्जनाश्रमः ॥१५१॥

जो धन कमाना तो अच्छी तरह जानता है, परन्तु उसकी रक्षा करना नहीं जानता, उसके बराबर कौन मूर्ख हो सकता है। उसका तो फिर धन का अर्जन करने का श्रम ही वृथा है ॥ १५१ ॥

एकस्मिन्नधिकारेतु योद्वावधि करोतिसः।
मूर्खो जीवद्बुद्धिभार्यश्च ह्यतिविस्त्रं मत्रांस्तथा ॥१५२॥

जो राजा, एक अधिकार पर दो मनुष्यों को नियुक्त करता है। वह ऐसा मूर्ख है, जैसा अपनी स्त्री के जीवित रहने पर दूसरी स्त्री के साथ विवाह करता है या सबका अति विश्वास करता हो ॥ १५२ ॥

महा धनाशोरसतः स्त्रीभिर्निर्जित एवहि ।
तथायः साक्षितां पृच्छेच्चौरजाराततायिषु ॥१५३॥

धन के लालची, असदाचारी, स्त्री लम्पट, को जो चोर जार और आततायी, (घातकों) के सम्बन्ध में साक्षी मानता है, वह भी मूर्ख है ॥ १५३ ॥

संरक्षयेत्कृपण वन्काले दद्याद्विरक्तवत् ।
वस्तु याथात्म्य विज्ञाने स्वयमेवयतेत्सदा ॥१५४॥

राजा कृपण की तरह धन की रक्षा करे और समयपर विरक्त की भाँति लुटादे। वस्तु के यथार्थ तत्व के जानने में सर्वदा प्रयत्न करता रहे ॥ १५४ ॥

परीक्षकैः स्वयं राजा रत्नादीन्वीक्ष्य रक्षयेत् ।
वज्रं मुक्ता प्रवालंच गोमेदश्चेंद्र नीलकः ॥१५५॥
वैदूर्यः पुष्करागश्चपाचिर्माणिक्य मेवच ।
महारत्नानि चैतानि नव प्रोक्तानि सूरिभिः ॥१५६॥

राजा, परीक्षकों से परीक्षा कराके-रत्नादि की रक्षा करे। वज्र, मुक्ता प्रवाल, गो भेद, इन्द्र नील, वैदूर्य, पुखराज, पाचि,

माणिक्य---नव प्रकार के रत्नों को विद्वानों ने महा रत्न कहा है ॥ १५५-१५६ ॥

रवेः प्रियं रक्तवर्णं माणिक्यंत्विन्द्रगोपरुक् ।

रक्त पीत सितश्यामच्छविमुक्ता प्रियाविधोः ॥१५७॥

सपीत रक्तरुग्भौम प्रियं विद्रुममुत्तमम् ।

मयूर चाषपत्राभा पाचिर्बुधहिता हरित् ॥१५८॥

इन्द्र गोप (बीर बहूटी) के समान रंगवाला लाल माणिक्य सूर्य को प्रिय है। लाल, पीला, श्वेत और काली कान्ति वाला, मोती चन्द्रमा को प्रिय माना गया है। कुछ पीलेपन को लिए लाल उत्तम मूंगा मंगल ग्रह को प्रिय होता है। मोर और नील-कण्ठ के समान नीले रंग का पाचि नामक रत्न बुध को प्रिय है, या जिसमें कुछ हरित् झलक होती है, वह भी बुध को प्रिय है॥ १५७-१५८ ॥

स्वर्णच्छविः पुष्करागः पीतवर्णो गुरुप्रियः ।

अत्यंत विशदं वज्रं तारकाभंकवेः प्रियम् ॥१५९॥

सुवर्ण के समान कान्तिवाली, पीली पुखराग मणि बृहस्पति को अभीष्ट है। तारों के समान श्वेत कान्तिधारी, अत्यन्त विशद-वज्र, शुक्र को प्रिय है॥ १५९ ॥

हितः शनेरिन्द्रनी लोह्यसितोघनमेघरुक् ।

गोमेदः प्रिय कृद्राहोरीषत्पीतारुण प्रभः ॥१६०॥

गहरे मेघ के समान कृष्ण कान्ति वाला, इन्द्र नील नामक रत्न, शनि को प्रिय है। कुछ—पीली और लाल कान्ति वाला गोमेद रत्न, राहु को प्रिय है ॥ १६० ॥

ओत्वक्षाभश्चलत्तंतु वैदूर्यं केतु प्रीतिकृत्।
रत्न श्रेष्ठतरं वज्रं नीचं गोमेद विद्रुमम् ॥१६१॥
गारुत्मतं च माणिक्यं मौक्तिकं श्रेष्ठमेवहि।
इन्द्र नील पुष्करागौ वैदूर्यं मध्यमं स्मृतम् ॥१६२॥

बिलाव के नेत्रों के समान, किरणों से युक्त, वैदूर्य नामक मणि केतु को प्रसन्न करती है। रत्नों में सर्व श्रेष्ठ, वज्र (हीरा) होता है और गोमेद तथा विद्रुम साधारण हैं। मोर-पङ्ख के समान कान्तिशाली पाचि, माणिक्य और मोती श्रेष्ठ माने गए हैं। इन्द्र नील, पुखराग और वैदूर्य मध्यम मणि होते हैं॥ १६१-१६२ ॥

रत्न श्रेष्ठो दुर्लभश्च महाद्युतिरहेर्मणिः।
अजालगर्भंसद्वर्णं रेखाबिंदु विवर्जितम् ॥१६३॥
सत्कोणं सुप्रभं रत्नं श्रेष्ठं रत्न विदोविदुः।
शर्कराभं दलाभंच चिपिटंवतुलंहि तत् ॥१६४॥

सर्प के मस्तक से निकलने वाली मणि, बड़ी चमकीली और और दुर्लभ होती है। इसको भी श्रेष्ठतर रत्नों में गिना गया है। जिसके भीतर बहुत जल न हो। जिसका वर्ण उज्ज्वल हो। रेखा

और बिन्दुओं से रहित हो। जिसमें अच्छे २ कोने हों, चमक अच्छी हो—उसे ही रत्न के परीक्षक उत्तम रत्न मानते हैं। इनकी शर्करा और पत्तों की सी कान्ति होती है। कोई चपटा और कोई गोल होता है॥ १६३-१ ४॥

वर्णाः प्रभाः सिता रक्त पीत कृष्णास्तु रत्नजाः।
यथा वर्णं यथा छायं रत्नं यद्दोष वर्जितम् ॥१६५॥
श्री पुष्टि कीर्ति शौर्यायुः करमन्यदसत्स्मृतम्।
पद्मरागस्तु माणिक्य भेदः कोकनदच्छविः ॥१६६॥

रत्नों के वर्ण, चमकीले, श्वेत, लाल, पीले और काले होते हैं। जिस रत्न का शास्त्रोक्त वर्ण, कान्ति, वह दोष रहित होता है। ऐसा रत्न धारण करने पर श्री, पुष्टि, कीर्ति, शौर्य और आयु को प्रदान करता है। पद्मराग भी माणिक्य का ही एक भेद होता है। इसकी लाल कमल के समान कान्ति होती है॥ १६५-१६६॥

नधारयेत्पुत्रकामानारी वज्रं कदाचन।
कालेन हीनं भवति मौक्तिकं विद्रुमं धृतम् ॥१६७॥

पुत्र की कामना करने वाली स्त्री हीरे को धारण न करे। मोती और विद्रुम, बहुत दिन पहनने से हीन (रद्दी) हो जाते हैं॥ १६७॥

गुरुत्वात्प्रभयावर्णाद्विस्तारादा श्रयादपि।
आकृत्याचाधिमूल्यं स्याद्रत्नंयद्दोष वर्जितम् ॥१६८॥

जो रत्न दोषों से विवर्जित हो, वह भारीपन, कान्ति वर्ण, विस्तार, आश्रय और आकृति के कारण अधिक मूल्य वाले हो जाते हैं ॥ १६८ ॥

नायसोल्लिख्यते रत्नं विनामौक्तिक विद्रुमात् ।
पाषाणेनापिच प्राय इतिरत्न विदोविदुः ॥१६९॥

मोती और विद्रुम के सिवा अन्य रत्नों पर लोहे की लकीर नहीं खिच सकती है और न पत्थर की ही कोई लकीर पड़ सकती है—ऐसा रत्न के परीक्षक मानते हैं ॥ १६९ ॥

मूल्याधिक्यायभवति यद्रत्नं लघु विस्तृतम् ।
गुर्वल्पंहीन मौल्यं स्याद्रत्नं यदि च सद्गुणम् ॥१७०॥

जो रत्न हलके और बड़े होते हैं, उनका मूल्य अधिक होता है। छोटा होने पर भी यदि भारी हो—तो चाहे वह निर्दोष है, तो भी उसका मूल्य थोड़ा होगा ॥ १७० ॥

शर्कराभंहीन मौल्यं चिपिटं मध्यमंस्मृतम् ।
दलाभं श्रेष्ठ मूल्यंस्याद्यथा कामात्तवर्तुलम् ॥१७१॥

जिस रत्न की कान्ति शर्करा के समान श्वेत होगी—उसका कम मूल्य होगा। चिपटा रत्न, मध्यम होता है। पत्ते के समान रंग वाला रत्न अच्छा माना गया है और गोल रत्न, आवश्यकता के अधीन मूल्य दे देता है ॥ १७१ ॥

नजरांयांति रत्नानि विद्रुमं मौक्तिकंविना ।
राजदौष्ट्याच्च रत्नानां मूल्यं हीनाधिकं भवेत् १७२॥

विद्रुम और मोती को छोड़ कर कोई रत्न जीर्ण नहीं होते हैं। राजा की दुष्टता से रत्नों का मूलय न्यून अधिक होता रहता है ॥ १७२ ॥

मत्स्याहि शंख वाराहवेणु जीमूत शुक्तितः ।
जायते मौक्तिकं तेषु भूरिशूक्त्युद्भवं स्मृतम् ॥१७३॥

मत्स्य, सर्प, शंख, वाराह, वेणु, और मेघ द्वारा सीप में मोती उत्पन्न होते हैं। अधिकतर-मोती सीप से ही निकाले जाते हैं ॥ १७३ ॥

कृष्णं सितं पीतरक्तं द्विचतुः सप्तकं चुकम् ।
कनिष्टं मध्यमं श्रेष्ठं क्रमाच्छुक्त्युद्भवं विदुः ॥१७४॥

जिस काले मोती में दो कंचुक (पड़दे) हों वह कनिष्ठ होता है। जिस श्वेत मोती में चार पड़दे हों-वह-मध्य होता है और जिस पीले, मोती में सात कञ्चुक हों-वह उत्तम माना गया है। ये सब शुक्ति (सीप) से उत्पन्न होने वाले मोतियों के विषय में कहा गया है ॥ १७४ ॥

तदेवहि भवेद्वेध्य मवेध्यानी तराणितु ।
कुर्वंति कृत्रिमं तद्वत्सिहलद्वीप वासिनः ॥१७५॥

तत्संदेह विनाशार्थं मौक्तिकं, सुपरीक्षयेत् ।

उष्णोस लवणस्नेहे जलेनिश्युनितंहि तत् ॥१७६॥
व्रीहिभिर्मर्दितेने याद्वैवरण्यंतद कृत्रिमम् ।
श्रेष्ठाभंशुक्तिजं विद्यान्मध्या भंत्वितरद्विदुः ॥१७७॥

ये पूर्वोक्त मोती बेंधे जा सकते हैं, इनके सिवा अन्य मोती अवेध्य माने गए हैं। सिंहल द्वीप निवासी लोग, कृत्रिम मोती भी बनाते हैं। बनावटी मोती की पहचान के निमित्त मोती की अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिए। लवण और तेल मिलाकर गर्म जल में धोने और रात भर उसी में पड़े रहने देने तथा फिर उसके—धानों में मलने पर जिसकी रगत न बदले–वह असली मोती होता है। सीप के मोती की तीखी चमक–होती है और अन्य मोतियों की कुछ मध्यम चमक दिखाई देती है ॥१७५-१७७॥

तुला कल्पित मूल्यंस्याद्रत्नं गोमेदकं विना ।
चुमाविंशति भीरक्ती रत्नानां मैक्तिकं विना ॥१७८

गोमेदक रत्न को छोड़कर सारे रत्नों का मोल तोलने पर किया जाता है। बीस अलसियों या (सरसों) की एक रत्ती मानी गई है। मोती इस रत्ती से नहीं तोले जाते हैं। अन्य सारे रत्न, इसीसे तुलते हैं ॥ १७८ ॥

रक्तित्रयंतु मुक्तायाश्चतुः कृष्णलकैर्भवेत् ।
चतुर्विंशतिभिस्ताभी रत्नटंकस्तु रक्तिभिः ॥१७९॥

मोती के तोलने की तीन रत्ती–चार कृष्णलकों की होती है। इन—चौबीस रत्तियों का एक रत्न टंक होता है ॥ १७९ ॥

टंकैश्चतुर्भिस्तोलः स्यात्स्वर्णं विद्रुमयोः सदा ।
एकस्यैवहि वज्रस्यत्वे करक्तिमितस्य च ॥१८०॥
सुविस्तृत दलस्यैव मूल्यं पंच सुवर्णकम् ।
रक्तिकादलविस्ताराच्छ्रेष्ठं पंच गुणं यदि १८१॥

चार टंक का एक तोला होता है, जिससे सोना और मूंगा तुलता है। जो एक हीरा एक रत्ती भर हो। तथा जिसका फैलाव अच्छा हो उसका मूल्य पांच सुवर्ण (मुहर) होगा। इसका विस्तार रत्ती के विस्तार से पंच गुना होना चाहिए ॥ १८०-१८१॥

यथा यथा भवेन्न्यूनं हीन मौल्यं तथा तथा ।
अत्राष्टरक्तिकोमाषो दशमाषैः सुवर्णकः ॥१८२॥
मूल्यं पंच सुवर्णानां राजताशीति कर्षकम् ।
यथा गुरुतरं वज्रं तन्मूल्यं रक्तिवर्गतः ॥१८३॥

यह विस्तार में जितना न्यून होता जावेगा, उसी २ तरह इसका मूल्य भी कम होता जावेगा। आठ रत्ती का एक माशा और दश माशे का एक सुवर्ण (मुहर) होता है। पांच सुवर्णों का मूल्य चाँदी के अस्सी रुपये होते हैं। वज्र (हीरा) जितना भारी होगा, उसका उतना ही रत्तियों के समूह की तोल से होगा ॥ १८२-१८३ ॥

तृतीयांश विहीनंतु चिपिटस्य प्रकीर्तितम् ।
अर्धंतु शर्कराभस्यचोत्तमं मूल्यमीरितम् ॥१८४॥

जो वज्र (हीरा) चिपटा हो, उसका तृतीयांश मूल्य कम हो जावेगा। शर्करा के समान कान्तिवाले, रत्न का मूल्य आधा मूल्य होता है-यह उत्तम मूल्य माना गया है ॥ १८४ ॥

रक्तिकायाश्च द्वेवज्रे तदर्धं मूल्यमर्हतः
तदर्धं बहवोर्हंतिमध्याहीना यथा गुणैः ॥१८५॥

जो दो वज्र की कणी, एक रत्ती की हों-तो उनका एक के हिसाब से आधा मूल्य रह जावेगा। यदि एक रत्ती में बहुत वज्र चढ़ जावे, तो उनके मूल्य उससे भी आधे-रह जावेंगे। ये मध्य, हीन अपने २ गुणों के अनुसार होंगे ॥ १८५ ॥

उत्तमार्धं तदर्धंवा हीरकागुण हीनतः।
शतादूर्ध्वं रक्तिवर्गाद्ध्रसोद्विंशति रक्तिकाः ॥१८६॥

जो हीरे गुण हीन होने से उत्तम मूल्य वाले आधे हो-या आधे के भी आधे रह गए हों—तो उनमें सौ रत्ती पर बीस रत्ती का मूल्य कम करदे ॥ १८६ ॥

प्रति शतात्तु बज्रस्य सुविस्तृ तदलस्यच।
तथैव चिपिटस्यापि विस्तृतस्यच ह्रासयेत् ॥१८७॥

जिस वज्र (हीरे) का दल अच्छा विस्तृत हो तथा जिसका विस्तार कुछ चिपटे दल के साथ हो—उन वज्रों के तोल में सौ रत्ती पर बीस रत्ती का मूल्य घटा कर दाम देने चाहिए ॥ १८७ ॥

शर्कराभस्य पंचाशच्चत्वा रिंशच्चवैकतः ।
रत्नंनधारयेत्कृष्णं रक्तबिंदुयुतंसदा ॥१८८॥

शर्करा के समान कान्ति वाले रत्न का सौ रत्ती में पचास या चालीस कम करके मूल्य देवे । लाल बिन्दुओं से युक्त, काले रत्न को कभी धारण न करे ॥ १८८ ॥

गारुत्मकंतूत्तमं चेन्माणिक्यं मूल्य मर्हतः ।
सुवर्णं रक्तिमात्रंच यथारक्ति ततोगुरु ॥१८९॥

जो मोर पङ्ख के समान नील मणि, उत्तम गुण युक्त हो-तो उसका मूल्य माणिक्य के तुल्य होता है । एक रत्ती सुवर्ण के आकार और भारीपन, के सदृश उसका आकार और भारीपन होना चाहिए ॥ १८९ ॥

रक्तिमात्रःपुष्करागोनीलः स्वर्णार्धमर्हतः ।
चलत्रिसूत्री वैदूर्यश्चोत्तमं मूल्यमर्हति ॥१९० ॥

एक रत्ती का नीला पुखराज का आधा सुवर्ण (आधी मुहर) मोल होगा । जिस वैदूर्य मणि में तीन सूत्र चल रहे हों-वह भी उत्तम मूल्य को प्राप्त होता है ॥ १९० ॥

प्रवालं तोलकमितं स्वर्णार्धं मूल्य मर्हति ।
अत्यल्प मूल्योगोमेदोनोन्मानंतु यतोर्हति ॥१९१॥

एक तोले प्रवाल का आधा सुवर्ण (मुहर) मूल्य होगा । गोमेद नामक रत्न बहुत थोड़े मूल्य का होता है, इससे उसे तोल कर नहीं बेचा जाता है ॥ १९१ ॥

संख्यातः स्वल्परत्नानां मूल्यंस्याद्धीरकादृिना ।
अत्यंत रमणीयानां दुर्लभानांच कामतः ॥१६२॥

हीरे को छोड़ कर अन्य छोटे रत्नों का मूल्य, संख्या से होता है। जो बड़े सुन्दर और दुर्लभ हों—उनका आवश्यकता के अनुसार मूल्य घटता बढ़ता है ॥ १६२ ॥

भवेन्मूल्यं नमानेन तथाति गुण शालिनाम् ।
व्यंघ्रिश्चतुर्दश हतोवर्गो मौक्तिकरक्तिजः ॥१६३॥
चतुर्विंशतिभिर्भक्तोलब्धान्मूल्यं प्रकल्पयेत् ।
उत्तमंतु सुवर्णार्धमूनमूर्न यथा गुणम् ॥१६४॥

जो अत्यन्त गुण वाले मोती हैं, उनका मूल्य भी तोल से नहीं होता है। मोतियों की रत्तियों को चौथाई कम करके उसे चौदह से गुना कर और उसमें चोबीस का भाग देवे जो लब्धि हो—उसको मूल्य समझे। जो उत्तम रत्न हो तो उसका आधा सुवर्ण (मुहर) मूल्य होगा और उनसे न्यून का गुणानुसार मूल्य समझना चाहिए ॥ १६४ ॥

मुक्तायारक्ति वर्गस्य प्रति रक्तौ कलानव ।
कल्पयेत्पंचभागान्हि त्रिंशद्धिः प्राग्भजेच्चतान् ॥१६५॥
लब्धं कलासु संयोज्य कलाः षोडशभिर्भजेत् ।
मूल्यं तल्लब्धतोयोज्यं मुक्तायावायथा गुणम् ॥१६६

मोतियों की रत्तियों में प्रत्येक रत्ती की नौ २ कला समझे उन रत्तियों को पच गुना करके उनमें तीस का भाग दे। उसमें

जो उपलब्ध हो-उसको नवगुणी, उन कलाओं में मिलादे। फिर उसमें सोलह का भाग दे-तो जो उपलब्ध हो-उससे—मोतियों का मूल्य समझले या जैसा मोती हो उसके गुणानुसार मोतियों का मूल्य निश्चित करे॥ १६५-१६६ ॥

रक्तं पीतंवर्तुलं चेन्मौक्तिकं चोत्तमंसितम्।
अधमं चिपिटं शर्कराभमन्यत्तु मध्यमम् ॥१६७॥

जो मोती, लाल, पीला और श्वेत गोल हो, वह उत्तम होता है। शर्करा के सदृश-कान्तिवाला मध्यम और चिपटा अधम होता है॥ १६७ ॥

रत्ने स्वाभाविका दोषाः संतिधातुषु कृत्रिमाः।
अतो धातून्संपरीक्ष्य तन्मूल्यं कल्पयेद्बुधः ॥१६८॥

रत्नों में स्वाभाविक दोष होते हैं और सुवर्ण आदि धातुओं में मिलाने से कृत्रिम दोष हो जाते हैं। इससे धातुओं की परीक्षा करके बुद्धिमान मनुष्य उनके मूल्य की कल्पना करे॥ १६८॥

सुवर्णं रजतं ताम्रं वंगं सीसंचरंगकम्।
लोहंच धातवः सप्त ह्येषामन्येतु संकराः ॥१६९॥

सुवर्ण, चाँदी, ताँबा, बंग, सीसा, रांग, और लोहा ये सात धातु होते हैं। इनसे अन्य धातु इनके मिलाने से ही बनते हैं॥ १६९ ॥

यथा पूर्वंतु श्रेष्ठं स्यात्स्वर्णं श्रेष्ठतरं मतम्।
वंगताम्र भवंकांस्यंपित्तलं ताम्ररंगजम् ॥२००॥

इनमें यथा पूर्व उत्तम माने गए हैं, सुवर्ण इनमें सर्व श्रेष्ठ है। वंग और ताँबा मिलाने से काँसी बनती है। तांबा और रांग मिला कर पीतल बनता है॥ २०० ॥

मानसममपिस्वर्णं तनुस्यात्पृथुलाः परे।
एकच्छिद्र समाकृष्टे समखंडेद्वयोर्यदा ॥२०१॥
धातोः सूत्रंमानसमं निर्दुष्टस्य भवेत्तदा।
यंत्र शस्त्रास्त्र रूपं यन्महामूल्यं भवेदयः ॥२०२॥

सोने का पतरा बहुत पतला बनाया जा सकता है, परन्तु अन्य धातु मोटी रह जाती हैं। जो दो समान खण्डों को एक छिद्र में से खैंचा जावे—तो शुद्ध सुवर्ण का बहुत पतला तार खिंच जाता है यंत्र, शस्त्र और अस्त्रों के बनाने का लोहा भी बहुत मूल्य में बिकता है ॥२०१-२०२॥

रजतं षोडश गुणं भवेत्स्वर्णस्य मूल्यकम्।
ताम्रं रजत मूल्यं स्यात्प्रायोशीति गुणं तथा ॥२०३॥
ताम्राधिकं सार्धगुणं वंगं वंगात्तथा परे।
रंग सीसेद्वित्रिगुणे ताम्राल्लोहेतु षट्गुणम् ॥२०४॥

सुवर्ण का मूल्य चांदी से सोलह गुणा अधिक है। तथा चांदी का मूल्य तांबे से अस्सी गुणा अधिक है अर्थात् एक रुपये का अस्सी तोला [सेर] तांबा आता है। वंग से डोड्या तांबे का मूल्य होता है। वंग से दुगुने तिगुने रांग और सीसे आ जाते हैं। एक

सेर तांबा में छः सेर लोहा खरीदा जा सकता है, यह विशिष्ट [खास] वस्तुओं का मूल्य कह दिया है । यह मूल्य की कल्पना पूर्व से ही चली आ रही है ॥ २०३-२०४॥

मूल्यमेतद्विशिष्टं तु ह्युक्तंप्राङ्मूल्य कल्पनम् ।
सुशृंग वर्णासुदुघाबहुदुग्धासुवत्सका ॥२०५॥

तरुण्यल्पावा महती मूल्याधिक्याहिगौर्भवेत् ।
पीत वत्साप्रस्थ दुग्धातन्मूल्यं राजतंपलम् ॥२०६॥

जिस गाय के उत्तम सींग और जिसका उत्तम वर्ण हो। बहुत दूध देने वाली और सीधी तरह दूध देने वाली हो। सुन्दर जिस का बछड़ा हो वह तरुणी हो, तो चाहे छोटी हो या बड़ी उस गौ का मूल्य अधिक होता है। जिसके बछड़े के पी चुकने पर सेर भर दूध बचा रहे, उसका मूल एक पल चांदी (चार रुपये) होता है ॥२०५-२०६॥

अजायाश्च गवार्धंस्यान्मेष्या मूल्यमजार्धकम् ।
दृढस्य युद्धशीलस्य पलंमेषस्य राजतम् ॥२०७॥

गौ से आधा मूल्य बकरी (दो रुपये) का और बकरी से आधा मूल्य (एक रुपया) भेड़ का होता है। जो बहुत दृढ़ और लड़ने वाला हो-उस मेढ़े का एक पल (चार रुपये) मूल्य होता है ॥

दशवाष्टौपलं मूलं राजतं तूत्तमंगवाम् ।
पलंमेष्या अवेश्चापि राजतं मूल्यमुत्तमम् ॥२०८॥

जो उत्तम पुष्ट गाय हो—उसका मूल्य, दश या आठ पल (३२ या ४० रुपये) चांदी होतो है। मेषी और भेड़ का भी उत्तम मोल एक पल (चार रुपये) माने गए हैं ॥२०८॥

गवां समं सार्धगुणं महिष्या मूल्यमुत्तमम् ।
सुशृंग वर्णबलिनोवोढुः शीघ्र गमस्य च ॥२०९॥
अंष्टताल वृषस्यैव मूल्यं षष्टि पलं स्मृतम् ।
महिषस्योत्तमं मूल्यं सप्तचाष्टौ पलानिच ॥२१०॥

गौ की बराबर या गौ से ड्योढ़ा भैंस का उत्तम मूल्य माना गया है। जिस बैल के अच्छे सींग, और वर्ण हों। बलवान् बोझा लेचलने में समर्थ और शीघ्रगामी हो, जो आठ ताल ऊंचा हो ऐसे बैल का मूल्य साठ रुपये माना गया है। उत्तम भैंस का भी उत्तम मूल्य, सात या आठ पल (सत्ताईस-बत्तीस) रुपये माने गए हैं ॥२०९-२१०॥

द्वित्रिचतुः सहस्रं वा मूल्यं श्रेष्ठं गजाश्वयोः ।
उष्ट्रस्य माहिष समं मूल्यमुमत्तमीरितम् ॥२११॥

जो उत्तम गज या अश्व हैं, उनका मूल्य, दो तीन या चार सहस्र रुपये या पल हैं। भैंसे के बराबर ऊंट का तीस रुपये के लगभग उत्तम मोल माना गया है ॥२११॥

योजनानां शतं गंताचैकेनाह्नाश्व उत्तमः ।
मूल्यं तस्य सुवर्णानां श्रेष्ठं पंच शतानिहि ॥२१२॥

जो घोड़ा एक दिन में सौ योजन (चार सौ कोश) चला जावे, वह उत्तम होता है। उस अश्व का मूल्य पांच सौ सुवर्ण की मुहर होती है ॥२१२॥

त्रिंशद्योजनगंतावैउष्ट्रः श्रेष्ठस्तु तस्यवै ।
पलानांतु शतं मूल्यं राजतं परिकीर्तितम् ॥२१३॥

तीस योजन चलने वाला ऊंट उत्तम माना गया है, उसका सौ पल [चार सौ रु०] कीमत मानी जाती है ॥२१३॥

चतुर्माषमितं स्वर्णं निष्कइत्यभि धीयते ।
पंचरक्तिमितोमाषो गजमौल्ये प्रकीर्तितः ॥२१४॥

चार मासे सोने को निष्क कहते हैं। हाथी के मूल्य के समय पांच रत्ती का एक मासा माना जाता है ॥ २१४ ॥

रत्नभूतंतु तत्तत्स्याद्यद्यद प्रतिमं भुवि ।
यथा देशं यथाकालं मूल्यं सर्वस्य कल्पयेत् ॥२१५॥

जो २ वस्तु, पृथिवी पर अद्भुत हो वह सब रत्नों में गिनी जाती हैं। उन सबके मूल्य की देश और काल के अनुसार कल्पना करनी चाहिए ॥२१५॥

नमूल्यं गुणहीनस्य व्यवहाराक्षमस्य च ।
नीच मध्योत्तमत्वंच सर्वस्मिन्मूल्य कल्पने ॥२१६॥
चिंतनीयं बुधैर्लोकाद्वस्तु जातस्य सर्वदा ।

जो वस्तु गुणहीन या व्यवहार के अयोग्य हैं, उसका कुछ भी मूल्य नहीं होता है। मूल्य की कल्पना के समय सब वस्तुओं में

उत्तम मध्यम और अधमत्व देखा जाता है। और उसी के अनुसार उन का उत्तम मध्यम और अधम मूल्य चलता है। जितनी भी वस्तु है, उन सबका मूल्य बुद्धिमान् आदमी लोक के व्यवहार से समझ लिया करे अर्थात् जैसा भाव हो पता लगा ले ॥२१६॥

विक्रेतृक्रेतृतो राजभागः शुल्क मुदाहृतम् ॥२१७॥

शुल्कदेशाहट्ट मार्गाः करसीमाः प्रकीर्तिताः।

वस्तु जातस्यैक वारं शुल्कं ग्राह्यं प्रयत्नतः ॥२१८॥

बेचने और खरीदने वालों को जो राज भाग देना पड़ता है, वह शुल्क [महसूल चुंगी] कहाता है। शुल्क के स्थान, बाजारों के मार्ग या करसीमा (गांव के बाहर की चौकी) होती हैं। एक वस्तु का एक बार राज्य शुल्क लेना चाहिए ॥२१८॥

क्वचिन्नैवास कृच्छुल्कं राष्ट्रेग्राह्यं नृपैश्छलात्।

द्वात्रिंशांशं हरेद्राजा विक्रेतुः क्रेतुरेववा ॥२१६॥

त्रिंशांशंवषोडशांशं शुल्कं मूला विरोधकम्।

नहीनसम मूल्याद्धि शुल्कं विक्रेतृतोहरेत् ॥२२०॥

लाभंदृष्ट्वा हरेच्छुल्कं क्रेतृतश्चसदानृपः।

राजा छल पूर्वक राष्ट्र में बार २ किसी शुल्क का ग्रहण न करे। राजा बेचने या खरीदने वाले से वस्तु का बत्तीसवां भाग [रुपये पर दो पैसे] शुल्क ग्रहण करे अथवा मूलधन को छोड़ कर लाभ में से बीस या सोलहवां भाग ग्रहण करे। जिसके मूल

रकम ही वस्तु की उठी हो या घाटा रह गया हो—राजा उससे कुछ शुल्क न ले। राजा लाभ को देखकर बेचने वाले से अपना शुल्क लिया करे ॥२१६-२२०॥

बहुमध्याल्पफलितां भुवंमानमितां सदा ॥२२१॥
ज्ञात्वा पूर्वं भागमिच्छुः पश्चाद्भागं विकल्पयेत् ।
हरेत्कर्षकाद्भागं यथानष्टो भवेन्नसः ॥२२२॥

बहुत, मध्य या अल्प फल देने वाली भूमि को नांप के अनुसार राजा जान लेवे। जो भागपूर्व में लेना चाहिए राजा उसे पीछे लेले। राजा किसान से इस तरह अपना कर ग्रहण करे जिससे वह नष्ट न होवे ॥२२१-२२२॥

मालाकार इवग्राह्यो भागोनांगार कारवत् ।
बहुमध्याल्प फलतस्तार :म्यं विमृश्यच ॥२२३॥

राजा माली की तरह अपने भाग का ग्रहण करे, कोयले बनाने वाले की तरह न करे अर्थात् खिली २ कलियों को जिस जिस तरह माली चुनता है, ऐसे धन का संग्रह करे—कोयले वाले की तरह सब अङ्गारों को न बुझादे। बहुत, मध्य और अल्प फल के अनुसार उनका तारतम्य (फर्क) विचार कर जहां जैसा लेना हो, लेवे ॥२२३॥

राजभागादि व्ययांतोद्विगुणं लभ्यतेयतः ।
कृषिकृत्यंतु तच्छ्रेष्ठं तन्न्यूनं दुःखदंनृणाम् ॥२२४॥

राज कर आदि सारे व्ययों को चुका कर जिस खेती में दुगुना लाभ हो—वह श्रेष्ठ होता है, उससे न्यून, मनुष्यों को दुःख का कारण बन जाता है ॥२२४॥

तडागवापिका कूपमातृकाद्देव मातृकात् ।
देशान्नदीमातृकात्तु राजानुक्रमतः सदा ॥२२५॥
तृतीयांशं चतुर्थांशमर्धांशंतु हरेत्फलम् ।
षष्ठांश भूषरात्तद्वत्पाषाणादि समाकुलात् ॥२२६॥

तड़ाग, बावड़ी या कूप से सिंचाई होकर जिसमें अन्न हो। या मेघ के जल से तथा नदी की सिंचाई से अन्न की उत्पत्ति हो, राजा उनसे क्रम से तृतीयांश, चतुर्थांश या अर्धांश ग्रहण करे। जिस भूमि में कंकर हों या जो बंजर हो—उससे छटा भाग आय का राजा कर के रूप में स्वीकार करे ॥२२५-२२६॥

राजभागस्तु रजत शतकर्षमितो यतः ।
कर्षकाल्लभ्यते तस्मै त्रिंशांशमुत्सृजेन्नृपः ॥२२७॥

जिस भूमि से राजा को सौ रुपये भर चांदी की आमदनी हो—उसमें राजा, किसान से पैदावार का बीसवां भाग ग्रहण करे॥

स्वर्णादथच रजतात्तृतीयांशंच ताम्रतः ।
चतुर्थांशं तु षष्ठांशं लोहाद्वंगाच्चसीसकात् ॥२२८॥

यही क्रम सुवर्ण और चांदी में जानना चाहिए। ताम्र की उत्पत्ति में तृतीयांश छोड़े। चतुर्थांश या छटा भाग, लोह, वंग और सीसे की उत्पत्ति में छोड़ा जाता है ॥२२८॥

रत्नार्धं चैवक्षाराधं खनिजाद्व्ययशेषतः ।
लाभाधिक्यं कर्षकादेर्यथा दृष्ट्वा हरेत्फलम् ॥२२९॥
त्रिधावा पंचधा कृत्वा सप्तधा दशधापिवा ।
तृण काष्ठादि हरकाद्विंशत्यंशं हरेत्फलम् ॥२३०॥

रत्नों की उत्पत्ति और लवण आदि की उत्पत्ति में खान का खर्च काट कर आधा छोड़ना चाहिए। यदि कृषक को अधिक लाभ हो जावे, तो उसके अनुसार कर ग्रहण करले। उनसे तृतीयांश, पञ्चमांश, सप्तमांश या दशमांश–जैसा समुचित होकर लिया जा सकता है। तृण काष्ठ लाने वाले या उत्पन्न करने वालों से उनके मूल्य का बीसवां भाग कर में लेवे ॥२२९-२३०॥

अजाविगो महिष्यश्च वृद्धितोष्टांश माहरेत् ।
महिष्यजाविगो दुग्धात्षोडशांशं हरेन्नृपः ॥२३१॥

बकरी, भेड़, भैंस, और अश्वों की वृद्धि में से अष्टमांश ग्रहण करले। भैंस, बकरी, भेड़ और गौ के दूध में से सोलहवां भाग कर का लेवे ॥२३१॥

कारु शिल्पिगणात्पक्षे दैनिकं कर्मकारयेत् ।
तस्य वृद्धयैतडागंवा वापिकां कृत्रिमांनदीम् ॥२३२॥
कुर्वंत्यन्यांत द्विधंवाकर्षंत्यभि नवांभुवम् ।
तद्व्ययद्वि गुणंयावन्नतेभ्यो भाग माहरेत् ॥२३३॥

कारीगर, शिल्पी आदि से पन्द्रह दिन में एक दिन मुफ्त काम राजा करवाले। इसी से कारुगण की वृद्धि होगी। तड़ाग, बावड़ी नहर या इसी तरह के अन्य कार्य तथा किसी नवीन भूमि की खुदाई करने वालों से जब तक उनके खर्च से दुगुनी आमदनी हो-तब तक उनसे कोई कर राजा न लेवे ॥२३२-२३३॥

भूविभागं भृतिशुल्कं वृद्धिमुत्कोच कंकरम्।
सद्यएवहरेत्सर्वं नतुकाल विलम्बनैः ॥२३४॥

भूमि के विभाग, अपनी भृति (वृत्ति) शुल्क [महसूल] व्याज उत्कोच [रिश्वत या दस्तूरी] कर-इसको फौरन लेलेवे। इनमें समय की देरी अच्छी नहीं है ॥२३४॥

दद्यात्प्रतिकर्षकाय भागपत्रं सचिह्नितम्।
नियम्यग्राम भूभागमेकस्माद्ध निकाद्धरेत् ॥२३५॥

राजा प्रत्येक किसान को उसके कर ग्रहण की मुहर लगाकर एक रसीद देवे। ग्राम की भूमि का कर नियत करके उसपर एक चौधरी बना दे, जो सबसे कर लेकर राज्य के कोश में पहुंचावे। वह धनवान् होना चाहिए ॥२३५॥

गृहीत्वा तत्प्रतिभुवं धनं प्राक्तत्सुमन्तुना।
विभागशो गृहीत्वापि मासिमासि ऋतौऋतौ ॥२३६॥
षोडश द्वादश दशाष्टांश ततोवाधिकारिणः।
स्वांशात्षष्ठांश भागेन ग्रामपान्सन्नियोजयेत् ॥२३७॥

उस चौधरी को मानने वाला कोई प्रति प्रतिभू [जामिन] भी बना लेना चाहिए। मास मास या ऋतु ऋतु में जो विभाग करके राज्यांश का संग्रह करले। यह कर षोडश, द्वादश, दश या अष्टमांश जैसा भी उचित हो नियत करके लिया जा सकता है। राजा अपने भाग में से छटा भाग इन ग्राम पतियों को प्रदान करे॥

गवादि दुग्धान्नफलं कुटुंबार्थाद्धरेन्नृपः।
उपभोगे धान्य वस्त्रक्रेतृतोनाहरेत्फलम् ॥२३८॥

गौ आदि का दुग्ध, अन्न, फल जो केवल कुटुम्ब के खाने पीने लायक हो, उनसे राजा कर न ले तथा उपभोग के लिए अन्न वस्त्र के खरीदने वाले पर भी कोई कर न लगाया जावे ॥२३८॥

वार्धुषिकाच्च कौसीदाद्द्वात्रिंशांशंहरेन्नृपः।
गृहाद्याधारभू शुल्कं कृष्ट भूमिरिवा हरेत् ॥२३९॥

व्यापारी और व्याज लेने वाले से राजा लाभ का बत्तीसवां अंश लेवे। घर बनाने को दी हुई भूमि का कर भी खेत बोने की भूमि के समान ही ग्रहण किया जावे ॥२३९॥

तथा चापणिकेभ्यस्तुपण्य भूशुल्कमाहरेत्।
मार्गसंस्कार रक्षार्थं मार्गगेभ्यो हरेत्फलम् ॥२४०॥

बाजार के व्यापारियों पर दुकानों का टैक्स लगाया जावे। मार्ग की सफाई के लिए मार्ग में चलने वालों पर टैक्स होना चाहिए ॥२४०॥

सर्वतः फलभुग्भूत्वादास वत्स्यात्तु रक्षणे ।
इतिकोश प्रकरणं समासात्कथितं किल ॥२४१॥

राजा सबसे कर ग्रहण करके प्रजा की दास की तरह रक्षा करे। इस प्रकार हमने यह कोश प्रकरण संक्षेप में कह दिया है ॥

अथ राष्ट्र प्रकरणम्

अथमिश्रे तृतीयंतु राष्ट्रं वक्ष्ये समासतः ।
स्थावरं जंगमं वापि राष्ट्र शब्देनगीयते ॥२४२॥

अब इस मिश्र प्रकरण में राष्ट्र प्रकरण का संक्षेप में वर्णन किया जाता है। स्थावर और जंगम-ये दोनों राष्ट्र के अन्तर्गत हैं॥

यस्याधीनं भवेद्यावत्तद्राष्ट्रं तस्यवैभवेत् ।
कुबेरताशत गुणाधिका सर्वगुणात्ततः ॥२४३॥
ईशता चाधिकतरासानाल्प तपसः फलम् ।
सदीव्यति पृथिव्यांतु नान्यो देवोयतः स्मृतः ॥२४४॥
तस्याश्रितो भवेल्लोकस्तद्वदा चरति प्रजा ।
भुंक्ते राष्ट्रफलं सम्यगतो राष्ट्रकृतं त्वघम् ॥२४५॥

जितना देश जिस राजा के अधीन होता है, उतना प्रदेश उस का राष्ट्र कहाता है। सर्व गुण सम्पन्नता से कुबेरता सैंकड़ों गुण अधिक है, इससे भी अधिक राज पदवी है। यह कोई थोड़े तप

का फल नहीं है। यह पृथिवी पर आनन्द उड़ाता है, इससे अधिक अन्य कोई देवता नहीं है सारा जगत् राजा के आश्रय से ही चलता है। राजा की आज्ञानुसार ही सारी प्रजा आचरण करती है। राजा ही राष्ट्र के पुण्य और पाप के फल का भोगने वाला है ।।२४३-२४५।।

स्वस्व धर्म परोलोको यस्य राष्ट्रे प्रवर्तते ।
धर्मं नीति परो राजा चिरंकीर्तिं सचाश्नुते ।।२४६।।

जिस राजा के राज्य में, मनुष्य, अपने २ धर्म में परायण हैं। वह नीति मान् राजा, धर्म और चिरकाल तक कीर्ति को प्राप्त करता है ।।२४६।।

भूमौ यावद्यस्य कीर्तिस्तावत्स्वर्गे सतिष्ठति ।
अकीर्तिरेव नरको नान्योऽस्ति नरको दिवि ।।२४७।।

जिस की कीर्ति, भूमि पर जितने काल रहती है-वह तब तक स्वर्ग में रहता है। अकीर्ति ही नरक है, इसके सिवा अन्य कोई नरक नहीं माना गया है ।।२४७।।

नर देहाद्विना त्वन्यो देहो नरक एवसः ।
महत्पाप फलं विद्यादाधिव्याधि स्वरूपकम् ।।२४८।।

मनुष्य देह के अतिरिक्त अन्य योनि नरक मानी गई हैं। ये आधि व्याधि भी महान् पाप का फल ही समझनी चाहिए ।।२४८।।

स्वयं धर्म परो भूत्वा धर्मे संस्थापयेत्प्रजाः।
प्रमाण भूतं धर्मिष्ठमुपसर्पंत्यतः प्रजाः ॥२४६॥

राजा स्वयं धर्म परायण होकर प्रजा को धर्म में लगावे। प्रामाणिक और धर्मात्मा राजा के पास प्रजा टिक पाती है ॥२४६॥

देशधर्मा जातिधर्माः कुलधर्मा सनातनाः।
मुनि प्रोक्ताश्चयेधर्माः प्राचीना नूतनाश्चये ॥२५०॥
तेराष्ट्र गुप्त्यै संधार्याज्ञात्वा यत्नेन सन्नृपैः।
धर्म संस्थापनाद्राजा श्रियं कीर्तिं प्रविंदति ॥२५१॥

देश धर्म, जाति धर्म और सनातन कुल धर्म तथा मुनियों द्वारा कहे हुए प्राचीन और नूतन धर्म–इन सबकी राजा, राष्ट्र की रक्षा के निमित्त प्रयत्न पूर्वक रक्षा करता रहे। जो राजा धर्म की संस्थापना करता है, वह कीर्ति और लक्ष्मी को प्राप्त करता है ॥

चतुर्धाभेदिता जातिर्ब्रह्मणा कर्मभिः पुरा।
तत्तत्सांकर्य सांकर्यात्प्रतिलोमानुलोमतः ॥२५२॥
जात्यानंत्यंतु संप्राप्तं तद्वक्तुं नैव शक्यते।

ब्रह्मा जी ने कर्म के आधार पर चार प्रकार से जाति का भेद किया था। उनके संकर (मिलावट) होने तथा उनके परस्पर मिल जाने से प्रति लोम और अनुलोम के कारण अनन्त जाति भेद हो चुके, ये इतनी अनन्त जाति हो गई कि उनका वर्णन भी नहीं किया जा सकता है ॥२५२॥

मन्यंते जातिभेदं ये मनुष्याणां तु जन्मना ॥२५३॥
तएवहि विजानंति पार्थक्यं नाम कर्मभिः ।
जरायुजांडजाः स्वेदोद्भिज्जाजातिसु संग्रहात् ॥२५४॥

जो मनुष्यों में जाति भेद जन्म से मानते हैं, वे भी इस जन्म भेद को पूर्व जन्म के कर्म के आधार पर ही मानते हैं। जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज इस तरह चार प्रकार की जीवों की जाति मानी गई है ॥२५३-२५४॥

उत्तमो नीच संसर्गाद्भवेन्नीचस्तु जन्मना ।
नीचो भवेन्नोत्तमस्तु संसर्गाद्वापि जन्मना ॥२५५॥

जन्म से उत्तम मनुष्य भी नीच के संसर्ग से नीच हो जाता है। जो जन्म से नीच है, वह संसर्ग से भी उच्च नही बन सकता है ॥२५५॥

कर्मणोत्तम नीचत्वं कालतस्तु भवेद्गुणैः ।
विद्याकलाश्रयेणैव तन्नानाजाति रुच्यते ॥२५६॥

मनुष्य अपने गुणों के द्वारा कालान्तर में अपने कर्मों से और नीच होता है। विद्या और कला के आश्रय से भी अनेक जातियों की कल्पना हो गई है ॥२५६॥

इज्याध्ययनदानानि कर्माणितुद्विजन्मनाम् ।
प्रति ग्रहोध्यापनंच याजनं ब्राह्मणेधिकम् ॥२५७॥

ब्राह्मणों के यज्ञ, अध्ययन और दान-ये कर्म हैं। प्रति ग्रह, अध्यापन और यज्ञ कराना-ये जीविका के निमित्त ब्राह्मण के विशिष्ट कर्म बताए गए हैं ॥२५७॥

सद्रक्षणं दुष्टनाशः स्वांशादानं तु क्षत्रिये।
कृषिगो गुप्ति वाणिज्यमधिकंतु विशांस्मृतम् ॥२५८॥
दानंसेवैव शूद्रादेर्नीचकर्म प्रकीर्तितम्।
क्रियाभेदैस्तु सर्वेषां भृति वृत्तिर निंदिताम् ॥२५६॥

सज्जनों की रक्षा, दुष्टों का नाश, अपने कर का ग्रहण यह क्षत्रिय का कर्म है। खेती, गौ रक्षा तथा वाणिज्य ये वैश्य के निर्वाह के कर्म हैं। दान और सेवा करना शूद्र का काम है। यह साधारण कर्म माना गया है। अनेक क्रियाओं के भेद से सबके भरण पोषण की वृति अनिन्दित मानी गई है २५८-२५६॥

सीर भेदैः कृषिः प्रोक्ता मान्वद्यै ब्राह्मणादिषु।
ब्राह्मणैः षोडश गवांचतुरूनं यथा परैः ॥२६०॥

हल के भेद से ब्राह्मण आदि चारों वर्णों में कृषि का विधान है यह विधान मनु आदि ऋषियों का किया हुआ है। ब्राह्मण सोलह बैल और अन्य वर्ण के लोग बारह बैल रख सकते हैं॥

द्विगवांवांत्यजैः सीरं दृष्टवा भूमार्दवं तथा।
ब्राह्मणेन विनान्येषां भिक्षावृत्ति विगर्हिता ॥२६१॥

अन्त्यज दो बैल रख सकता है। यह पृथिवी की कोमलता को देखकर रखना चाहिए। यदि कठिन भूमि हो तो बैल

ईश्वर है और न कोई उसका ज्ञान वेद हो, यह नास्तिक मत होता है ॥ २६५ ॥

श्रुति स्मृत्य विरोधेन राजवृत्तिं हि शासनम् ॥२६६॥
सुयुक्त्यार्थार्जनं यत्र ह्यर्थ शास्त्रं तदुच्यते ।

श्रुति और स्मृति के अनुकूल, जिसमें राजनीति का वर्णन हो तथा धर्म और युक्ति पूर्वक अर्थोपार्जन के नियम बताए-हों, वह अर्थशास्त्र होता है ॥ २६६ ॥

शशादि भेदतः पुंसामनुकूलादि भेदतः ॥२६७॥
पद्मिन्यादि प्रभेदेन स्त्रीणां स्वीयादि भेदतः ।
तत्कामशास्त्रं सत्वादि लक्ष्मयत्रास्तिचोभयोः २६८॥

शश या अनुकूल नायक आदि के भेद से पुरुषों का और पद्मिनी आदि तथा स्वीया परकीया आदि भेद से नायिकाओं का वर्णन-किया गया हो, वह काम शास्त्र होता है। इसीमें दोनों स्त्री पुरुष के सत्व (बल) का भी वर्णन किया गया है ॥२६७-२६८ ॥

प्रासाद प्रतिमा रामगृह वाप्यादि सत्कृतिः ।
कथिता यत्र तच्छिल्प शास्त्रमुक्तं महर्षिभिः ॥२६९॥

प्रासाद (महल) मूर्ति, बगीचा, घर, बावड़ी आदि अच्छी तरह बनाने की विधि हो-महर्षियों ने उस शास्त्र को शिल्प-शास्त्र कहा है ॥ २६९ ॥

सम न्यूनाधिकत्वेन सारूप्यादि प्रभेदतः ।
अन्योन्य गुण भूषादि वर्ण्यतेलंकृतिश्चसाः ॥३००॥

सम, न्यून और अधिक भेद तथा रूपकादि भेद से शब्द और अर्थ आदि की शोभा बढ़ाई गई हो—वह अलङ्कार शास्त्र होता है ॥ ३०० ॥

सरसालंकृतादुष्ट शब्दार्थं काव्य मेवतत् ।
विलक्षण चमत्कार बीजं पद्यादि भेदतः ॥३०१॥

सरस, अलङ्कार संयुक्त, अदुष्ट शब्दार्थ काव्य होता है । इसमें पद्यों के द्वारा विलक्षण चमत्कार का बीज रहता है ॥ ३०१ ॥

लोक संकेततोर्थानां सुग्रहावाक्तुदेशिकी ।
विना कौशिक शास्त्रीय संकेतैः कार्य साधिका ३०२॥

लोक के संकेतो (कहावत) के साथ अर्थों की जो समझाने की पद्धति है, वह देशिकी कहाती है । यह विना कोश की सहायता के संकेतों द्वारा अपना अर्थ प्रकाशित कर देती है ॥ ३०२ ॥

यथा कालोचिता वाग्यावसरोक्तिश्च सास्मृता ।
ईश्वरः कारणं यत्रा दृश्योस्ति जगतः सदा ॥३०३॥
श्रुति स्मृती विनाधर्माधर्मौस्तस्तच्च यावनम् ।
श्रुत्यादि भिन्न धर्मोस्ति यत्र तद्यावनं मतम् ॥३०४॥

समय के अनुसार जो सुभाषित का प्रयोग किया जावे, यह अवसरोक्ति कहाती है । जिसमें जगत् का कारण ईश्वर सर्वदा अदृश्य

मीमांसा, न्याय, वैशेषिक सांख्य, वेदान्त, और योग—इतिहास, पुराण, स्मृति, नास्तिकों के मत, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र, अलङ्कार शास्त्र, काव्यशास्त्र, देश भाषा, अवसर की उक्ति, यवनों का मत, देश आदि के बत्तीस धर्म—ये सब विद्या कहाती हैं। ऋक् आदिकों में मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद माना है॥ २६६-२७१॥

जप होमार्चनं यस्य देवता प्रीतिदं भवेत्।
उच्चारान्मन्त्र संज्ञं तद्विनियोगि च ब्राह्मणम् ॥२७२॥

जप, होम, अर्चना, देवता की प्रीति का उत्पादक और उच्चारण के योग्य जो हों—उसे मन्त्र कहते हैं और उसका विनियोग बताने वाला ब्राह्मण होता है॥ २७२॥

ऋग्रूपायत्रये मन्त्राः पादशोर्धर्वशोपिवा।
येषां हौत्रंस ऋग्भागः समाख्यानं च यत्र वा ॥२७३॥

स्तुति परक जो मन्त्र होते हैं, वे पाद के रूप में हो या आधी-ऋचा के रूप में हो, वह ऋग्वेद कहाता है। इसमें समाख्यान भी होता है॥ २७३॥

प्रश्लिष्ट पठिता मंत्रा वृत्त गीत विवर्जिताः।
आध्वर्यवं यत्र कर्म त्रिगुणं यत्र पाठनम् ॥२७४॥
मन्त्र ब्राह्मणयोरेव यजुर्वेदः स उच्यते।

जिसमें मन्त्र खोलकर पृथक् २ पढ़े जाते हों, छन्द और गाने से रहित, तथा जिसमें अध्वयु के कर्म का निर्देष हो, वह मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद यजुर्वेद कहाता है॥ २७४॥

उद्गीथं यस्य शस्त्रादेर्यज्ञे तत्साम संज्ञकम् ॥२७५॥
अथर्वांगिरसो नाम ह्यु पास्यो पासनात्मकः ।
इति वेद चतुष्कं तु ह्युद्दिष्टं च समासतः ॥२७६॥

यज्ञ में स्तुतियों के गान किए जाने वाले मन्त्रों को सामवेद कहते हैं । उपास्य उपासनात्मक वेद अथर्व वेद कहाता है । इस प्रकार चारों वेदों का संक्षेप में वर्णन किया गया है ॥२७५-२७६॥

विंदत्यायुर्वेत्ति सम्यगाकृत्यौषधि हेतुतः ।
यस्मिन्नृग्वेदोपवेदः सचायुर्वेद संज्ञकः ॥२७७॥

जिसमें रोगी की आकृति, औषध, और हेतुओं से आयु की प्राप्ति या आयु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जो ऋग्वेद का उपवेद है-वह आयुर्वेद कहाता है ॥ २७७ ॥

युद्ध शस्त्रास्त्र कुशलोरचना कुशलो भवेत् ।
यजुर्वेदोपवेदोयं धनुर्वेदस्तु येनसः ॥२७८॥

युद्ध. शस्त्र, और अस्त्र के चलाने की कुशलता सिखाने वाला, शस्त्रास्त्र के बनाने की विधि बताने वाला, यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद होता है ॥ २७८ ॥

स्वरैरुदात्तादि धर्मैस्तंत्री कंठोत्थितैः सदा ।
सतालैर्गान विज्ञानं गांधर्वो वेद एवसः ॥२७९॥

उदात्तादि स्वरों से संयुक्त, वीणा आदि बाजों के बजाने की विधि-बताने वाला, कण्ठ स्वर के प्रकारों का सूचक, ताल के

साथ गान का विज्ञान रखने बाला सामवेद का उपवेद गान्धर्व वेद होता है ॥ २७६ ॥

विविधोपास्य मन्त्राणां प्रयोगास्तु विभेदतः ।
कथिताः सोपसंहारास्तद्धर्म नियमैश्च षट् ॥२८०॥
अथर्वणांचोपवेदस्तन्त्र रूपः स एवहि ॥

अनेक उपासनाओं के मन्त्रों का विभाग के साथ जिसमें प्रयोग हो, धर्म के नियमों के साथ छःओं प्रकार के उपसंहार कहे हों, वह अथर्व वेद का उपवेद तन्त्र वेद होता है ॥ २८० ॥

स्वरतः कालतः स्थानात्प्रयत्नानु प्रदानतः ॥२८१॥
सवनाद्यैश्च साशिक्षा वर्णानां पाठ शिक्षणात्

जिसमें स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न आदि के ध्यान से तथा प्रातः सवन, सायं सवनादि की शिक्षा से युक्त जो वर्णों की शिक्षा है-यह शिक्षा कहाती है ॥ २८१ ॥

प्रयोगो यत्र यज्ञानामुक्तो ब्राह्मण शेषतः ॥२८२॥
श्रौतकल्पः सविज्ञेयः स्मार्त कल्पस्तथेतरः ।

जिसमें ब्राह्मण द्वारा यज्ञों के मन्त्रों का विनियोग बताया गया हो, वह श्रौतकल्प होता है और जिसमें गृहस्थ धर्म बताए हों-वह स्मार्त कल्प होता है ॥ २८२ ॥

व्याकृतः प्रत्ययाद्यैश्च धातु संधि समासतः ॥२८३॥
शब्दापशब्दा व्याकरणं एकद्वि बहु लिंगतः ।

जिसमें धातु और प्रत्यय का वर्णन, धातु सन्धि और समास का निर्देश, शब्द अपशब्दों का विवेचन हो, वह व्याकरण कहाता

है। जिसमें एक द्वि और बहु वचन का विधान लिङ्गानुसार हो, वह व्याकरण कहाता है॥ २८३॥

शब्द निर्वचनं यत्र वाक्यार्थैकार्थ संग्रहः ॥२८४॥
निरुक्तं तत्समाख्यानाद्वेदांगं श्रौत संज्ञकम् ।

जिसमें शब्दों का निर्वाचन, वाक्यार्थ और पदार्थ का संग्रह धातु प्रत्यय के साथ—निरुक्ति वह श्रौत संज्ञक वेदाङ्ग—होता है। इसीको निरुक्त कहा जाता है॥ २८४॥

नक्षत्र ग्रह गमनैः कालोयेन विधीयते ॥२८५॥
संहिताभिश्च होराभि र्गणितंज्यौतिषं हितत् ।

जिसमें नक्षत्र और ग्रहों की गति से काल का ज्ञान बताया हो, संहिता और होरा के अनुसार गणित किया गया हो, वह ज्योतिष नामक वेदाङ्ग है॥ २८५॥

म्यरस्तजभ्नगैर्लांतैः पद्यान्यत्र प्रमाणतः ॥२८६॥
कल्पांतेछंदः शास्त्रं तद्वेदानां पाद रूप धृक् ।

जिस ग्रन्थ में भगण, यगणादि द्वारा लघु गुरु वर्णों के अनुसार पद्य का प्रमाण निश्चित किया गया है, वह वेदों के पादों का रूप बनाने वाला, कल्प के पीछे छन्द शास्त्र वेदाङ्ग माना गया है॥ २८६॥

यत्र व्यवस्थिताचार्थ कल्पना विधि भेदतः ॥२८७॥
मीमांसा वेदवाक्यानां सैवन्यायश्च कीर्तितः ।

भावाभाव पदार्थानां प्रत्यक्षादि प्रमाणतः ॥२८८॥
सविवेको यत्र तर्कः कणादादि मतं च यत् ।

याज्ञिक विधि के अनुसार जिसमें वेद के तत्व की विवेचना की गई हो, वही वेद वाक्यों की संगति—लगाने वाला मीमांसा शास्त्र होता है। भाव और अभाव पदर्थों का जिसमें प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से विवेनच किया गया हो वह तर्क है, यही न्याय कहाता है । इसीमें कणाद का वैशेषिक दर्शन आ जाता है ॥ २८७-२८८ ॥

पुरुषोष्टौ प्रकृतयो विकाराः षोडशेतिच ॥२८९॥
तत्त्वादि संख्यावैशिष्ट्यात्सांख्य मित्यभिधीयते ।

जिसमें पुरुष, आठ प्रकृति, सोलह विकार हों तथा तत्वों की संख्या की हो, उसे सांख्य शास्त्र कहते हैं ॥ २८९ ॥

ब्रह्मैकमद्वितीयंस्यान्नानानेहास्ति किंचन ॥२९०॥
मायिकं सर्वमज्ञानाद्भाति वेदांतिनां मतम् ।

ब्रह्म ही एक अद्वितीय है, अन्य कुछ भी पदार्थ सत्य नहीं है। यह सारा जगत् मायिक है, जो अज्ञान से प्रतीत हो रहा है ऐसा वेदान्तियों का मत है ॥ २९० ॥

चित्त वृत्ति निरोधस्तु प्राण संयमनादिभिः ॥२९१॥
तद्योगशास्त्रं विज्ञेयं यस्मिन्ध्यान समाधितः ।

प्राणायाम आदि के द्वारा जो चित्त वृत्ति का निरोध किया जाता है। इसके वर्णन करने वाला, योग शास्त्र होता है, जिसमें ध्यान और समाधि का उल्लेख है ॥ २६१ ॥

प्राग्वृत्त कथनं चैकराज कृत्यमिषादितः ॥२६२॥
यस्मिन्स इतिहासः स्यात्पुरावृत्तः स एवहि ।

राजा के कर्मों के साथ जिसमें प्राचीन काल के वृत्तान्तों का उल्लेख हो, वह इतिहास या पुराण कहाता है ॥ २६२ ॥

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वंतराणि च ॥२६३॥
वंशानुचरितं यस्मिन्पुराणं तद्धि कीर्तितम् ।

सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर, वंशों के चरित, जिसमें कहे हों-वह पुराण होता है ॥ २६३ ॥

वर्णादि धर्म स्मरणं यत्र वेदाविरोधकम् ॥२६४॥
कीर्तनंचार्थ शास्त्राणां स्मृतिः साच प्रकीर्तिता ।

जिसमें वेदानुकूल वर्णों के धर्मों का स्मरण वर्णन हो तथा मनुष्यों का व्यवहार—नीति का विवेचन हो-वह स्मृति कहाती है ॥ २६४ ॥

युक्तिर्बलीयसी यत्र सर्वं स्वाभाविकं मतम् ॥२६५॥
कस्यापिनेश्वरः कर्तानवेदो नास्तिकं मतम् ।

जिसमें सब से अधिक युक्ति बलवान् मानी जाती हो, यह सब कुछ स्वभाव से हो रहा है। न कोई इस सृष्टि का कर्ता

बढ़ाए जा सकते हैं। ब्राह्मण को छोड़ कर अन्य के लिए भिक्षा वृत्ति का निषेध किया गया है ॥२६१॥

तपोविशेषैर्विविधैव्रतैश्चविधि चोदितैः।

वेदः कृत्स्नोधि गंतव्यः सरहस्योद्विजन्मना ॥२६२॥

ब्राह्मण अनेक प्रकार के तप और व्रत का आश्रय लेकर विधिपूर्वक सारे वेद को रहस्य के साथ पढ़े ॥२६२॥

योधीत विद्यः सकलः ससर्वेषां गुरुर्भवेत्।

न च जात्यानधीतो यो गुरुर्भवितु मर्हति ॥२६३॥

जिसने सारी विद्या को पढ़ लिया है, वह सबका गुरु होता है। जो पढ़ा नहीं है, वह केवल जाति से गुरु होने का अधिकारी नहीं है ॥ २६३ ॥

विद्याह्यनंताश्च कलाः संख्यातुं नैव शक्यते।

विद्या मुख्याश्च द्वात्रिंशच्चतुः षष्टिकलाः स्मृताः ॥२६४

विद्या और कला, अनन्त हैं उनकी संख्या नहीं हो सकती है मुख्य रूप से बत्तीस विद्या—और चौसठ कला होती हैं ॥ २६४ ॥

यद्यत्स्याद्वाचिकं सम्यक्कर्म विद्याभि संज्ञकम्।

शक्तो मूकोपि यत्कर्तुं कला संज्ञंतु तत्स्मृतम् ॥२६५॥

जिस कर्म का वाणी द्वारा सम्पादन किया जावे, वह विद्या कहाती है, और जिसको गूंगा भी करले-वह हाथ का काम कला होती है ॥ २६५ ॥

उक्तं संक्षेपतो लक्ष्मविशिष्टं पृथगुच्यते ।
विद्यानांच कलानांच नामानितु पृथक्पृथक् ॥२६६॥

यहाँ तक संक्षेप में लक्षण कहे हैं। अब पृथक् २ रूप में विशेषता से लक्षण कहे जाते हैं। प्रथम विद्या और कलाओं के पृथक् २ नामों का उल्लेख किया जाता है ॥ २६६ ॥

ऋग्यजुः सामचाथर्वा वेदा आयुर्धनुः क्रमात् ।
गांधर्वश्चैव तंत्राणि उपवेदाः प्रकीर्तिताः ॥६७॥

ऋक्, यजु, साम और अथर्व—ये चार वेद हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्व वेद और तन्त्र—ये चार उपवेद कहाते हैं ॥ २६७ ॥

शिक्षा व्याकरणं कल्पो निरुक्तं ज्योतिषं तथा ।
छंदः षडंगानीमानि वेदानां कीर्तिता निहि ॥२२८॥

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द—ये वेद वेदांग माने गये हैं ॥ २६८ ॥

मीमांसा तर्क सांख्यानि वेदांतो योग एवच ।
इतिहासाः पुराणानि स्मृतयो नास्तिकं मतम् ॥२६९॥
अर्थशास्त्रं कामशास्त्रं तथा शिल्पमलंकृतिः ।
काव्यानिदेशभाषा व सरोक्तिर्यावनं मतम् ॥२७०॥
देशादि धर्माद्वात्रिंश देताविद्याभि संज्ञिताः ।
मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेद नाम प्रोक्त मृगादिषु ॥२७१॥

माना गया है। श्रुति और स्मृति के विना जिसमें धर्म और अधर्म की व्यवस्था की गई है, वह यवनों (यूनानियों) का मत है। जिसमें श्रुति धर्म का विरोध हो वही यवन मत कहाता है॥ ३०३-३०४ ॥

कल्पित श्रुति मूलोवा मूलेलोकैर्धृतः सदा।
देशादि धर्मः सज्ञेयो देशे देशे कुले कुले ॥३०५॥

जो धर्म चाहे–कल्पित किया हो, या श्रुति के अनुसार हो, लोगों ने जिस परिपाटी को सही मान लिया हो—वह देश धर्म होता है। यह प्रत्येक देश में और कुल में–भिन्न २ होता है।३०५।

पृथक्पृथक्तु विद्यानां लक्षणं सं प्रकाशितम्।
कलानांन पृथङ्नामलक्ष्मचास्तीह केवलम् ॥३०६॥

इस प्रकार विद्याओं का पृथक् २ लक्षण बताया गया। कलाओं के पृथक् २ नाम नहीं दिए गए–केवल उनका लक्षण कर दिया गया है॥ ३०६ ॥

पृथक्पृथक् क्रियाभिर्हि कलाभेदस्तु जायते।
यांयां कलां समाश्रित्य तन्नाम्ना जाति रुच्यते ३०७॥

भिन्न २ कारीगरी से कलाओं के भेद हो जाते हैं। जिस २ कला (कारीगरी) का आश्रय लेकर लोग चल पड़े, वही आज कल जाति कहलाने लगी॥ ३०७ ॥

हाव भावादि संयुक्तं नर्तनंतु कला स्मृता।
अनेक वाद्य विकृतौ ज्ञानं तद्वादने कला ॥३०८॥

अनेक रूपाविर्भावं कृति ज्ञानं कला स्मृता ।
वस्त्रालंकार संधानं स्त्रीपुंसोश्च कलास्मृता ॥३०६॥

हाव भाव के साथ जिस कला का सम्पर्क हो–वह नर्तन कला कहाती है । अनेक बाजे बजाने की कला वादन कला कहाती है अनेक रूपों के बनाने की कारीगरी का ज्ञान, रूप कला कहाती है । वस्त्र और अलङ्कार धारण करने की प्रक्रिया को भी लोग कला ही कहते हैं ॥३०८-३०६॥

शय्यास्तरण संयोगे पुष्पादि ग्रथनं कला ।
द्यूताद्यनेक क्रीडाभीरंजनंतु कलास्मृता ॥३१०॥

शय्या के बिछाने पर उसमें पुष्पों का चुन कर लगाना भी एक कला है । द्यूत आदि अनेक क्रीड़ाओं से मनोरञ्जन कराना भी कला होती है ॥३१०॥

अनेकासन संधानैरतेर्ज्ञानं कला स्मृता ।
कला सप्तकमेतद्धि गांधर्वे समुदाहृतम् ॥३११॥

अनेक आसनों से रति करने कराने का ज्ञान भी काम कला कहाता है । ये सात कला गान्धर्व (गान विद्या) वेद के अन्तर्गत ही हैं ॥३११॥

मकरंदासवादीनां मद्यादीनां कृतिः कला ।
सन्य मूढाहृतौ ज्ञानं शिरा व्रणव्यधे कला ॥३१२॥

मकरन्द, आसव और मद्य आदि के खैंचने बनाने की विधि भी एक कला है। भीतर छुपे हुए बाण को निकालना, शिरा और व्रणों के बंधन को भी कला ही माना है ॥३१२॥

हीनाधि रस संयोगान्नादिसं पाचनं कला।
वृक्षादि प्रसवारोपपालनादि कृतिः कला ॥३१३॥

थोड़े या अधिक जल के प्रदान से अन्न पकाने तथा वृक्षों पर दूसरे वृक्षों की कलम चढ़ाने की कृति को भी कला कहते हैं॥

पाषाणादि द्रुतिर्धातोस्तद्भस्मकरणे कला।
यावदिक्षु विकाराणां कृतिज्ञानं कलास्मृता ॥३१४॥

पाषाण या धातुओं का गलाना और उनकी भस्म करना भी कला है और ईख से गुड़ खांड बना लेना भी कला ही है ॥३१४॥

धात्वौषधीनां संयोग क्रियाज्ञानं कलास्मृता।
धातुसांकर्य पार्थक्य करणंतु कलास्मृता ॥३१५॥

धातु और औषधों के संयोग की विधि का ज्ञान भी एक कला है। मिले हुए धातुओं को पृथक् २ कर देना भी कला है॥

संयोगा पूर्वविज्ञानं धात्वादीनां कलास्मृता।
क्षार निष्कासनज्ञानं कलासंज्ञं तु तत्स्मृतम् ॥३१६॥

इस औषध में कौन २ धातुओं का संयोग है–यह जानना भी कला है। तथा औषधियों का क्षार निकालना भी एक प्रकार की कला है। ये दश कला आयुर्वेद के अन्तर्गत हैं॥ ३१६ ॥

कला दशकमेतद्धिह्यायुर्वेदागमेषुच ।

शस्त्र संधान विक्षेपः पदादिन्यासतः कला ॥३१७॥

संध्या घाताकृष्टि भेदैर्मल्लयुद्धं कलास्मृता ।

कलाभिर्लक्षिते देशेयन्त्राद्यस्त्रं निपातनम् ॥३१८॥

शस्त्रों का संधान (चढ़ाना) करना और पैर की ठोकर से चला देना–भी एक कला है। सन्धि, आघात और आकर्षण के भेद से होने वाला मल्ल युद्ध भी कला के अन्तर्गत ही है। अपनी कारीगरी से लक्ष्य को देखकर उस पर किसी यन्त्र से अस्त्र फेंकने को भी कला माना है ॥३१७-३१८॥

वाद्य संकेततो व्यूह रचनादि कलास्मृता ।

गजाश्वरथ गत्यादि युद्ध संयोजनं कला ॥३१९॥

कला पञ्चकमेतद्धि धनुर्वेदागमेऽस्थितम् ।

वाद्य के संकेत से सेना का व्यूह बना लेना भी कला है। गज, अश्व और रथों की गति के अनुसार युद्ध का योजन करना भी कला कहाता है–ये पांच प्रकार की कला धनुर्वेद के अन्तर्गत मानी गई है ॥३१९॥

विविधासन मुद्राभि र्देवता तोषणं कला ॥३२०॥

सारथ्यं च गजाश्वादेर्गति शिक्षा कलास्मृता ।

अनेक आसन और मुद्राओं से देवता आराधन का प्रकार बताना या देवता को प्रसन्न करना भी कला है। गजों का महावत और अश्वों का सारथि बनाना भी एक कला है ॥३२ ॥

मृत्तिका काष्ठ पाषाण धातु भांडादि सत्क्रिया ॥३२१॥

पृथक्कला चतुष्कंतु चित्राद्या लेखनं कला ।

तडाग वापी प्रासाद सम भूमि क्रिया कला ॥३२२॥

मृत्तिका, काष्ठ, पाषाण, धातु इनके अच्छे अच्छे वर्तन बनाना भी कला है । ये चार कला पृथक् हैं-इनसे भिन्न चित्र कला होती है। तड़ाग, वापी, प्रासाद (महल) के लिए समभूमि करना भी कला कहाती है ॥३२१-३२२॥

घटयाद्यनेक यंत्राणां वाद्यानांतु कृतिःकला ।

हीन मध्यादि संयोग वर्णाद्यै रञ्जनं कला ॥३२३॥

घटी (घड़ी) आदि के अनेक यन्त्र और बाजे बजाने की विद्या को भी कला कहते हैं। हीन, मध्य, आदि रंगों के संयोग करके वस्त्र रंगना भी रञ्जन कला कहाती है ॥३२३॥

जल वाय्वग्नि संयोगनिरोधैश्च क्रियाकला ।

नौका रथादि यानानां कृतिज्ञानं कलास्मृता ॥३२४॥

जल, वायु और अग्नि के संयोग एवं निरोध को कला कहते हैं। नौका रथ आदि यानों के बनाने की विधि के ज्ञान को भी कला कहा है ॥ ३२४ ॥

सूत्रादि रज्जु करणं विज्ञानंतु कलास्मृता ।
अनेकतंतु संयोगैः पटबंधः कलास्मृता ॥३२५॥

सूत की उत्तम रस्सी बट देना भी तो कला-ही है। अनेक तन्तुओं को एक चित करके वस्त्र रचना करना भी तो कला ही है ॥ ३२५ ॥

वेधादि सद सज्ज्ञानं रत्नानांच कलास्मृता ।
स्वर्णादिनांतु याथात्म्य विज्ञानंच कलास्मृता ॥३२६॥

रत्नों को बींधने और उनके अच्छे बुरे की पहचान कर लेने के ज्ञान को भी कला कहा गया है। सुवर्ण का ठीक२ पहचान लेना भी कला है॥ ३२६ ॥

कृत्रिम स्वर्ण रत्नादि क्रियाज्ञानं कलास्मृता ।
स्वर्णाद्यलंकार कृतिः कलालेपादि सत्कृतिः ॥३२७॥

बनावटी रत्न और सुवर्ण का जानना, कला का फल है। सुवर्ण से भूषण बनाना या लेप (मुलम्मा) करना-भी उत्तम कला में है ॥ ३२७ ॥

मार्दवादि क्रियाज्ञानं चर्मणांतु कलास्मृता ।
पशु चर्मांगनिर्हार क्रियाज्ञानं कलास्मृता । ३२८॥

चर्म के कोमलतादि के ज्ञान को भी कला कहते हैं। पशु के शरीर से चमड़े के उधड़ने की भी कारीगरी (कला) ही है।३२८॥

दुग्ध दोहादि विज्ञाने घृतांतंतु कलास्मृता ।
सीवनं कंचुकादीनां विज्ञानंहि कलात्मकम् ॥३२९॥

दुग्ध के दोहन और घृत के निकालने के ज्ञान को भी कला माना है। कंचुक (आंगी) आदि का सी लेना भी स्त्रियों की कला है ॥ ३२९ ॥

बाह्वादिभिश्च तरणं कलासंज्ञं जलेस्मृतम् ।
मार्जनं गृह भांडादेर्विज्ञानंतु कलास्मृता ॥३३०॥

बाहुओं से जल में तैरना भी कला है। घर के वर्तनों का मांजना भी कला ही है ॥ ३३० ॥

वस्त्र संमार्जनं चैव क्षुर कर्मकले ह्युभे ।
तिल मांसादि स्नेहानां कलानिष्कासने कृतिः ३३१॥

वस्त्र धोना और क्षौर बनाना—ये दोनों कला ही मानी गई हैं। तिल और मांस आदि का तेल निकालना भी कला है॥३३१॥

सीराद्या कर्षण ज्ञानं वृक्षाद्यारोहणं कला ।
मनोनुकूल सेवायाः कृतिज्ञानं कलास्मृता ॥३३२॥

हल चलाना और वृक्ष लगाना कला के ही अन्तर्गत है। स्वामी के मन के अनुकूल सेवा कर देने के ज्ञान को भी कला कहते हैं॥ ३३२ ॥

वेणु तृणादि पात्राणां कृतिज्ञानं कलास्मृता ।
काच पात्रादि करण विज्ञानंतु कलास्मृता ॥३३३॥

बाँस तृण आदि की पिटारी बनाना कला है कांच के बर्तन बनाना भी कला माना गया है ॥ ३३३ ॥

संसेचनं संहरणं जलानांतु कलास्मृता ।

लोहाभिसार शस्त्रास्त्र कृतिज्ञानं कलास्मृता ॥३३४॥

जलों से सींचने और उसको आवश्यकतानुसार लेकर फिर निकाल देने की क्रिया को भी कला माना है। लोहे और अभिसार (खेड़ी) के शस्त्रास्त्र बनाना भी कला है ॥ ३३४ ॥

गजाश्व वृषभोष्ट्राणां पल्याणादि क्रियाकला ।

शिशोः संरक्षणेज्ञानं धारणे क्रीडने कले ॥३३५॥

गज, अश्व, ऊँट, वृषभ—इन पर हौदे जीन आदि लगाना भी—कला है। बच्चे को रखने, गोद में लेने और खिलाने का ज्ञान भी कला है ॥ ३३५ ॥

सुयुक्त ताडन ज्ञानमपराधिजने कला ।

नाना देशीय वर्णानां सुसम्यग्लेखने कला ॥३३६॥

अपराधियों के ठीक २ बेंत लगाना भी तो कला ही है। अनेक देशों के भिन्न भिन्न अक्षरों को ठीक ठीक लिख देना भी तो कला ही है ॥ ३३६ ॥

तांबूल रक्षादि कृति विज्ञानं तु कलास्मृता।

आदानमाशु कारित्वं प्रतिदानं चिरक्रिया ॥३३७॥

कला सुद्वौगुणौज्ञेयो द्वेकले परिकीर्तिते ।

चतुः षष्टि कलाह्येताः संक्षेपण निदर्शिताः ॥३३८॥

यां यां कला समाश्रित्यतां तां कुर्यात्स एवहि ।

यानों की रक्षा करने की विधि को भी कला (चतुराई) कहते हैं। लेने में शीघ्रता करना, और देने में देर करना ये कला के दो गुण माने गये हैं। ये दोनों कला ही हैं। ये चौसठ कला संक्षेप में कही हैं। जो मनुष्य, जिस कला का आश्रय ले, वह उसको अच्छी तरह करता रहे ॥ ३३७३३८ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिः क्रमात् ॥३३९॥

चत्वार आश्रमाश्चैते ब्राह्मणस्य सदैवहि ।

अन्येषामंत्यहीनाश्च क्षत्र विट् शूद्र कर्मणाम् ॥३४०॥

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास–ये चार आश्रम माने गए हैं। इनके धारण करने का ब्राह्मण को सदैव अधिकार है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को तीन आश्रमों का विधान है, उनको संन्यास का अधिकार नहीं है ॥३३९-३४०॥

विद्यार्थं ब्रह्मचारीस्यात्सर्वेषां पालने गृही ।

वानप्रस्थः संदमने संन्यासी मोक्ष साधने ॥३४१॥

ब्रह्मचारी विद्या के प्राप्त करने को ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करे सबके पालने के ध्यान से मनुष्य, गृही बने। अपनी इन्द्रियों के

विजय के लिए वान-प्रस्थ और मोक्ष साधन के निमित्त संन्यासी होवे ॥३४१॥

वर्तयंत्यन्यथा दंडयाया वर्णाश्रम जातयः ।
जपस्तपस्तीर्थ सेवा प्रव्रज्या मंत्र साधनम् ॥३४२॥

जप, तप, तीर्थ-सेवा, संन्यास और मन्त्र साधनको जो पूर्वोक्त आज्ञा के विपरीत करता है, उसको राजा को दण्ड देना चाहिए ॥ ३४२ ॥

यदि राज्ञोपेक्षिता निदण्डतोऽशिक्षितानि च ।
कुलान्य कुलतां यांति ह्यकुलानि कुलीनताम् ॥३४३॥

यदि राजा, प्रजा की उपेक्षा करे और दण्ड द्वारा उनको शिक्षा न देवे-तो कुल दुष्कुल हो जावे । और दुष्कुल कुलीनता का ढोंग मारने लगे ॥३४३॥

देवपूजां नैव कुर्यात्स्त्रीशूद्रस्तु पतिंविना ।
नविद्यते पृथक्स्त्रीणां त्रिवर्ग विधि साधनम् ॥३४४॥

शूद्र और स्त्री अपने स्वामी की आज्ञा के विना देवपूजा न करे। अपने स्वामी की सेवा के सिवा स्त्री और शूद्र को धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि का अन्य उपाय नहीं माना गया है ॥३४४॥

पत्युः पूर्वं समुत्थाय देह शुद्धिं विधायच ।
उत्थाप्य शयनीयानि कृत्वा वेश्म विशोधनम् ३४५॥

स्त्री पति से पूर्व उठे और शौच आदि करके अपने देह की शुद्धि करलेना फिर वह शय्या के विस्तर उठाकर घर का मार्जन करे ॥३४५॥

मार्जनैर्लेपनैः प्राप्य सानलंयव साङ्गणम् ।
शोधयेद्यज्ञ पात्राणि स्निग्धान्युष्णेन वारिणा ॥३४६॥

इसके बाद वह मार्जन और लेपन करके अग्नि शाला को दिव्य बनादे । इसके बाद उष्ण जल से चिकने यज्ञ पात्रों को धो देवे ॥३४६॥

प्रोक्षणीयानि तान्येव यथास्थानं प्रकल्पयेत् ।
शोधयित्वातु पात्राणि पूरयित्वातु धारयेत् ॥३४७॥

जब वे पात्र धो लिए गए-तो उनको यथा स्थान पर लगा देवे । फिर अन्य कलश आदि पात्रों की शुद्धि करके स्त्री उनमें जल भर के रखदे ॥३४७॥

महानसस्थ पात्राणि हिः प्रक्षाल्य सर्वशः ।
मृद्भिस्तु शोधयेच्चुल्लीं तत्राग्निं सेंधनं न्यसेत् ॥

महानस (रसोई) के पात्रों को भी बाहर निकाल कर मांजे धोवे । और चूल्हें को साफ करके उसमें आग जला दे ॥३४८॥

स्मृत्वा नियोग पात्राणि रसान्न द्रविणानिच ।
कृत पूर्वाह्ण कार्य्येयं श्वशुरावभिवादयेत् ॥३४९॥

यज्ञ में काम आने वाले, पात्र तथा जल, अन्न और अन्य वस्तु सब कुछ का स्मरण करले। फिर प्रातःकालीन क्रिया सन्ध्यादि करके, अपने सास ससुर की वन्दना करे ॥३४६॥

ताभ्यां भर्त्रा पितृभ्यांवा भ्रातृ मातुल बांधवैः।

वस्त्रालंकाररत्नानि प्रदत्तान्येव धारयेत् ॥३५०॥

सास-ससुर, माता, पिता, भर्ता, भाई, मामा तथा अन्य बान्धवों द्वारा दिए हुए वस्त्र, अलङ्कार और रत्नों को धारण करे॥

मनो वाक्कर्मभिः शुद्धापतिदेशानुवर्तिनी।

छायेवानुगता स्वच्छासखीवहित कर्मसु ॥३५१॥

यह पति व्रता फिर मन, वाणी, और कर्म से पति की आज्ञा में चले। यह पति की छाया की तरह उत्तमता के साथ चले और सखी की तरह हितकार्यों में लगी रहे॥३५१॥

दासी वशिष्ट कार्य्येषु भार्या भर्त्तुः सदा भवेत्।

ततोऽन्नसाधनं कृत्वा पतये विनिवेद्यसा ।३५२॥

वैश्वदेवोद्धृतैरन्नै र्भोजनीयांश्च भोजयेत्।

पतिं च तदनुज्ञाताशिष्टमन्नाद्यमात्मना।

भुक्त्वानयेदहः शेषं सदाऽऽयव्यय चिंतया ॥३५३॥

पुनः सायं पुनः प्रातर्गृहशुद्धिं विधायच

कृतान्नसाधना साध्वी सभृत्यं भोजयेत्पतिम् ॥३५४॥

उत्तम कार्यों में भार्या, पति की दासी की तरह रहे, फिर भोजन बनावे और पति को समर्पित करे। बलि वैश्व देव करके फिर पति आदि जिनको भोजन कराना—उनको भोजन करावे। पति की आज्ञा से फिर शेष अन्न का भोजन करे। भोजन के अनन्तर स्त्री आय व्यय का हिसाब ठीक ठाक करले। फिर इसी तरह सायंकाल और फिर प्रातःकाल घर की शुद्धि करे। फिर वह साध्वी अन्न का पाक करे और भृत्यों के सहित अपने पति को भोजन करावे ॥३५२-३५४॥

नातितृप्ता स्वयं भुक्त्वा गृहनीतिं विधायच।
आस्तृत्य साधुशयनं ततः परिचरेत्पतिम् ॥३५५॥

पतिव्रता बहुत अधिक भोजन न करे और घर के व्यवहार को पूरा करे। फिर अच्छी तरह शय्या बिछाकर पति की सेवा में तत्पर हो जावे ॥३५५॥

सुप्ते पत्यौत दध्यास्य स्वयं तद्गत मानसा।
अनग्नाचा प्रमत्ताच निष्कामाविजितेंद्रिया ॥३५६॥

जब पति सो जावे—तो वह भी शय्या पर पति का ध्यान करती हुई सो जावे। कभी नंगी न सोवे। न कामातुर रहे। सदा इन्द्रियों को जीत कर सावधान बनी रहे ॥३५६॥

नोच्चैर्वदेन्नपरुषं नबह्वारुतिम प्रियम्।
नकेन विच्चविवदेद प्रलाप विवादिनी ॥३५७॥

कभी जोर से न बोले और न कठोर भाषण करे। कभी किसी के साथ विवाद न करे और अंट संट किसी से झगड़ा न करे ॥३५७॥

नचास्य व्ययशीलास्यान्न धर्म्मार्थ विरोधिनी।
प्रमादोन्माद रोषेर्ष्यावचनान्यति निंद्यताम् ॥३५८॥
पैशुन्य हिंसा विषयमोहाहंकार दर्पताम्।
नास्तिक्य साहसस्तेय दम्भान्साध्वी विवर्जयेत् ॥३५६

पति के धन को अधिक व्यय में न लगावे और न धर्म में लगाने वाले धन का विरोध करे। प्रमाद, उन्माद, रोष, ईर्ष्या, के वचनों तथा निन्दित कर्म, चुगुली, हिंसा, विषय, मोह, अहंकार, दर्प, नास्तिकता, साहस चोरी और दर्प आदि बुरे कर्मों को यह साध्वी स्त्री सर्वदा छोड़ देवे ॥३५८-३५६॥

एवं परिचरन्ती सापतिं परम दैवतम्।
यशस्यमिहयात्येव परत्रैंपासलोकताम् ॥३६०॥

इस प्रकार सेवा करती हुई पतिव्रता, अपने पति को परम देवता माने। इस तरह करने वाली स्त्री को इस लोक में यश और परलोक में पति के स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है ॥३६०॥

योषितो नित्य कर्मोक्तं नैमित्तिकमथोच्यते।
रजसो दर्शनादेषा सर्वमेव परित्यजेत् ॥३६१॥
सर्वैरलक्षिता शीघ्रं लज्जितांतगृहे वसेत्।

एकांबरा कृशादीनास्नानालंकार वर्जिता ॥
स्वपेद्भू मात्र प्रमत्ताद्वेपदेव महस्त्रयम् ॥३६२॥

यहां तक स्त्री के नित्य कर्म कहे गए-अब उनके निमित्त कर्मों का वर्णन किया जाता है। स्त्री का जब रजोदर्शन हो, तब से यह सब कुछ बातों का परित्याग करदे। इसको कोई न देख पावे और यह लज्जित सी होकर घर के भीतर घुस जावे। यह एक वस्त्र धारण करे। कृश और मलिन सी रहकर स्नान अलङ्कार धारण को छोड़ देवे एवं बड़ी सावधानी से भूमि में सोवे और इसी तरह तीन दिन बिता देवे॥ ३६१-३६२॥

स्नायीन सात्रिरात्रांतेसचैलाभ्युदिते रवौ।
विलोक्य भर्तृवदनं शुद्धा भवति धर्मतः ॥३६३॥

ऋतुकाल के अनन्तर तीन रात बीत जाने पर सूर्योदय के समय वस्त्रों सहित स्त्री स्नान करे। इसके बाद अपने पति का मुख देखे-तो नारी शुद्ध हो जाती है, यही धर्म-व्यवस्था है॥

कृत शौचापुनः कर्मपूर्व वच्च समाचरेत्।
द्विज स्त्रीणामयं धर्मः प्रायोऽन्यासामपीष्यते ॥३६४॥

जब यह पतिव्रता स्त्री शुद्ध होलेवे, तो फिर पूर्ववत् अपने घर के कृत्य में लग जावे। द्विज स्त्रियों का यह धर्म विशेष रूप से है और अन्य स्त्रियों को भी इसी धर्म का पालन करना चाहिए ॥३६४॥

कृषि पण्यादि कृत्येषु भवेयुस्ताः प्रसाधिकाः ।
संगीतैर्मधुराऽऽलापैः स्वायत्तस्तु पतिर्यथा ॥३६५॥
भवेत्तथाऽऽचरेयुर्वै मायाभिः कार्यकेलिभिः ।
नास्ति भर्तृसमोनाथो नास्ति भर्तृसमं सुखम् ॥३६६॥

ये अन्य छोटी जाति की स्त्रियां खेती तथा बेचने की वस्तु आदि के काम में सहायक रहें। स्त्रियों को गान और मधुर वार्तालाप अवश्य करना चाहिए, जिससे पति अधीन होता है । स्त्रियों को तो ऐसी क्रीड़ा और लीला करनी ही चाहिए-जिनसे पति प्रसन्न रहे। स्त्री का भर्ता के समान रक्षक और भर्ता के समान सुख देने वाला कोई नहीं है ॥३६५-३६६॥

विसृज्य धन सर्वस्वं भर्तावै शरणं स्त्रियः ।
मितंददातिहि पितामितं भ्रातामितं सुतः ॥३६७॥
अमितस्य प्रदातारं भर्तारं का न पूजयेत् ।

स्त्री अपना धन और सर्वस्व का भी परित्याग करदे, परन्तु भर्ता के साथ रहे, क्योंकि स्त्री का भर्ता ही सर्वोत्तम रक्षक है। पिता, भ्राता, और पुत्र—जो कुछ स्त्री को प्रदान करते हैं, वह परिमाण का ही होता है, परन्तु भर्ता स्त्री के लिए अमित धन और सुख का देने वाला है—ऐसे भर्ता को कौन स्त्री नहीं पूजेगी ३६७।

शूद्रो वर्ण चतुर्थोऽपि वर्णत्वाद्धर्म महति ॥३६८॥
वेदमंत्र स्वधा स्वाहा वषट्कारादिभिर्विना ।
पुराणाद्युक्त मंत्रैश्च नमोंतैः कर्मकेवलम् ॥३६९॥

शूद्र का यद्यपि चतुर्थ वर्ण है, परन्तु वर्णधारी होने से उस का भी धर्म में अधिकार है। इसको वेद मन्त्र स्वधा स्वाहा, और वषट्कार का अधिकार नहीं है। ये पुराणों के ओंशिवायनमः आदि मन्त्रों से अपने सारे कर्म कर सकते हैं ॥३६८-३६९॥

विप्र वद्विप्र विन्नासुक्षत्र विन्नासु क्षत्रवत् ।
प्रजाताः कर्म कुर्युर्वैवैश्य विन्नासु वैश्यवत् ॥३७०॥

ब्राह्मणों द्वारा विवाही हुई स्त्रियों में जो सन्तान हो, वह ब्राह्मण, क्षत्रियों को विवाही हुई स्त्री की सन्तान क्षत्रिय और वैश्य को व्याही हुई स्त्री में उत्पन्न सन्तान वैश्य कर्म करे ॥३७०॥

वैश्यासु क्षत्र विप्राभ्यां जातः शूद्रासु शूद्रवत् ।
अधमादुत्तमायांतु जातः शूद्राधमः स्मृतः ॥३७१॥

वैश्य और शूद्र, में ब्राह्मण और क्षत्रिय से उत्पन्न सन्तात शूद्रवत होती है तथा अधम पुरुष से उत्तम वर्ण की स्त्री उत्पन्न सन्तान शूद्र से भी अधिक अधम मानी गई है ॥ ३७१ ॥

सशूद्रादनु सत्कुर्यान्नाम मंत्रैण सर्वदा ।
ससंकर चतुर्वर्णा एकत्रैक त्रयावनाः ॥३७२॥

वेद भिन्न प्रमाणास्ते प्रत्यगुत्तर वासिनः ।
तदाचार्यैश्चतच्छास्त्रं निर्मितं तद्धितार्थकम् ॥३७३॥

ये लोग भी शूद्रों की तरह नाम—मन्त्र से ही अपने कर्म से करें। संकर सन्तान उत्पन्न करने वाले, चारों वर्ण एक ओर-

यवन सन्तान एक ओर अर्थात ये दोनों ही समान माने गये हैं। ये लोग वेद को प्रमाण नहीं मानते। पश्चिम उत्तर के कौने में रहते हैं। उनके हित के लिए उनके आचार्यों ने ही उनके शास्त्र बना दिए हैं॥ ३७२-३७३॥

व्यवहारायथानीति रुभयोर विवादिनी।
कदाचिद्बीजमाहात्म्य क्षेत्रमाहात्म्यतः क्वचित्॥३७४॥

व्यवहार को देखकर दोनों नीति काम में लायी जाती हैं, इसमें कोई विवाद नहीं है। कहीं पर तो बीज (पुरुष) का महात्म्य है, और कहीं पर क्षेत्र (स्त्री) की प्रधानता मानी गई है॥ ३७४॥

नीचोत्तमत्वं भवति श्रेष्ठत्वं क्षेत्रबीजतः।
विश्वामित्रश्च वासिष्ठो मातंगो नारदादयः॥३७५॥

नीचा और ऊँचा, क्षेत्र और बीज के प्रभाव से होते रहते हैं। विश्वामित्र, वशिष्ठ, मातङ्ग और नारद ये बीज और क्षेत्र के प्रभाव से ही नीच या उत्तम हुए हैं॥ ३ ५॥

स्वस्वजात्युक्त धर्मोयः पूर्वैराचरितः सदा।
तमाचरेच्चसाज्ञाति दंड्यास्यादन्यथा नृपैः॥३७६॥

अपनी २ जाति के लिए कहा गया-कर्म, ही-धर्म है, जिसका पूर्व से लोग आचरण करते आए हैं। जाति अपने धर्म का आचरण करती रहे। यदि वह आचरण से गिर जावे-तो राजा को उसे दण्ड देना चाहिए॥ ३७६॥

जाति वर्णाश्रमान्सर्वान्पृथक्चिह्नैः सुलक्षयेत् ।
यंत्राणि धातुकाराणां संरक्षेन्निशि सर्वदा ॥३७७॥

जाति वर्ण और आश्रम वालों को–राजा पृथक् २ चिन्हों से युक्त करे। तथा धातुकारों के यन्त्रों की रात में सर्वदा रक्षा करे॥ ३७७ ॥

कारु शिल्पि गणान्राष्ट्रे रक्षेत्कार्यानुमानतः ।
अधिकान्कृषि कृत्सेवाभृत्यवर्गे नियोजयेत् ॥३७८॥

कारीगर, शिल्पी–जैसे लोगों की उनके गुण के अनुसार रक्षा करे। यदि ये–लोग, अधिक हो जावें–तो उनको खेती, नौकरी या सेवा के काम में लगा देवे ॥ ३७८ ॥

चौराणां पितृभूतास्ते स्वर्णकारादयस्त्वतः ।
गंजा गृहं पृथग्ग्रामात्तस्मिन्रक्षेत्तु मद्यपान् ॥३७९॥

सुनार आदि कारीगर चोरों के भी पिता होते हैं। मद्यालय गाँव से पृथक् होना चाहिए। इस तरह सुनारों से प्रजा तथा सुरा बेचने वालों से सुरा पीने वालों की रक्षा करनी चाहिए॥ ३७६ ॥

नदिवा मद्यपानंहि राष्ट्रे कुर्वाद्धि कर्हिचित् ।
ग्रामे ग्राम्यान्वने वन्यान्वृक्षान्संरोपयेन्नृपः ॥३८०॥

राजा—अपने राष्ट्र में कभी मद्यपान दिन में न करने देवे। गांव में गांवों के और वन में वनों के वृक्षों को राजा आरोपित करे॥ ३८० ॥

उत्तमान्विंशति करैर्मध्यमांस्तिथि हस्ततः ।
सामान्यान्दश हस्तैश्च कनिष्ठान्पंचभिः करैः ॥३८१॥
अजा विगोश कृद्भिर्वाजलैर्मांसैश्च पोषयेत् ।

उत्तम २ वृक्षों को बीस हाथ, मध्यम वृक्षों को पन्द्रह हाथ, एवं सामान्य वृक्षों को दश हाथ, और छोटे २ वृक्षों को पांच २ हाथ की दूरी पर लगवाया जावे । बकरी, भेड़ और गौ के गोबर (खात) तथा जल और मांस से इनकी पुष्टि करे ॥ ३८१ ॥

उदुंबराश्वत्थ वट चिंचा चंदन जंभलाः ॥३८२॥
कदंबा शोक बकुल बिल्वाम्रातकपित्थकाः ।
राजादनाम्र पुन्नाग तु दकाष्ठाम्र चंपकाः ॥३८३॥
नीप कोकाम्र सरल दाडिमाक्षोटभिः सटाः ।
शिंशि पाशिंशु वदर निंब जंभीरक्षीरिकाः ॥३८४॥
खर्जूर देवकरज फल्गुनापिच्छमिं भलाः ।
कुद्दालोलवली धात्री कुमकोमातुलुंगकः ॥३८५॥
लकुचानारिकेलश्चरं भान्येसत्फलाद्रुमाः ।
सुपुष्पाश्चैव येवृक्षाग्रामाभ्यर्णे नियोजयेत ॥३८६॥

गूलर, पीपल, बड़, इमली, चन्दन जंभल, कदम्ब, अशोक, बकुल, बिल्व, आंवला, कैथ, राजादनाम्र (उत्तम आम) पुनांग, तुद-काष्ठ, आम्र, चम्पा, नीप, कोकाम्र, सराल, अनार, अखरोट, भिस्सट, शीसम, शिशु, बेटी, नीम, जंभीरी क्षीरिका, खर्जूर, देवकरञ्ज,

फल्गु, तापिच्छ, (तमाल) सेंभल, कुदाल, लवली, धात्री, क्रमुक, मातुलुङ्ग (बिजोरा) लकुच, नारिकेल, रंभा (केला) तथा अन्य भी अच्छे २ उत्तम पुष्प वाले सुन्दर वृक्ष हों—उनको गांव के पास लगावे ॥ ३८२-३८६ ॥

येचकंटकिनोवृक्षाः खदिराद्यास्तथापरे ।
आरण्यकास्ते विज्ञेयास्तेषां तत्र नियोजनम् ॥३८७॥

जो खदिर आदि कांटे वाले वृक्ष होते हैं, वे आरण्यक वृक्ष कहाते हैं, उनको वन में लगवावे ॥ ३८७ ॥

खदिराश्मंतशाकाग्नि मंथस्योनाकबब्बुलाः
तमालशाल कुटजधवार्जुन पलाशकाः ॥३८८॥
सप्त पर्णशमीतून देवदारुविकंकताः ।
करमर्दैगुदी भूर्जविष मुष्टिकरीरकाः ॥३८९॥
शल्लकी काश्मरी पाठातिंदुकोबीज सारकः ।
हरीतकीच भल्लातः शम्याकोर्कश्च पुष्करः ॥३९०॥
अरिमेदश्च पीतद्रुः शाल्मलिश्च बिभीतकः ।
नरवेलो महावृक्षोऽपरे ये मधुकादयः ॥३९१॥
प्रतानवन्त्यः स्तंबिन्योगुल्मिन्यश्च तथैवच ।
ग्राम्या ग्रामेवनेवन्या नियोज्यास्ते प्रयत्नतः ॥३९२॥

खदिर, अश्मन्तक, शाक, अग्नि मन्थ (अमलताश) स्योनाक,

...ल, तमाल, शाल, कुटज, अर्जुन, पलाश, धव, सप्तपर्ण, शमी, ..., देवदारु, विकंकत, करमर्द, इंगुदी, भोजपत्र, विषमुष्टि, ...र, शल्लकी, काश्मरी, पाठा, तेन्दुक, बीजसार, हरड़े, भिलावे, ...याक, अर्क, पुष्कर, अरिमेद, पीतद्रु, शाल्मलि, विभीतक (बहेड़ा) नरवेल, महावृक्ष तथा अन्य महुआ, आदि जालवाली, ...ओं वाली, तथा अन्य घमलों में लगाने वाली सुन्दर लताएँ ...र के बगीचों में लगानी चाहिए और वन के योग्य लताएँ ...न में आरोपित करनी चाहिए ॥ ३८८-३९२ ॥

कूपवापी पुष्करिण्यस्त डागाः सुगमास्तथा ।
कार्याः खातद्वित्रिगुण विस्तारपदधानिकाः ॥३९३॥

कूप, बावड़ी, पुष्करिणी (तलाई) तड़ाग आदि जलाशय ...म होने चाहिए। जलाशय की गहराई से दुगुनी तिगुनी ...तार में होने वाली इनके चारों ओर सीढ़ी होनी ...चित है ॥ ३९३ ॥

यथा तथा ह्यनेकाश्च राष्ट्रेस्याद्विपुलं जलम् ।
नदीनांसेतवः कार्याविबन्धा सुमनोहराः ॥३९४॥

कूप आदि जलाशय राष्ट्र में अनेक होने चाहिए। विपुल जल ...रा रहे । नदियों के पुल, दृढ़ और बन्ध मनोहर बनवाने ...हिए ॥ ३९४ ॥

नौकादिजलयानानि पारगानिनदीषुच ।
यज्जाति पूज्योयोदेवस्तद्विद्यायाश्चयोगुरुः ॥३९५॥

तदालयानितज्जाति गृहपंक्ति मुखेन्यसेत् ।
शृंगाट के ग्राममध्ये विष्णोर्वाशंकरस्य च ॥३९६॥
गणेशस्यरवेर्देव्याः प्रासादान्क्रमतोन्यसेत् ।
मेर्वादिषोडशविध लक्षणान्सुमनोहरान् ॥३९७॥

नदियों में पार जाने को नौकादि जलयान पड़े रहने चाहिए। जिस जाति का पूज्य जो देव और जिस विद्या का पढ़ाने वाला जो गुरु हो, उनके घर-उनकी जाति के सन्मुख बनाए जावें। चौराहे, गांव के मध्य, भगवान् विष्णु, शंकर, गणेश, सूर्य, देवी के मन्दिर बनवावे, जो मेरु आदि सोलह प्रकारके मनोहर लक्षणों से युक्त हों॥ ३९५-३९७॥

वर्तुलांश्चतुरस्रान्वायंत्राकारान्स मंडपान् ।
प्राकार गोपुरगणयुतान्द्वित्रिगुणोच्छ्रितान् ॥३९८॥
यथोक्तांतः सुप्रतिमाञ्जल मूलान्विचित्रितान् ।
रम्यः सहस्रशिखरः सपादशत भूमिकः ॥३९९॥
सहस्रहस्त विस्तारोच्छ्रायः स्यान्मेरु संज्ञकः ।
ततस्ततोष्टांश हीना अपरेमन्दरादयः ॥४००॥

गोल, चोकोर, मण्डप या यन्त्राकार, होवें तथा ये प्राकार, गोपुर, (द्वार) से संयुक्त होने चाहिए। इनमें दो तीन कक्षा (मंजिल) रहनी चाहिए। शास्त्रानुसार इनके मध्य में प्रतिमा की स्थापना हो, इनके चारों ओर खाइयों में जल भरा रहना

चाहिए। ये बड़े ही सुन्दर और मनोहर बनाये जावे। इनकी सहस्रों शिखर, और सवा सौ भूमि [मंजिल] तक होनी चाहिए जिस शिखर की चौड़ाई, ऊँचाई सहस्र हाथ की हो, वह मेरु संज्ञक देवालय है। उनसे आठवें भाग में जो हीन हो-वे, मन्दिर पर्वत के आकार के कहाते हैं ॥ ३९८-४०० ॥

मन्दरश्चात्तमाली च द्यु मणिश्चंद्रशेखरः ।

माल्यवान्वापारियात्रो रत्नशीर्षोहि धातुमान् ॥४०१॥

पद्मकोशः पुष्पहासः श्रीकरः स्वस्तिकाभिधः ।

महापद्मः पद्मकूटः षोडशो विजयाभिधः ॥४०२॥

तन्मण्डपश्चतत्तुल्यः पादन्यूनोच्छ्रितः पुरः ।

स्वाराध्य देवताध्यानैः प्रतिमास्तेषु योजयेत् ॥४०३॥

मेरु, मन्दर, अत्तमाली, द्युमणि, चन्द्रशेखर, माल्यवान्, पारियात्र, रत्नशीर्ष, धातुमान, पद्मकोश, पुष्पहास, शीकर, स्वस्तिक, महापद्म, पद्मकूट, और विजय-इन सोलह पर्वतों की संज्ञा पर देवालयों की संज्ञा नियतकी गई है। इनका मण्डप भी इनके तुल्य ही बनता है। देवालयों से एक पाद न्यून जिसकी ऊँचाई हो—वह गोपुर [द्वार] होता है। अपने अपने आराध्यदेव के ध्यान से इनमें मूर्ति की स्थापना करे॥ ४०१-४०३ ॥

सात्त्विकी राजसीदेव प्रतिमा तामसीत्रिधा ।

विष्णवादीनांच यायन्नयोग्या पूज्यातु तादृशी ॥४०४॥

देवमूर्ति, सात्विकी, राजसी और तामसी—इस तरह तीन प्रकार की होती है। विष्णु आदि देवता की मूर्ति, जहाँ योग्य हो—उसकी पूजा वहीं करता रहे ॥ ४०४ ॥

योग मुद्रान्विता स्वस्थावरा भयकरान्विता।

देवेंद्रादिस्तुतनुतासात्विकी साप्रकीर्तिता ॥४०५॥

जो प्रतिमा, योग मुद्रा से युक्त, स्वस्थ, वरदान और अभय देने वाली हो। इन्द्रादि देव जिसकी स्तुति और नति करते हों वह प्रतिमा सात्विकी कहाती है ॥ ४०५ ॥

तिष्ठंतीवाहनस्थावा नाना भरण भूषिता।

याशस्त्रास्त्रा भयवरकरासा राजसीस्मृता ॥४०६॥

जो प्रतिमा, खड़ी हो या किसी वाहन पर स्थित हो, अनेक आभूषण धारण कर रखे हों, तथा जिसके हाथ में अनेक शस्त्रा सुशोभित हों—वह राजसी प्रतिमा होती है ॥ ४०६ ॥

शस्त्रास्त्रैर्दैत्यं हत्रीयाह्युग्ररूपधरासदा।

युद्धाभिनंदिनीसातुतामसी प्रतिमोच्यते ॥४०७॥

जो शस्त्रास्त्र से युक्त, उग्र रूप धारिणी, किसी दैत्य का विनाश कर रही हो, तथा युद्ध का अभिनन्दन करने वाली हो—वह तामसी प्रतिमा होती है ॥ ४०७ ॥

संक्षेपतस्तुध्यानादि विष्णवादीनां तथोच्यते।

प्रमाणं प्रतिमानांच तदंगानां सुविस्तरम् ॥८॥

अब विष्णु आदि मूर्ति के ध्यान आदि का संक्षेप में वर्णन किया जाता है। प्रतिमाओं के प्रमाण और अङ्गों के विस्तार का भी वर्णन किया जाता है ॥ ४०८ ॥

स्वस्वमुष्टेश्चतुर्थांशोह्यं गुलंपरिकीर्तितम् ।
तदंगुलैर्द्वादशभिर्भवेत्तालस्यदीर्घता ॥४०६॥

अपनी २ मुष्टि के चतुर्थांश को अंगुल कहते हैं। बारह अंगुल की ताल की लम्बाई मानी गई हैं ॥ ४०६ ॥

वामनी सप्ततालास्यादष्टतालातु मानुषी ।
नव ताला स्मृतादेवी राक्षसीदशतालिका ॥४१०॥

सप्तताल की मूर्ति वामनी, अष्टताल की मानुषी, नवताल की देवी और दशताल की राक्षसी मूर्ति होती है ॥ ४१० ॥

सप्तताला ह्युच्चतावामूर्तीनां देश भेदतः ।
सदैव स्त्रीसप्तताला सप्ततालश्च वामनः ॥४११॥

किसी २ देश में मूर्ति की ऊँचाई सात ताल की होती है। स्त्री की मूर्ति सात ताल और वामनी मूर्ति भी सात ताल की ही मानी गई है ॥ ४११ ॥

नरो नारायणो रामो नृसिंहो दशतालकः ।
दशताला कृतयुगे त्रेतायां नवतालिका ॥४१२॥
अष्टताला द्वापरेतु सप्तताला कलौस्मृता ।
नवताल प्रमाणेतु मुखंतालमितं स्मृतम् ॥४१३॥

चतुरंगुलं ललाटं स्यादधोनासा तथैवच।
नासिकाधश्च हन्वंतं चतुरंगुलमीरितम् ॥४१४॥
चतुरंगुला भवेद्ग्रीवा तालेन हृदयं पुनः।
नाभिस्तस्मादधः कार्या तालेनैकेन शोभिता ॥४१५
नाभ्यधश्च भवेन्मेढ्रं भागेनैकेनवा पुनः।
द्वितालौ ह्यायतावूरू जानुनी चतुरंगुले ॥४१६॥
जंघे ऊरू समे कार्ये गुल्फाधश्चतुरंगुलम्।
नव तालात्मकमिदमूर्ध्वं मानंबुधैः स्मृतम् ॥४१७॥

नर, नारायण, राम, नृसिंह की मूर्ति दशताल की बनती हैं। दशताल की मूर्ति सत्युग और नवताल की त्रेतायुग में बनने लगी। आठताल की द्वापर में और सप्तताल की मूर्ति कलियुग में बनने लगी। जिस मूर्ति की ऊँचाई नौताल की है, उसमें उसका मुख एकताल का होता है। उसका ललाट चार अंगुल और नाक तक के नीचे का भाग भी चार अंगुल का ही होता है। नासिका से नीचे ठोड़ी तक चार अंगुल का प्रमाण है। इसकी चार अंगुल ऊँची ग्रीवा मानी गई है और एक ताल का हृदय होता है। इसके नीचे एक ताल की सुन्दर-नाभि बननी चाहिए। नाभि के नीचे, एक भाग में लिङ्ग, की रचना करे। दो ताल लम्बी जांघ और चार अंगुल के जानु (गोडे) होने चाहिए। दो ताल की जंघा (पिंडली) और उसके नीचे गुल्फ (टखने) बनने चाहिए।

इस प्रकार नौ ताल की ऊँचाई का प्रमाण बुद्धिमानों ने निश्चित किया है ॥ ४१२-४१७ ॥

शिखा वधितुकेशांतंत्र्यंगुलं सर्वमानतः ।
दिशानयाच विभजेत्सप्ताष्टदश तालिकम् ॥४१८॥

शिखा से लेकर केशों तक का भाग तीन अंगुल का हो। इसी तरह सात, आठ और दश ताल की मूर्ति का हिसाब लगा लेना चाहिए ॥ ४१८ ॥

चतुस्तालात्मकौ बाहूह्यंगुल्यंतावुदाहृतौ ।
स्कंधादि कूर्परांतंच विंशत्यंगुलमुत्तमम् ॥४१९॥
त्रयोदशां गुलंचाधः कक्षायाः कूर्परांतकम् ।
अष्टात्रिंशत्यंगुलस्तु मध्यमांतः करः स्मृतः ॥४२०॥
सप्तांगुलं करतलंमध्यापंचांगुलामता ।
सार्धत्रयांगुलोंगुष्ठस्तर्जनी मूल पूर्वभाक् ॥४२१॥
पर्वद्वयात्मको न्यासां पर्वाणि त्रीणि त्रीणितु ।
अर्धांगुलेनांगुलेन हीनानामाच तर्जनी ॥४२२॥
कनिष्ठिका नामिकातोंगुलोनाच प्रकीर्तिता ।
चतुर्दशांगुलौ पादौ ह्यंगुष्ठो द्व्यंगुलोमतः ॥४२३॥
प्रदेशिनीद्व्यंगुलातु सार्धांगुलमथे नराः ।
शिरोज्झितौ पाणिपादौ गूढगुल्फौ प्रकीर्तितौ ॥४२४॥

अंगुलि पर्यन्त चार ताल लम्बी-भुजा होनी चाहिए और स्कन्ध से कूर्पर (कुहनी) तक बीस अंगुल का प्रमाण माना है।

कुक्षि के नीचे से कूर्पर तक तेरह अंगुल का प्रमाण है। अट्ठाईस अंगुल के परिमाण वाला, मध्यमा अंगुलि तक हाथ होता है। सात अंगुल का करतल और मध्यमा पांच अंगुल की बनानी चाहिए। साढ़े तीन अंगुल का अंगूठा, तर्जन के मूल के पूर्व भाग से बनता है। अंगूठे में दो पर्व और अंगुलियों में तीन बनने चाहिए। अर्धांगुल और अंगुल भर कम तर्जन अंगुल होती है। कनिष्ठिका अनामिका से एक अंगुल कम मानी गई है। चौदह अंगुल का पाद और दो अंगुल का अंगूठा होता है। प्रदेशिनी दो अंगुल की और अन्य अंगुलियां डेढ २ अंगुल की होती हैं। शिर को छोड़ कर हाथ पैरों को ऐसा बनाया जाता है, कि उनके गुल्फ छुपे होते हैं ॥ ४१६-४२४ ॥

तद्विज्ञैः प्रस्तुता येये मूर्तेरवयवाः सदा ।

न हीनानाधिकामानात्त तेज्ञेयाः सुशोभनाः ॥४२५॥

मूर्ति के-बनाने के जानने वालों ने जो २ मूर्ति के अवयवों की कल्पना की है, उनको घटाना या बढ़ाना नहीं चाहिए। ये तभी सुन्दर होते हैं ॥ ४२५ ॥

नस्थूला न कृशा वापि सर्वे सर्वं मनोरमाः ।

सर्वांगैः सर्वरम्योहि कश्चिल्लक्षे प्रजायते ॥४२६॥

यदि कुछ स्थूल या कृश मूर्ति बनादी गई-तो सारी सुन्दर नहीं हो सकेगी। जिसके सर्वाङ्ग सुन्दर होते हैं-वही मूर्ति सुन्दर मानी गई है। ठीक २ लक्षणों के अनुसार कोई ही मूर्ति बन पाती है ॥ ४२६ ॥

शास्त्र मानेनयोरम्यः सरम्योनान्य एवहि ।
शास्त्रमान विहीनं यदरम्यं तद्विपश्चिताम् ॥४२७॥

जिसकी सुन्दरता शास्त्र के अनुसार हो, वही रमणीक माना जावेगा अन्य नहीं । शास्त्र के मान स जो विहीन हो, वही विद्वानों को भद्दा प्रतीत होता है ॥ ४२७ ॥

एकेषामेवतद्रम्यं लग्नं यत्रच यस्यहृत ।
अष्टांगुलं ललाटं स्यात्तावन्मात्रौ भ्रुवौ मतौ ॥४२८॥
अर्धांगुला भ्रुवोर्लेखा मध्ये धनुरिवायतां ।
नेत्रेच त्र्यंगुलायामव्द्यंगुले विस्तृते शुभे ॥४२९॥
तारकात तृतीयांशा नेत्रयोः कृष्णारूपिणी ।
व्द्यंगुलं तु भ्रुवोर्मध्यं नासामूलमथांगुलम् ॥४३०॥
नासाग्र विस्तरं तद्वद्द्व्यं गुलं तद्विलद्वयम् ।
शुक्र मुखाकृतिर्नासासरलावा द्विधाशुभा ॥४३१॥
निष्पाव सदृशंनासा पुटयुग्मं सुशोभनम् ।
कर्णौच भ्रू समौज्ञेयौ दीर्घौतु चतुरंगुलौ ॥४३२॥

जिस मनुष्य, का जिस मूर्ति में मन लग जावे, उसको तो वही रमणीक हो जावेगी । आठ अंगुल का ललाट और उतनी ही मात्रा की भौंहें बननी चाहिए । आधा अंगुल भृकुटी की लेखा हो और बीच में से उसका आकार धनुष की भाँति चला गया हो ।

नेत्र तीन अंगुल चौड़े और दो अंगुल विस्तृत होने उचित हैं। इनके नेत्रों का तारा तृतीयांश भाग में बनवावे, जिनका कृष्ण वर्ण होना चाहिए। भ्रू वों का मध्य भाग दो अंगुल, नासा का मूल एक अंगुल-माना है। नासा के अग्र भाग का विस्तार दो अंगुल का माना है, जिसमें दो—बिल बनाए जाते हैं। तोते की चोंच जैसी नाक बनाई जावे या सीधी भी हो सकती है। दोनों-नासा पुट निष्पात्र [छाज] के तुल्य सुन्दर होने चाहिए। कर्ण तथा भ्रू साथ लगी हों। वे चार अंगुल लम्बी होनी चाहिए ॥ ४२८-४३२ ॥

कर्ण पालीद्व्यंगुलास्यात्स्थूला चार्धांगुलामता।
नासावंशोर्धांगुलस्तुश्लक्ष्णाग्रः किंचिदुन्नतः ॥४३३॥

कानों की पाली दो अंगुल चौड़ी और आधी अंगुल मोटी होनी चाहिए नाक का बांस अर्धांगुल, कुछ—अग्रभाग से ऊँचा और सुन्दरसा होना उचित है॥ ४३३ ॥

ग्रीवा मूलाच्च स्कंधांतमष्टांगुल मुदाहृतम्।
बाह्वंतरं द्वितालं स्यात्तालमात्रं स्तनांतरम् ॥४३४॥
षोडशांगुलमात्रंतु कर्णयोरंतरं स्मृतम्।
कर्ण हन्वग्रांतरंतु सदैवाष्टांगुलं मतम् ॥४३५॥

ग्रीवा के मूल से स्कन्ध तक का भाग आठ अंगुल का माना है। भुजाओं के मध्य का भाग दो ताल और स्तनों का मध्य भाग एक ताल का कहा गया है। सोलह अंगुल का अन्तर दोनों में

रखा जाता है। कान और ठोडी का अन्तर सदा आठ अंगुल माना गया है ॥ ४३४-४३५ ॥

नासा कर्णांतरं तद्वत्तदर्धं कर्ण नेत्रयोः ।

मुखं ताली तृतीयांशमोष्टा वर्धाङ्ग लौमतौ ।४३६॥

नाक और कान का अन्तर भी आठ अंगुल का होता है तथा कान और नेत्रों का अन्तर चार अंगुल का है। मुख तालका तृतीयांश, और ओष्ठ आधी अंगुल के माने गए हैं ॥ ॥ ४३६ ॥

द्वात्रिंशदंगुलः प्रोक्तः परिधिर्मस्तकस्य च ।

दशांगुला विस्तृतिस्तु द्वादशांगुल दीर्घता ।४३७॥

मस्तक की-परिधि (घेरा) बत्तीस अंगुल की होती है । उसकी चौड़ाई दश अंगुल और लम्बाई बारह अंगुल मानी गई है। ऊरु [जंघा] के मूल की परिधि [घेरा] उन्नीस अंगुल मानी है ॥ ४३७ ॥

ग्रीवा मूलस्य परिधिर्द्वात्रिंशत्यंगुलात्मकः ।

हृन्मूले परिधिर्ज्ञेयश्चतुः पंचाशदंगुलः ॥४३८॥

ग्रीवा के मूल की परिधि भी बाईस अंगुल की होती है। हृदय के मूलभाग की परिधि पचास अंगुल समझनी चाहिए ॥ ४३८ ॥

हीनांगुल चतुस्ताल परिधि हृदयस्यच ।

आस्तनात्पृष्ठ देशांता पृथुता द्वादशांगुला ॥४३९॥

चार अंगुल न्यून एक ताल परिधि हृदय की होती है। स्तनों से लेकर पीठ तक बारह अंगुल की मुटाई होनी उचित है।।४३६।।

सार्ध त्रितालपरिधिः कट्याश्च द्व्यंगुलाधिकः।
चतुरंगुल उत्सेधोविस्तारः स्यात्षडंगुलः ।।४४०।।

कमर की परिधि साढ़े तीन ताल और दो अंगुल होती है। इसकी चार अंगुल ऊँचाई और छः अंगुल का विस्तार होता है।। ४४० ।।

पश्चाद्भागे नितंबस्य स्त्रीणामंगुलतोधिकः ।
बाह्वग्र मूल परिधिः षोडशाष्टादशांगुलः ।।४४१।।

स्त्रियों के नितम्ब की पुष्टि एक अंगुल अधिक करनी चाहिए बाहु के अग्र भाग का प्रमाण सोलह और मूल भाग का अट्ठारह अंगुल होता है ।। ४४१ ।।

हस्तमूलाग्र परिधिश्चतुर्दश दशांगुलः।
पंचांगुलापाद करतलयोर्विस्तृतिः स्मृता ।।४४२।।

हाथ के मूल भाग की परिधि चौदह अंगुल की होती है। पैर और हाथ के करतल का विस्तार पांच अंगुल माना गया है।। ४४२ ।।

ऊरुमूलस्य परिधिर्द्वात्रिंशदंगुलात्मकः ।
ऊन त्रिंशत्यंगुलः स्यादूर्वग्रपरिधिः स्मृतः ।।४४३।।

ऊरु के मूल की परिधि बत्तीस अंगुल की मानी गई है। तथा ऊरु के अग्र भाग की परिधि उन्नीस अंगुल की होती है ॥४४३॥

जंघा मूलाग्र परिधिः षोडश द्वादशांगुलः ।
मध्यमामूल परिधिर्विज्ञेयश्चतुरंगुलः ॥४४४॥
तर्जन्य नामिकामूल परिधिः सार्धत्र्यंगुलः ।
कनिष्ठिकायाः परिधिर्मूलेत्र्यंगुल एवहि ॥४४५॥

जंघा (पिण्डली) के मूल भाग की परिधि—सोलह अंगुल और अग्र भाग की परिधि—बारह अंगुल है। मध्यमा अंगुलि की परिधि चार अंगुल की होती है, तथा तर्जनी और अनामिका के मूल भाग की परिधि साढ़े तीन अंगुल मानी गई है। कनिष्ठिका के मूल भाग की परिधि, तीन अंगुल की होती है ॥ ४४४-४४५ ॥

स्वमूल परिधेः पादहीनोग्रेपरिधिः स्मृतः ।
हस्त पादांगुष्ठयोश्चचतुः पंचांगुलं क्रमात् ॥४४६॥
पादांगुलीनां परिधिस्त्र्यंगुलः समुदाहृतः ।
मंडलंस्तनयोर्नाभेः सार्धांगुलमथांगुलम् ॥४४७॥

अङ्ग के मूल भाग से चौथाई भाग कम, अग्र भाग की परिधि होती है। हाथ के अंगूठे की परिधि चार अंगुल और पैर के अंगूठे की पांच अंगुल है। पैर की अंगुलियों की परिधि तीन अंगुल कही गई है। स्तनों का मण्डल डेढ़ अंगुल और नाभि के मण्डल की परिधि एक अंगुल कही गई है ॥ ४४६-४४७ ॥

सर्वांगानां यथा शोभिपाटवं परिकल्पयेत् ।

नोर्ध्वदृष्टि मधोदृष्टिं मीलिताक्षीं प्रकल्पयेत् ॥४४८॥

सम्पूर्ण अङ्गों में जिस तरह सौन्दर्य आवे—उस तरह की रचना करे। ऊर्ध्व दृष्टि, अधो दृष्टि या आंख मीचे हुए कोई मूर्ति न बनाई जावे ॥ ४४८ ॥

नोग्रदृष्टिंतु प्रतिमां प्रसन्नाक्षीं विचिंतयेत् ।

प्रतिमायास्तृतीयांशमर्धांशंतत्सु पीठकम् ॥४४६॥

द्विगुणं त्रिगुणं द्वारं प्रतिमायाश्चतुर्गुणम् ।

एकद्वित्रि चतुर्हस्तं पीठं देवालयस्य च ॥४५०॥

मूर्ति की दृष्टि उग्र भी नहीं बनानी चाहिए। उसकी आँखें तो बड़ी प्रसन्न (सुन्दर) बनानी श्रेष्ठ हैं। प्रतिमा के साढ़े तीन अंश न्यून उसका आसन बनाया जावे। प्रतिमा की ऊँचाई से दुगुना तिगुना, या चौगुना देवालय का द्वार होवे। एक, दो, तीन या चार हाथ देवालय का पीठ (चौकी) बनाना चाहिए ॥४४६-४५०॥

पीठतस्तु समुच्छ्रायोभित्तेर्दश करात्मकः ।

द्वारात्तु द्विगुणोच्छ्रायः प्रासादस्योर्ध्वभूमिभाक् ४५१॥

पीठ से दश हाथ ऊँची भीत बनाई जावे। द्वार से दुगुना ऊँचा, मन्दिर का ऊपर का भाग बनना चाहिए ॥ ४५१ ॥

शिखरंचोच्छ्राय समंद्विगुणं त्रिगुणंतुवा ।

एकभूमिं समारभ्य सपादशत भूमिकम् ॥४५२॥

मन्दिर की ऊँचाई के समान दुगुना या तिगुना शिखिर बनाया जावे। एक भूमि (मंजिल) से लेकर सवा सौ भूमि तक मन्दिर बनाया जा सकता है ॥ ४८२ ॥

प्रासादं कारयेच्छक्त्या ह्यष्टास्र पद्मसन्निभम् ।
चतुर्दिङ्मंडपंवापि चतुः शालं समंततः ॥४५३॥

अपनी शक्ति के अनुसार अष्टदल कमल के सदृश मन्दिर बनवावे। उसमें चारों ओर सुन्दर कोष्ठ (कमरे) हों और चारों दिशाओं में मण्डप होने—चाहिए ॥ ४५३ ॥

सहस्रस्तंभ संयुक्तश्चोत्तमोन्यः समोधमः ।
प्रासादे मंडपे वापि शिखरं यदि कल्प्यते ॥४५४॥
स्तंभास्तत्रन कर्तव्या भित्तिस्तत्र सुखप्रदा ।
प्रासाद मध्यविस्तारः प्रतिमायाः समंततः ॥४५५॥
षड गुणोष्ट गुणोवापि पुरतोवासु विस्तरः ।
वाहनं मूर्ति सदृशं सार्धंवाद्विगुणं स्मृतम् ॥४५६॥

जिस देवालय में सहस्र स्तम्भ होते हैं, वह उत्तम—और इससे कम स्तम्भ वाला साधारण या अधम माना जाता है। यदि प्रासाद या मण्डप में शिखिर—बनवाया जावे—तो वहाँ स्तम्भ न बनवाया जावे-वहाँ तो भीत ही सुख दाता होती है। प्रतिमा के चारों ओर प्रासाद (कमरे) का विस्तार प्रतिमा से छः गुना या अठ गुना होना-चाहिए। प्रतिमा के आगे का जगमोहन भी

सुविशाल बनाया जावे। मूर्ति के सदृश, डेढ गुना या दुगुना उसका वाहन होना चाहिए॥ ४५४-४५६ ॥

यत्र नोक्तं देवताया रूपं तत्र चतुर्भुजम् ।

अभयंच वरं दद्याद्यत्रनोक्तं यदा युधम् ॥४५७॥

जिस देवता का रूप न लिखा हो, उसे चतुर्भुज बनाना चाहिए और जहाँ आयुध न लिखें हों, उस देवता के अभय और वरदान की मुद्रा दिखानी चाहिए॥ ४५७ ॥

अधः करेतूर्ध्व करे शंखां चक्रंतथां कुशम् ।

पाशंवा डमरुं शूलं कमलं कलशंस्त्रजम् ॥४५८॥

लड्डुकं मातुलुं गंवा वीणा मालांच पुस्तकम् ।

मुखानां यत्न बाहुल्यं तत्र पङ्क्त्या निवेशनम् ४५९

नीचे के हाथ या ऊपर के हाथ में शङ्ख, चक्र, अंकुश, पाश, डमरू, शूल, कमल, कलश, लड्डू, मातुलुङ्ग (बिजोराफल) वीणा माला, पुस्तक आदि जो उचित हों—वे दिखा देने चाहिए। जिस मूर्ति के बहुत से मुख बनाए हों, उनको पंक्ति रूप में लिखंना चाहिए॥ ४५८-४५९ ॥

तत्पृथग्ग्रीव मुकुटं सुमुखं स्वक्षिकर्णयुक् ।

भुजानां यत्र बाहुल्यं न तत्रस्कंध भेदनम् ॥४६०॥

उन प्रत्येक सुन्दर मुख की ग्रीवा, मुकुट, पृथक् २ ढंग से बनाए जाने चाहिए। जिसमें सुन्दर आंख और कान होने उचित

हैं जिस देवता के बहुत सी भुजाओं का विधान हो—उनके स्कन्ध भिन्न २ नहीं बनाते हैं ॥ ४६० ॥

कूर्परोर्ध्वं तु सूक्ष्माणि चिपिटानि दृढानि च ।
भुज मूलानि कार्याणि पद्म मूलानि वैयथा ॥४६१॥

कुहनी के ऊपर का भाग, सूक्ष्म, चिपटा और दृढ़ होना चाहिए। भुजाओं का मूल भी पद्म के सदृश सुन्दर हो ॥ ४६१ ॥

ब्रह्मणस्तु चतुर्दिक्षु मुखानां विनियोजनम् ।
हयग्रीवो वराहश्च नृसिंहश्च गणेश्वरः ॥४६२॥
मुखैर्विनानराकारा नृसिंहश्च नखैर्विना ।
तिष्ठंतीं सूपविष्टां वा स्वासने वाहन स्थिताम् ॥
प्रतिमामिष्ट देवस्य कारयेदुक्त लक्षणाम् ।
हीनश्मश्रु निमेषांच सदा षोडश वार्षिकीम् ॥४६४॥

ब्रह्मा के चारों दिशाओं में चार मुख बनाए जाते हैं। हयग्रीवा, वराह, नृसिंह और गणेश जी इनका—मुख से नीचे का भाग मनुष्य का सा है। नृसिंह की मूर्ति में नख भी मनुष्य के से नहीं बनाए जाते हैं। ये मूर्ति, बैठी हुई, खड़ी हुई, आसन पर स्थित या वाहन पर बैठी हुई बनानी चाहिए। अपने २ इष्ट देव की प्रतिमा इसी ढंग की बनवाई जावे, जिनमें मूँछ दाढ़ी—न हों और सर्वदा सोलह वर्ष की सी प्रतीत हो ॥ ४६२-४६४ ॥

दिव्या भरण वस्त्राढ्यां दिव्यवर्ण क्रियांसदा ।
हीनांग्योनाधिकांग्यश्च कर्त्तव्या देवताः क्वचित् ४६५॥

इन मूर्तियों के आभूषण, वस्त्र, वर्ण और क्रिया दिव्य होनी चाहिए। हीन अङ्ग वाली या अधिक अङ्गवाली प्रतिमा कभी नहीं बनवानी चाहिए।। ४६५ ।।

हीनांगी स्वामिनं हंति ह्यधिकांगीच शिल्पिनम् ।
कृशा दुर्भिक्षदानित्यं स्थूला रोग प्रदासदा ४६६।।

हीन अङ्गवाली—स्वामी का नाश करती है, अधिक अङ्गवाली शिल्पी को मारती है। कृश मूर्ति दुर्भिक्ष और स्थूल मूर्ति राष्ट्र में रोग खड़ा कर देती हैं।। ४६६ ।।

गूढ संध्यस्थि धमनीसर्वदा सौख्य वर्धिनी ।
वराभयाब्ज शंखाढ्यहस्ता विष्णोश्च सात्त्विकी ४६७।।

जिस मूर्ति की संधि (जोड़) अस्थि और धमनी (नाड़ी) छुपी हुई होती है, वह सुख बढ़ाने वाली है। वरदान और अभय मुद्रा वाली तथा कमल और शङ्ख से सुशोभित हाथ वाली विष्णु की मूर्ति कहाती है।। ४६७।।

मृग वाद्या भयवरहस्ता सोमस्य सात्त्विकी ।
वरा भयाब्जलड्डूक हस्ते भास्यस्य सात्त्विकी ।।४६८।।

मृग, वाघ, अभय और वरदान विभूषित, चन्द्रमा की मूर्ति सत्व गुण सम्पन्न होती है। वर, अभय कमल और लड्डू हाथ में रखने वाली गणेश की मूर्ति बनायी जाती है। यह भी सात्विकी है।। ४६८ ।।

पद्ममाला भयवरकरा सत्त्वाधिकारवेः ।
वीणा लुंगाभयवरकरा सत्त्व गुणाश्रिया: ॥४६९॥
शंख चक्र गदा पद्मै रायुधै रादितः पृथक् ।
षट्षट् भेदाश्च मूर्तीनां विष्णवादीनां भवंतिहि ४७०॥

पद्ममाला, अभय—और वर हाथ में रखने वाली सत्वगुण प्रधान सूर्य का मूर्ति-होती है। वीणा, मातुलुङ्ग (फल) अभय और वरदान-हाथों में रखने वाली सत्वगुण प्रधान लक्ष्मी की मूर्ति होती है। शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म आदि आयुधों के भिन्न २ भेदों से विष्णु आदि मूर्तियों के छः छः भेद हो जाते हैं।४६९-४७०।

यथोपाधि प्रभेदेन ससंयोग विभागतः ।
समस्त व्यस्तवर्णादि भेदज्ञानं प्रजायते ॥४७१॥

जिस मूर्ति की जो उपाधि है या जिन शस्त्र आदि का संयोग या वियोग है तथा समस्त या पृथक् २ वर्ण हैं, इससे उनके वर्ण आदि के भेद का पता लगता है ॥४७१॥

लेख्या लेप्यासैकतीचमृन्मयी पैष्टिकी तथा ।
एतासां लक्षणा भावेनकैश्चिद्दोष ईरितः ॥४७२॥

चित्र, लिपी, रेता, मिट्टी और आटे की जो मूर्तियां बनायी जाती हैं, उनमें यदि कोई न्यूनता भी रह जावे-तो दोष नहीं है ॥ ४७२ ॥

बाणलिंगे स्वयं भूते चंद्रकांत समुद्भवे ।
रत्नजेगंडिकोद्भूते मानदोषोन सर्वथा ॥४७३॥

स्वयं उत्पन्न या चन्द्रकान्त से मणि से बने हुए बाण संज्ञक लिङ्ग में तथा रत्नोद्भव शिव लिङ्ग या गण्डिकी नदी के शालग्राम में पूर्वोक्त प्रमाण की न्यूनता का दोष नहीं है ॥ ४७३ ॥

पाषाण धातुजायांतु मान दोषान्विचिंतयेत् ।
श्वेत पीता रक्त कृष्णा पाषाणैर्युग भेदतः ॥४७४॥

पाषाण और धातु से बनी हुई, प्रतिमाओं में पूर्वोक्त प्रमाण की न्यूनता का विचार किया जाता है । श्वेत, पीत रक्त, कृष्ण-ये पाषाण प्रत्येक युग में भिन्न २ ग्रहण करने चाहिए ॥ ४७४ ॥

प्रतिमां कल्पयेच्छिल्पी यथा रुच्यपरैः स्मृता ।
श्वेता स्मृता सात्विकीतु पीतारक्तातु राजसी ॥४७५॥
तामसी कृष्णवर्णातु ह्यक्तलक्षमयुता यदि ।
सौवर्णी राजती ताम्री रैतिकी वा कृतादिषु ॥४७६॥

बहुत से लोगों का मत है, कि शिल्पी अपनी रुचि के अनुसार पाषाण की प्रतिमा बनावे । श्वेत मूर्ति सात्विकी, पीत और रक्त रजोगुणी तथा कृष्ण वर्ण की तामसी प्रतिमा होती है । ये पूर्वोक्त लक्षणों वाली होनी चाहिए । सुवर्ण की सत्युग में, त्रेता में चाँदी की, द्वापर में तांबे की और कलियुग में पीतल की मूर्ति होनी चाहिए ॥ ४७५-४७६ ॥

शांकरी श्वेत वर्णावा कृष्ण वर्णातु वैष्णवी ।
सूर्य शक्तिगणेशानां ताम्रवर्णा स्मृतापि च ॥४७७॥

लौहीसीस मयी वापि यथोद्दिष्टा स्मृताबुधैः ।
चलार्चायां स्थिरार्चायां प्रासादाद्युक्त लक्षणम् ॥
प्रतिमां स्थापयेन्नान्यां सर्व सौख्य विनाशिनीम् ।
सेव्य सेवक भावेषु प्रतिमा लक्षणं स्मृतम् ॥४७९॥

भगवान् शंकर की श्वेत वर्ण, विष्णु की कृष्ण वर्ण, सूर्य, शक्ति, और गणेश की ताम्रवर्ण की मूर्ति होनी चाहिए। लोहे, सीसे, आदि की भी पूर्वोक्त लक्षणों वाली मूर्ति बनायी जा सकती है। चल मूर्ति की पूजा या स्थिर मूर्ति की पूजा के विषय में जैसे मन्दिरों के बनाने का विधान किया है, वैसा बनावे। इनमें मन्दिर के अनुसार प्रतिमा की स्थापना करे अन्यथा सुख का नाश होता है। सेवा सेवक भाव की भक्ति के सम्बन्ध में यह प्रतिमाओं का लक्षण, कहा है ॥ ४७७-४७९ ॥

प्रतिमायाश्च ये दोषा ह्यर्चकस्य तपो बलात् ।
सर्वत्रेश्वर चित्तस्य नाशं यांति क्षणात्किल ॥४८०॥

जो प्रतिमा की रचना में दोष रह जाते हैं, वे ईश्वर के ध्यान में परायण, पूजन करने वाले के तपोबल से क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं ॥ ४८० ॥

देवतायाश्च पुरतो मंडपे वाहनं न्यसेत् ।
द्वि बाहुर्गरुडः प्रोक्तः सुचंचुः स्वक्षि पक्षयुक् ॥४८१॥
नरा कृतिश्चंचुमुखो मुकुटीकवचां गदी ।
बद्धांजली र्नम्रशीर्षः सेव्य पादाब्ज लोचनः ॥४८२॥

देवता के आगे मण्डप में वाहन की स्थापना करे दो बाहु, सुन्दर चोंच, आंख और पत्तों वाला गरुड़, विष्णु का वाहन होता है। इस गरुड़ का नर के समान आकार, मुख पर चोंच धारी, मुकुट, कवच और अङ्गद से विभूषित होता है। यह हाथ जोड़े और शिर झुकाये हुए अपने स्वामी के सन्मुख स्थित हो तथा उसके चरण कमलों में इसकी आँखें गढ़ी होनी चाहिए ॥ ४८१-४८२ ॥

वाहनत्वं गता येये देवतानांच पक्षिणः ।
काम रूप धरास्तेते तथासिंह वृषादयः ॥४८३॥

जिस २ देवता के जो २ पक्षी वाहन बने हैं, वे सब काम रूपधारी होते हैं, इससे गरुड़ आदि के आकार नराकार माने हैं। ऐसे ही देवी का सिंह और शङ्कर का वृष वाहन समझो ॥ ४८३॥

स्वनामा कृतयश्चैते कार्यादिव्या बुधैः सदा ।
सुभूषिता देवताग्र मंडपे ध्यान तत्पराः ॥४८४॥

अपने शरीर की मूर्ति के सन्मुख बुद्धिमानों को ऐसी दिव्य बनवानी चाहिए, जो बड़ी विभूषित होकर देवता के मण्डप में हाथ जोड़कर ध्यान में तत्पर होवे ॥४८४॥

मार्जाराकृतिकः पीतः कृष्ण चिह्नोबृहद्वपुः ।
असटो व्याघ्र इत्युक्तः सिंहः सूक्ष्मकटिर्महान् ॥४८५॥

बिलाव की सी आकृति वाला, पीतवर्ण और काले टिमकनों से युक्त, विशाल काग, ग्रीवा के बालों से हीन व्याघ्र बनाना

चाहिए, जिसकी सूक्ष्म कटि हो और विशाल-शरीर हो। वह सिंह होता है ॥ ४८५ ॥

बृहद्भ्रू गंड नेत्रस्तु भाल रेखो मनोहरः।
सटावान्धूसरोऽकृष्ण लांछनश्च महाबलः ॥४८६॥
भेदः सटालांछनतोनाकृत्या व्याघ्र सिंहयोः ।

जिसकी भृकुटी, गण्डस्थल, नेत्र बड़े हों मस्तक पर रेखा हों और जो मनोहर हो। जिसके गर्दन में बाल हों-धूसर वर्ण हो, कृष्ण चिन्हों से युक्त हो-वह महाबली सिंह माना गया है। व्याघ्र और सिंह की आकृति में भेद नहीं होता, उनमें तो ग्रीवा की लटा (बाल) और लाञ्छनों (टिमकनों का ही भेद है ।४८६।

गजाननं नराकारं ह्रस्त कर्णपृथूदरम् ॥४८७॥
बृहत्संक्षिप्त गहन पीनस्कंधांघ्रि पाणिनम् ।
बृहच्छुंडं भग्नवामरदमिच्छिता वहनम् ॥४८८॥

गजानन की मूर्ति, नराकार बनायी जावे, जिसके कान छोटे और पेट बड़ा होना चाहिए। इस मूर्ति के बड़े संक्षिप्त, गहन, और पुष्ट स्कन्ध हाथ और पैर होते हैं। बड़ी सूंड, टूटा हुआ बांया दांत और यथेच्छ (मूषक) वाहन होता है॥ ४ ७-४८८ ॥

ईषत्कुटिल दंडाग्र वामशुंडम दक्षिणम् ।
संध्यस्थि धमनी गूढं कुर्यात्मानमितं सदा ॥४८६॥

सूंड का अगला भाग कुछ कुटिल होना चाहिए जो बांयी ओर झुका हो। दांयी ओर नहीं होना चाहिए। सन्धि–अस्थि, धमनी ये सब गुप्त हों, जो नांप के अनुसार बनायी गई हों॥ ४८९॥

सार्धश्चतुस्तालमितः शुंडादंडः समस्ततः ।
दशांगुलं मस्तकंच भ्रू गंडश्चतुरं गुलः ॥४९०॥

साढ़े चार ताल के प्रमाण का शुण्डा-दण्ड कहा गया है। दश अंगुल का मस्तक और चार अंगुल का भ्रूगण्ड होना चाहिए॥ ४९० ॥

नासोत्तरोष्ठ रूपाच शेषा शुंडास पुष्करा ।
दशांगुलं कर्णादघ्यंतदष्टांगुल विस्तृतम् ४९१॥

नासिका ऊपर को ओष्ठ के स्वरूप की हो। सूंड का शेष भाग पुष्कर सहित होना चाहिए। कानों की लम्बाई दश अंगुल और चौडाई आठ अंगुल होनी चाहिए॥ ४९१ ॥

कर्णयोरंतरे व्यासोद्यंगुलस्ताल संमितः ।
मस्तकेऽस्यैव परिधिर्ज्ञेयः षट्त्रिंशदंगुलः ॥४९२॥

दोनों का अन्तर (फ़ासला) एक ताल और दो अंगुल का माना है। इसके मस्तक की परिधि छत्तीस अंगुल की मानी गई है॥ ४९२ ॥

नेत्रोपांतेच परिधिः शीर्षतुल्यः सदामतः ।
सद्र्यंगुलद्वितालः स्यान्नेत्राधः परिधिः करे॥४९३॥

नेत्रों के समीप की परिधि शिर के तुल्य छत्तीस अंगुल होती है नेत्र के नीचे की सूंड की परिधि, दो अंगुल और दो ताल की होनी चाहिए ॥ ४६३ ॥

कराग्रे परिधिर्ज्ञेयः पुष्करेच दशांगुलः ।
त्र्यंगुलं कंठदैर्घ्यं तत्परिधिस्त्रिशदंगुलः ॥४६४॥

सूंड के अग्रभाग की पुष्कर सहित परिधि दश अंगुल की मानी गई है। कण्ठ की लम्बाई तीन अंगुल, और उसकी परिधि तीस अंगुल की मानी गई है ॥ ४६४ ॥

परिणाहस्तूदरेच चतुस्तालात्मकः सदा ।
षडंगुलोनियोक्तव्योष्टांगुलोवापि शिल्पिभिः ॥४६५॥

गणेश जी की मूर्ति के उदर का विस्तार चार ताल का होना चाहिए। शिल्पी चाहे, तो उसको छः अंगुल या आठ अंगुल और बढ़ा सकते हैं ॥ ४६५ ॥

दंतः षडंगुलो दीर्घस्तन्मूल परिधिस्तथा ।
षडंगुलश्चाधरोष्ठः पुष्करं कमलान्वितम् ॥४६६॥

छः अंगुल लम्बा दांत और उसकी परिधि [घेरा] भी छः अंगुल की ही मानी है। नीचे का ओष्ठ भी छः अंगुल का होता है, सूंड का अग्रभाग कमलाकार बनाना योग्य है ॥ ४६६ ॥

ऊरु मूलस्य परिधिः षट्त्रिंशदंगुलोमतः ।
त्रयो विंशत्यंगुलः स्यादूर्वग्र परिधिस्तथा ॥४६७॥

ऊरु [जंघा] मूल की परिधि छत्तीस अंगुल की होती है। जंघा के अग्रभाग की परिधि तेईस अंगुल की मानी गई है ॥ ४९७ ॥

जंघा मूलेतु परिधिर्विंशत्यंगुल संमितः ।
परिधि र्बाहु मूलादेरधिकोद्व्यंगुलोंगुलः ॥४९८॥

जंघा [पिंडली] के मूल की परिधि बीस अंगुल की होती है। तथा बाहु मूल की परिधि, बाईस अंगुल और अग्रभाग की इक्कीस अंगुल मानी है ॥ ४९८ ॥

कर्ण नेत्रां तरं नित्यं विज्ञेयंचतुरंगुलम् ।
मूल मध्याग्रांतरंतु दश सप्त षडंगुलम् ॥४९९॥
नेत्रयोः कथितं तज्ज्ञैर्गणपस्य विशेषतः ।

कान और नेत्रों का अन्तर [फासला] चार अंगुल का होता है। गणेश जी के नेत्रों के मूल, मध्य और अग्रभाग का अन्तर दश, सात और छः अंगुल का विद्वानों ने माना है ॥४९९॥

उत्सेधः पृथुता स्त्रीणां स्तने पंचांगुलामता ॥५००॥
स्त्रीकट्यां परिधिः प्रोक्तस्त्रि तालो द्व्यंगुलाधिकः ।
स्त्रीणामवयवान्सर्वान्सप्तताले विभावयेत् ॥५०१॥
सप्त तालादि मानेपि मुखं स्व द्वादशांगुलम् ।
बालादीनामपि सदा दीर्घतातु पृथक्पृथक् ॥५०२॥

स्त्री मूर्ति के स्तनों की ऊँचाई और पुष्टि, पांच अंगुल की होनी चाहिए। स्त्रियों के कमर की परिधि तीन ताल और दो

अंगुल अधिक मानी गई है। स्त्री के अन्य सारे अवयव सात ताल के होते हैं। सात ताल के प्रमाण में भी मुख बारह अंगुल का होता है। स्त्रियों के बालों की लम्बाई भी भिन्न २ मानी गई है॥ ५००-५०२॥

शिशोस्तुकंधराह्स्वापृथुशीर्षंप्रकीर्तितम्।
कंठाधोवर्धतेयाद्वक्ताद्वक्छोर्षंनवर्धते॥५०३॥

बालक मूर्ति की ग्रीवा छोटी और शिर बड़ा होता है। कण्ठ से नीचे बालक जितना बढ़ता है, उतना उसका शिर नहीं बढ़ता है॥ ५०३॥

कंठाधोमुखमानेनवृत्तसार्धंचतुर्गुणम्।
द्विगुणः शिश्नपर्यंतोह्यधः शेषंतुसक्थितः॥५०४॥
सपादद्विगुणौहस्तौद्विगुणौवामुखेनहि।
स्थौल्येतु नियमोनास्ति यथा शोभिप्रकल्पयेत्॥५०५

कण्ठ के नीचे, मुख प्रमाण से गुलाई के साथ चौगुनी वृद्धि होती है लिङ्ग पर्यन्त दुगुनी तथा इससे नीचे का भाग टांगों से लेकर चरण तक सवा दोगुना और हाथ मुख से दुगुने बढ़ते हैं। बालक मूर्ति की स्थूलता का कोई नियम नही है। जिस तरह आकार सुन्दर बन सके, शिल्पी बना लेवे॥ ५०४-५०५॥

नित्यं प्रवर्धतेबालः पंचाब्दात्परतोभृशम्।
स्यात्षोडशेब्दे सर्वांगः पूर्णस्त्रीविंशतौपुमान्॥५०६॥

पांच वर्ष की आयु के चलते ही बालक बहुत बढ़ने लगता है। सोलह वर्ष की अवस्था में स्त्री और बोस वर्ष की अवस्था में पुरुष पूर्णाङ्ग होजाता है ॥ ५०६ ॥

ततोर्हति प्रमाणंतु सप्ततालादिकंसदा ।
कश्चिद्बाल्येपि शोभाढ्यस्तारुण्येवार्धकेक्कचित् ॥५०७॥

इस अवस्था में मूर्ति का प्रमाण सात ताल हो जाता है। कोई बालकपन कोई योवन और कोई वृद्धावस्था में मूर्ति सुन्दर दिखाई देती है ॥ ५०७ ॥

मुखा धस्त्र्यंगुलाग्रीवा हृदयंतु नवांगुलम् ।
तथोदरंच बस्तिश्च सक्थित्वष्टा दशांगुलम् ॥०८॥

मुख के नीचे ग्रीवा तीन अंगुल और हृदय-नो अंगुल का होता है। इसी तरह-उदर, वस्ति स्थान और टांग अट्ठारह अंगुल प्रमाण की मानी गई है॥ ५०८ ॥

त्र्यंगुलंतु भवेज्जानु जंघात्वष्टा दशांगुला ।
गुल्फा धस्त्र्यंगुलंज्ञेयं सप्ततालस्य सर्वदा ॥५०९॥

सात ताल की मूर्ति की तीन अंगुल जानु (जोड़ा) अट्ठारह अंगुल जंघा (पिण्डली) तथा जुलफ (टखनों) के नीचे का भाग, तीन अंगुल का बनाया जावे ॥ ५०९ ॥

वेदांगुला भवेद्ग्रीवा हृदयंतु दशांगुलम् ।
दशांगुलं चोदरंस्याद्वस्तिश्चैव दशांगुलः ॥५१०॥

इस मूर्ति की चार अंगुल की ग्रीवा, और हृदय दश अंगुल का होता है उदर तथा वस्ति स्थान भी दश २ अंगुल के ही कहे गये हैं ॥ ५१० ॥

एकविंशांगुलं सक्थि जानुस्याच्चतुरंगुलम् ।
एकविंशांगुला जंघा गुल्फाधाश्चतुरंगुलम् ॥५११॥
अष्टताल प्रमाणस्य मानमुक्तमिदंसदा ।

इक्कीस अंगुल की जंघा और गुल्फ के नीचे का भाग चार अंगुल का होता है। इस प्रकार आठ ताल की मूर्ति के प्रमाण हैं॥ ५११ ॥

त्रयोदशांगुलंज्ञेयं मुखं च हृदयं तथा ॥५१२॥
उदरंच तथा बस्तिर्दशतालेषु सर्वदा ।
गुल्फाधश्च तथा ग्रीवाजानु पंचांगुलं स्मृतम् ॥५१३॥

तेरह अंगुल का मुख, हृदय, उदर और वस्तिस्थान दश अंगुल, गुल्फ से नीचे का भाग, ग्रीवा, जानु-ये पांच २ अंगुल के माने गये हैं ॥ ५१२-५१३ ॥

षड्विंशत्यांगुलं सक्थि तथा जंघा प्रकीर्तिता ।
एकांगुलो मूर्ध्नि मणिर्दशताले प्रकल्पयेत् ॥५१४॥

छब्बीस अंगुल की सक्थि, और इतनी ही जंघा (पिंडली) होती है। एक अंगुल की मस्तक मणि हो। इस प्रकार दश ताल की मूर्ति का प्रमाण माना गया है ॥ ५१४ ॥

पंचाशदंगुलौ बाहू दशताले स्मृतौ सदा।
द्व्यंगुलौद्व्यंगुलौ चोनौततोहीन प्रमाणके ॥५१५॥

दश ताल की मूर्ति की बाहु पचास अंगुल की होती है। उससे न्यून प्रमाण वाले की दो २ अंगुल न्यून प्रमाण वाली भुजा होती है॥ ५१५ ॥

पादाग्रंतु यथा शोभि सर्वमानेषु कल्पयेत्।
नवताल प्रमाणेन ह्यनाधिक्यं प्रकल्पयेत् ॥५१६॥
दशतालेतु विज्ञेयौ पादौ पंच दशांगुलौ।
एकैकांगुल हीनौस्ततस्ततो न्यून प्रमाणके ॥५१७॥

दश ताल आदि तीनों प्रमाणों में मूर्ति का कौशल यही है। कि जिस तरह सुन्दर प्रतीत हो, वैसी ही बनायी जावे। नौ ताल के प्रमाणों में कभी अधिकता नहीं करे, दश ताल के मनुष्य में पन्द्रह अंगुल पैर होने चाहिए। दश ताल से एक २ अंगुल हीन होने पर एक २ अंगुल हीन पैर कर देने चाहिए॥ ५१६-५१७॥

नपंचांगुलतो हीना न षडंगुलतोधिका।
करस्य मध्यमा प्रोक्ता व्युरुमानेषु सद्बुदैः ॥५१८॥

मूर्ति के प्रमाण जानने वाले पुरुषों ने पांच अंगुल से छोटी और छः अंगुल से बड़ी हाथ की मध्यमा अंगुलि नहीं मानी है॥ ५१८॥

क्वचित्तु बाल सदृशं सदैव तरुणं वयः।
मूर्तीनां कल्पयेच्छिल्पी नवृद्ध सदृशं क्वचित् ॥५१९॥

किसी २ तरुण अवस्था वाले की मूर्ति भी बालक की सी बनवायी जाती है। शिल्पी ऐसी मूर्तियों को कभी वृद्धों की सी मूर्ति न बनावे ॥ ५१९ ॥

एवं विधान्नृपोराष्ट्रे देवान्संस्थापयेत्सदा ।
प्रति संवत्सरं तेषामुत्सवान्सम्यगाचरेत् ॥५२०॥

राजा अपने राष्ट्र में ऐसे देवों की स्थापना करे और प्रति वर्ष इन देवताओं का उत्सव करता रहे ॥ ५२० ॥

देवालयेमानहीनां मूर्ति भग्नां न धारयेत् ।
प्रासादांश्च तथादेवाञ्जीर्णानुद्धत्ययत्नतः ॥५२१॥
देवतांतु पुरस्कृत्य नृत्यादीन्वीच्य सर्वदा ।
नमत्तः स्वोपभोगार्थं विद्ध्याद्यत्नतो नृपः ॥५२२॥

देवालय में पूर्वोक्त प्रमाण से हीन तथा खण्डित मूर्ति न रहने देवे। जो देवालय और देवता जीर्ण हो गए—राजा उनका प्रयत्न पूर्वक उद्धार करे। देवता को प्रधान करके राजा नृत्य आदि देख सकता है। परन्तु राजा विषय लिप्त होकर कभी अपने भोगों के लिए नृत्य आदि न देखे। इसका बड़ा ध्यान रखे ॥ ५२१-५२२ ॥

प्रजाभि र्विधृताये येह्युत्सवास्तांश्च पालयेत् ।
प्रजानंदेन संतुष्येत्तद्दुःखै दुःखितो भवेत् ॥५२३॥

प्रजा जिन उत्सवों को करती आरही है राजा उनकी रक्षा करता रहे। राजा प्रजा के आनन्द से सुखी और प्रजा के दुःख से दुःखी होवे ॥ ५२३ ॥

दुष्ट निग्रहणं कुर्याद्व्यवहारानु दर्शनैः ।
स्वाज्ञया वर्तितुं शक्तयाऽधीनाजाताच साप्रजा ॥
स्वेष्टहानिकरः शत्रुर्दुष्टः पाप प्रचारवान् ।
इष्ट संपादनं न्याय्यं प्रजानां पालनं हितत् ॥५२५॥

व्यवहार (मुकद्दमे) में देखकर दुष्टों का निग्रह राजा को करना चाहिए इसी तरह राजा प्रजा को अपने वश में रख सकता है। जो अधीन होती है, वही प्रजा मानी गई है। जो अपने अभीष्ट की हानि करे, वह शत्रु, दुष्ट और पाप के प्रचार वाला—होता है। प्रजा के अभीष्ट का पूरा करना न्याय और पालन कहाता है ॥ ५२५ ॥

शत्रोरनिष्ट करणान्निवृत्तिः शत्रुनाशनम् ।
पापाचार निवृत्तिर्यैर्दुष्ट निग्रहणंहि तत् ॥५२६॥

शत्रु को अपने अनिष्ट करने के योग्य नहीं रहने देने को शत्रु नाश कहते हैं। पापाचारों की निवृत्ति को दुष्ट-निग्रह माना माना जाता है ॥ ५२६ ॥

स्वप्रजा धर्मसंस्थानं सद सत्प्रविचारतः ।
जायतेचार्थ संसिद्धि र्व्यवहारस्तुयेनसः ॥५२७॥

साधु (भले) और असुर (बुरे) का विचार करके अपनी प्रजा को धर्म में सुरक्षित रखे। जिससे अर्थ की सिद्धि हो—वह व्यवहार कहाता है ॥ ५२७ ॥

धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोध लोभ विवर्जितः ।
सप्राड्विवाकः सामात्यः सब्राह्मण पुरोहितः ॥५२८॥
समाहितमतिः पश्येद्व्यवहारानतुक्रमात् ।
नैकः पश्येच्चकार्याणि वादिनोः शृणुयाद्वचः ॥५२६॥

प्राड्विवाक (वकील) अमात्य ब्राह्मण पुरोहित के सहित राजा अपनी बुद्धि को निश्चल करके और क्रोध तथा लोभ से रहित होकर क्रम से व्यवहारों (मुकदमों को देखे। अकेला किसी बात पर विचार न करे और दोनों ओर वादी-प्रतिवादियों की युक्ति प्रत्युक्ति को अच्छी तरह राजा सुने ॥ ५२८-५२६॥

रहसिचनृपः प्राज्ञः सभ्याश्चैव कदाचन ।
पक्षपाताधिरोपस्य कारणानिच पंचवै ॥५३०॥
राग लोभ भय द्वेषा वादिनोश्चरहः श्रुतिः ।
पौर कार्याणि यो राजान करोति सुखेस्थितः ॥५३१॥
व्यक्तंस नरके घोरे पच्यते नात्र संशयः ।

राजा, या राजाधिकारी कभी गप चुप-अभियोगों का निर्णय न करे। पक्षपात हो जाने-के राग, द्वेष, लोभ, भय तथा एकान्त में वादी प्रतिवादी के वचन सुनना ये पांच कारण माने गये हैं जो राजा अपने आनन्द में निमग्न रहकर पुरवासियों की रक्षा नहीं करता-वह नरक में-पकाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५३०-५३१॥

यस्त्व धर्मेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्नराधिपः ॥५३२॥
अचिरात्तंदुरात्मानं वशे कुर्वंति शत्रवः ।

जो राजा, अज्ञान में फँसकर मोह से अधर्म पूर्ण कार्य करता है । उस राजा को शत्रु बहुत शीघ्र अपने वश में कर लेते हैं ॥ ५३२ ॥

अस्वर्ग्या लोकनाशाय परानीक भयावहाः ॥५३३॥
आयुर्बीज हरी राज्ञामस्ति वाक्ये स्वयं कृतिः ।
तस्माच्छास्त्रानुसारेण राजा कार्याणि साधयेत् ॥

स्वर्ग की नाशक, लोक कीर्ति विनाशक, शत्रु सेनाको भय देने वाली तथा आयु के बीज को हरने वाली स्वयं उत्पादित शक्ति राजा में होती हैं, इसलिए राजा को मनमुखी पन को छोड़कर शास्त्रानुसार चलना उचित है ॥ ५३३-५३४ ॥

यदानकुर्यान्नृपतिः स्वयं कार्य विनिर्णयम् ।
तदा तत्र नियुंजीत ब्राह्मणं वेदपारगम् । ५३५॥
दांतं कुलीनं मध्यस्थमनुद्वेग करं स्थिरम् ।
परत्रभीरुं धर्मिष्ठमुद्युक्तं क्रोध वर्जितम् ॥५३६॥

जब राजा स्वयं कार्य निर्णय करने में असमर्थ हो, उस समय वेद पारगामी ब्राह्मण को काम के निर्णय पर लगाना चाहिए। जो ब्राह्मण, जितेन्द्रिय, कुलीन, पक्षपात हीन, झिड़कन-नहीं देने वाला, स्थिर बुद्धि, परलोक का भय मानने वाला, धर्मात्मा, उद्योगी, और क्रोध रहित होना चाहिए ॥ ५३५-५३६ ॥

यदा विप्रोन विद्वान्स्यात्क्षत्रियं तन्नियोजयेत् ।
वैश्यंवा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥५३७॥

यदि ऐसा ब्राह्मण नहीं मिल सके—तो क्षत्रिय को इस काम पर लगाया जावे । अथवा धर्मशास्त्र के ज्ञाता वैश्य को-लगादे-परन्तु शूद्र को ऐसे स्थान पर नियुक्त न करे-राजा इसका अच्छी तरह ध्यान रखे ॥ ५३७ ॥

यद्वर्णजो भवेद्राजा योज्यस्तद्वर्णजः सदा ।
तद्वर्ण एव गुणिनः प्रायशः संभवंतिहि ॥५३८॥

राजा जिस वर्ण का हो, उसी वर्ण के प्रतिनिधि को अपने स्थान पर निर्णय को लगावे । क्योंकि प्रायः उसी वर्ण में लोग गुणवान होते हैं ॥ ५३८ ॥

व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्त शील गुणान्विताः ।
रिपौमित्रे समायेच धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥५३९॥
निरालसा जित क्रोध काम लोभाः प्रियंवदाः ।
राज्ञा नियोजित व्यास्तेसभ्याः सर्वासु जातिषु ॥५४०॥

व्यवहार (मुकद्मों) के नियम (कानून) को जानने वाले, विद्वान, सदाचार सम्पन्न, शीलवान, गुण युक्त, शत्रु मित्र में उदासीन, धर्म के ज्ञाता, सत्यवादी, आलस्य हीन, काम, क्रोध और लोभ के विजेता, प्रिय भाषी, जो पुरुष हों-उनको सभ्य (निर्णायक) बनावे । इसमें किसी-जाति का पक्षपात नहीं रखा गया है ॥ ५३९-५४० ॥

कीनाशाः कारुकाः शिल्पि कुसीदिश्रेणि नर्तका ।
लिंगिनस्तस्कराः कुर्युः स्वेन धर्मेण निर्णयम् ॥५४१॥

अशक्यो निर्णयोह्यन्यैस्तज्जैरेवतु कारयेत् ।
आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतांमिथः ॥५४२॥
नविब्रूयान्नृपो धर्मे चिकीर्षुर्हितमात्मनः ।
तपस्विनांतु कार्याणि त्रैविद्यैरेव कारयेत् ॥५४३॥

कीनाश (हिंसक) कारीगर, शिल्पी, ब्याज खाने वाले, अपनी २ पञ्चायत वाले, नर्तक, सन्यासी, चोर—ये भी अपने धर्म को साक्षी बनाकर स्वयं परस्पर निर्णय कर लिया करें। इनका निर्णय अन्य से नहीं होता है, इससे इनकी जाति वाले ही करें। जो द्विजाति अपने २ आश्रय रह कर अपने २ काम के विषय में झगड़ते हों-धर्म का अभिलाषी-राजा अपना हित चाहे तो-इनके निर्णय में अन्याय नहीं करे। तपस्वियों (वानप्रस्थियों) के कार्य को तो वेदपाठी ब्राह्मणों से करवा देवे ॥ ५४१-५४३ ॥

माया योग विदांचैव न स्वयं कोप कारणात् ।
सम्यग्विज्ञान संपन्ने नोपदेशं प्रकल्पयेत ॥५४४॥
उत्कृष्ट जाति शीलानां गुर्वाचार्य तपस्विनाम् ।
आरण्यास्तु स्वकैः कुर्युः सार्थिकाः सार्थिकैः सह ॥

मायावी [जादूगर] और योग [तन्त्र] जानने वालों के

काम को राजा स्वयं न करे। क्योंकि वे कुपित हो जाते हैं। जो उत्तम ज्ञान से संयुक्त है, उसको उपदेश न करे तथा अपने से उत्तम जाति वाले, गुरु आचार्य और तपस्वी को भी कोई उपदेश न देवे। वनवासी अपने २ कामों को अपने साथियों के साथ मिलकर लेवे ॥ ५४४-५४५ ॥

सैनिकाः सैनिकैरेव ग्रामेष्वुभय वासिभिः ।
अभियुक्ताश्च ये यत्र यन्निबंधं नियोजयेत् ॥५४६॥
तत्रत्य गुण दोषाणातएवहि विचारकाः ।
राजातु धार्मिकान्सभ्यान्नियुंज्यात्सुपरीक्षितान् ५४७॥

सैनिक लोग, सैनिकों से और ग्रामवासी ग्राम और वनवासियों के साथ अपने निर्णय करा-सकते हैं। राजा ने जिनको जहाँ नियुक्त कर दिया, जो उनका कार्य नियत कर-दिया हो, उस विषय के गुण दोषों के विचारने वाले वे ही होते हैं। राजा तो अच्छी तरह परीक्षा करके अधिकारी नियत कर देवे।५४६-५४७।

व्यवहार धुरंवोढुं ये सक्ताः पुंगवा इव ।
लोक वेदज्ञ धर्मज्ञाः सप्तपंच त्रयोपिवा ॥५४८॥

जो सभ्य (जज) व्यवहार (मुकद्दमों) की धुर के ले जाने में बलवान् बैल की तरह समर्थ हों—वे लोक नीति और धर्म के जानने वाले, तीन, पांच या सात की संख्या में निर्णायक नियत होने चाहिए ॥ ५४८ ॥

यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सायज्ञसदृशी सभा।
श्रोतारो वणिजस्तत्र कर्तव्याः सुविचक्षणाः ॥५४९॥

जिस सभा में ब्राह्मण उपदेष्टा होकर बैठे हों—वह सभा यज्ञ के सदृश मानी गई है। उस सभा में अच्छे समझदार वैश्य श्रोता होने चाहिए ॥ ५४९ ॥

अनियुक्तो नियुक्तोवा धर्मज्ञोवक्तुमर्हति।
दैवींवाचं सवदतियः शास्त्रमुपजीवति ॥५५०॥

सभा में धर्म के निर्णय पर नियुक्त किया हो या न किया हो, धर्म का जानने वाला, वहाँ बोलकर अपनी सम्मति प्रकट कर सकता है। जो शास्त्र को लेकर बोलता है, वह दैवी वाणी का बोलने वाला कहाता है ॥ ३५० ॥

सभावान प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वासमंजसम्।
अब्रुवन्विब्रुवंश्चापिनरो भवति किल्बिषी ॥५५१॥

मनुष्य या तो सभा में जावे—नहीं जावे, तो अयतार्थ बात न कहे, जो सत्य बात को देखकर चुप रहे या सत्य के विरुद्ध बोले तो वह मनुष्य पापी होता है ॥ ५५१ ॥

राज्ञाये विदिताः सम्यक्कुल श्रेणिगणादयः।
साहसस्तेयवर्जानिकुर्युः कार्याणिते नृणाम् ॥५५२॥

राजा जिन उत्तम कुलों के श्रेणी (पञ्चायत) या गणों (बोर्ड) को अच्छी तरह जानता हो, उनको गांव के झगड़े निबटाने पर

लगावे। वे डाके और चोरी के अभियोगों को छोड़ कर अन्य छोटे मोटे प्रजा के कार्यों को करें ॥ ५५२ ॥

विचार्य श्रेणिभिः कार्यंकुलैर्यन्न विचारितम् ।
गणैश्च श्रेण्यविज्ञातं गणाज्ञातं नियुक्तकैः ॥५५३॥

जिस कार्य का विचार कुल के द्वारा न हो सके उसे पञ्चायत करे और जिसको पञ्चायत भी न कर सके उसको राजा का नियत किया हुआ गण (बोर्ड) निर्णय करे। जब किसी कार्य का गण भी निर्णय करने में असमर्थ हो—तो राजा के अधिकारी उसका फैसला देवे ॥ ५५३ ॥

कुलादिभ्योधिकाः सभ्यास्तेभ्योऽध्यक्षोधिकःकृतः ।
सर्वेषामधिको राजा धर्माधर्म नियोजकः ॥५५४॥

कुल, श्रेणी और गण से अधिक योग्यता वाले सभ्य (मुंसिफ) माने गये हैं। सभ्यों से अधिक शक्तिशाली अध्यक्ष [मजिस्ट्रेट] है। इन सब से अधिक धर्म अधर्म का निबटाने वाला राजा होता है ॥ ५५४ ॥

उत्तमाऽधम मध्यानां विवादानां विचारणात् ।
उपर्युपरि बुद्धीनां चरंतीश्वर बुद्धयः ॥५५५॥

जब उत्तम, मध्यम और अधम विवादों का विचार होता है, तो इन सबके ऊपर राजाओं की बुद्धि अधिक मानी गई है ॥ ५५५ ॥

एकं शास्त्रमधीयानोन विंद्यात्कार्य निर्णयम् ।
तस्माद्बह्वागमः कार्योविवादेषूत्तमो नृपैः ॥५५६॥

एक शास्त्र का पढ़ा हुआ विद्वान किसी अभियोग के निर्णय में कुशल नहीं हो सकता है, इसलिए व्यवहारों के निर्णय में राजा को बहुत शास्त्रों का विद्वान नियुक्त करना चाहिए ॥ ५५६ ॥

सब्रूतेयं सधर्मः स्यादेकोवाध्यात्म चिन्तकः ।
एकद्वित्रि चतुर्वारं व्यवहारानु विंतनम् ॥५५७॥

जो आत्मा को साक्षी करके व्यवहारों [मुकद्दमों] का निर्णय देता है, वही धर्म होता है। एक व्यवहार की पड़ताल एक दो और तीन वार होनी चाहिए ॥ ५५७ ॥

कार्यं पृथक्पृथकसभ्यै राज्ञा श्रेष्ठोत्तरैः सह ।
अर्थि प्रत्यर्थि नौसभ्यैर्लेखक प्रेक्षकांश्चयः ॥५५८॥
धर्मवाक्यैरंजयति सभ्यस्तारयिताभयात् ।

ऊँचे नीचे, सभ्यों [छोटे अफसरों] के साथ राजा पृथक् २ श्रेणी के कामों की चिन्ता करे। सभ्यों [अफसरों] के साथ अर्थी प्रत्यर्थी [मुदई- मुदाअला] लेखक, प्रेक्षक इन सब को जो राजा या अफसर धर्मानुसार निर्णय से रञ्जित कर देता है, वह अफसर या राजा, प्रजा का भय से उद्धार करता है ॥ ५५८ ॥

नृपोधिकृत सभ्याश्चस्मृतिर्गणक लेखकौ ॥५५९॥
हेमाग्न्यं बुस्व पुरुषाः साधनां गानिवैदश ।

एतद्दशांग करणंयस्या मध्यस्य पार्थिवः ॥५६०॥
न्यायान्यायध्ये कृतमतिः सासमोध्वर सन्निमा।
दशानामपिचैतेषां कर्म प्रोक्तं पृथक्पृथक् ॥५६१॥

राजा, अधिकारी, सभ्य, स्मृति कराने वाले, गणक [हिसाब-कर्ता] लेखक, सुवर्ण, अग्नि, जल, और राज पुरुष-ये दश राजा के निर्णय करने के अङ्ग हैं। इनकी सभा में बैठ कर राजा न्याय और अन्याय को पृथक् २ कर देता है। सत्य न्याय करने वाली ऐसी सभा तो यज्ञ मण्डप समझनी चाहिए। इन दशों के काम भी पृथक् २ कहे गये हैं॥ ५५९-५६१॥

वक्ताध्यक्षोनृपः शास्तासभ्याः कार्यपरीक्षकाः।
स्मृतिर्विनिर्णयं ब्रूतेजयंदानंदमं तथा ॥५६२॥
शपथार्थे हिरण्याग्नी अंबुतृषित क्षुब्धयोः।
गणकोगणयेदर्थं लिखेन्न्यायंच लेखकः ॥५६३॥

अध्यक्ष तो राजा की आज्ञा को पढ़कर सुनावे। राजा आज्ञा प्रदान करे। सभ्य [अफसर] उस आज्ञा के माने जाने रूप कार्य की पड़ताल करें। स्मृति नामक अफसर धर्म व्यवस्था जय, दान दम आदिका वक्ता होता है। शपथ दिलानेको तप्त सुवर्ण और अग्नि होते हैं। भूखे और प्यासे को जल रखा रहता है। गणक [खजाञ्ची] द्रव्य की गणना रखे और लेखक सब कुछ भिन्न २ बातों को लिखें॥ ५६२-५६३॥

शब्दाभिधानतत्त्वज्ञौ गणना कुशलौशुची ।
नानालिपिज्ञौ कर्तव्यौ राज्ञागणक लेखकौ ॥५६४॥

राजा गणक और लेखक ऐसे रखे, जो शब्द-और लिपी के तत्व को जानते हों । गणना (हिसाब) में कुशल और शुचि [ईमानदार] हों । ये अनेक भाषाओं के ज्ञाता, होने चाहिए ॥ ५६४ ॥

धर्मशास्त्रानुसारेण अर्थशास्त्र विवेचनम् ।
यत्राधिक्रियते स्थाने धर्माधिकरणं हितत् ॥५६५॥

जिस स्थान पर धर्म शास्त्र के अनुसार राजनीति का कार्य होता है, उस स्थान को धर्माधिकरण कहते हैं ॥ ५६५ ॥

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सहपार्थिवः ।
मंत्रज्ञैर्मंत्रिभिश्चैव विनोतः प्रविशेत्सभाम् ॥५६६॥

व्यवहारों [मुकदमों] का देखने वाला राजा, ब्राह्मणों तथा मन्त्र देने की सामर्थ्य रखने वाले मन्त्रियों के साथ अपनी धर्म सभा में प्रविष्ट होवे ॥ ५६६ ॥

धर्मासनमधिष्ठाय कार्य दर्शन मारभेत ।
पूर्वोत्तरसमो भूत्वा राजा पृच्छेद्विवादिनोः ॥५६७॥

वहाँ पर धर्मासन पर बैठकर राज्य-कार्यों का देखना आरम्भ करे । आरम्भ और अन्त दोनों में एक सा रह कर दोनों अर्थी और प्रत्यर्थी से विवाद के सम्बन्ध में प्रश्न करे ॥ ५६७ ॥

प्रत्यहंदेश दृष्टैश्चशास्त्र दृष्टैश्चहेतुभिः ।

जातिजानपदान्धर्मान्छ्रेणि धर्मास्तथैवच ॥६६८॥

समीक्ष्य कुलधर्मांश्चस्वधर्मं प्रतिपालयेत् ।

राजा प्रति दिन, देश की रीति, शास्त्र मर्यादा तथा अन्य हेतुओं के साथ कुल धर्म, राष्ट्र धर्म, जाति धर्म, श्रेणि धर्मों, को देख कर अपने धर्म का पालन करे ॥ ५६८ ॥

देश जाति कुलानांचयेधर्माः प्राक्प्रवर्तिताः ॥५६६॥

तथैवते पालनीयाः प्रजाप्रचुभ्यतेन्यथा ।

देश, जाति और कुल के जो धर्म पूर्व से—चले आरहे हों उनका उसी तरह राजा पालन करे अन्यथा प्रजा—असन्तुष्ट हो जाती है ॥ ५६६ ॥

उदूह्यतेदाक्षिणात्यैर्मातुलस्य सुताद्विजैः ॥५७०॥

मध्यदेशे कर्मकराः शिल्पिनश्च गराशिनः ।

मत्स्यादाश्चनराः सर्वेव्यभिचाररताः स्त्रियः ॥५७१॥

दक्षिण देश में द्विज भी अपने मातुल की कन्या के साथ विवाह कर लेते हैं। मध्य देश में कारीगर और शिल्पी, परस्पर उच्छिष्ट खा जाते हैं। सारे मनुष्य, मछली खाते हैं, और स्त्रियां प्रायः व्यभिचार में परायण हैं ॥ ५७०-५७१ ॥

उत्तरेमद्यपानार्यः स्पृश्यानृणांरजस्वला ।

खशजाताः प्रगृह्णंति भ्रात भार्याम भर्तृकाम् ॥५७२

उत्तर देश में स्त्रियां भी सुरापान करती हैं। मनुष्य, रजस्वलाओं से स्पृश्यास्पृश्य नहीं मानते। खश जाति के लोग, अपने भाई की विधवा स्त्री को अपनी-पत्नी बना लेते हैं ॥ ५७२ ॥

अनेन कर्मणानैते प्रायश्चित्तदमार्हकाः ।
येषांपरंपरा प्राप्ताः पूर्वजैरप्यनुष्ठिताः ॥५७३॥

इन अनुचित कार्यों के कारण भी ये प्रायश्चित या दण्ड के भागी नहीं होते, क्योंकि ये बातें इनके परम्परा से चली आई हैं और इनके पूर्वज भी करते आए हैं ॥ ५७३ ॥

तएवतैर्न दुष्येयुराचारान्नेतरस्यतु ।
न्यायान्पश्येत्तु मध्याह्ने पूर्वाह्णेस्मृति दर्शनम् ।

जो कई पूर्व काल से चले आये हैं, उनसे ही ये दूषित नहीं होते—अन्य कर्मों से तो इनको भी दोष लगता है। राजा, मध्यान्ह काल में प्रजा के विवादों को निबटावे और प्रातःकाल में धर्म शास्त्र का अवलोकन करे ॥ ५७४ ॥

मनुष्यमारणेस्तेये साहसेस्तेयिकेसदा ।
नकाल नियमस्तत्र सद्यएवविवेचनम् ॥५७५॥

यदि कोई मनुष्य मारा गया। कहीं चोरी या डाका पड़ गया तथा अन्य चोरी जैसे काम का आरम्भ हो—गया तो उसके लिए समय का कोई नियम नहीं है-उसका फौरन विवेचन करना चाहिए ॥ ५७५ ॥

धर्मासनगतं दृष्ट्वाराजानं मंत्रिभिःसह ।
गच्छेन्निवेद्यमानं यत्प्रतिरुद्धमधर्मतः ॥५७६॥
यथासत्यं चिंतयित्वा लिखित्वा वासमाहितः ।
नत्वावा प्रांजलिः प्रह्वोह्यर्थी कार्यं निवेदयेत ॥५७७॥

प्रार्थी, धर्मासन पर मन्त्रियों के सहित राजा को देख कर उनके समीप में जावे। और अधर्म से-असम्बन्धित, सत्य २ अपनी प्रार्थना को विचार कर बड़ी सावधानी से लिख कर उपस्थित करे। हाथ जोड़ कर अर्थी को बड़ी नम्रता से राजा के सन्मुख झुककर अपनी प्रार्थना करनी चाहिए ॥५७६-५७७॥

यथार्हमेनमभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सहपार्थिवः ।
सांत्वेन प्रशमय्यादौस्व धर्मं प्रतिपादयेत् ॥५७८॥

ब्राह्मणों के साथ राजा, इस प्रार्थी का स्वागत करे। इसको शान्त वचन से सान्त्वना देकर अपने राज्य धर्म का वर्णन करे कि हम तुम्हारा अवश्य न्याय करेंगे ॥ ५७८ ॥

काले कार्यार्थिनं पृच्छेत्प्रणतं पुरतः स्थितम् ।
किंकार्यं काचते पीडामाभैषी ब्रूहिमानव ॥५७९॥
केन कस्मिन्कदा कस्मात्पीडितोसि दुरात्मना ।
एवं पृष्टः स्वभावोक्तं तस्यसं शृणुयाद्वचः ॥५८०॥
प्रसिद्ध लिपिभाषा भिस्तदुक्तं लेखको लिखेत् ।
अन्यदुक्तं लिखेदन्यद्योर्थि प्रत्यर्थिनांवचः ॥५८१॥

चौरवत्त्रास येद्राजा लेखकं द्रागतंद्रितः ।
लिखितं तादृशं सभ्यानविब्रूयुः कदाचन ॥५८२॥

प्रार्थना के समय पर पहुँचे हुए, शिर झुका कर सामने खड़े हुए कार्यार्थी से राजा पूछे ! हे मनुष्य ! तू भय मत कर । बता ? तुझे क्या दुःख है और क्या तुम्हारा कार्य है ? किस दुरात्मा ने कब-तुमको कोई पीड़ा पहुँचाई है ? पीड़ा देने का क्या कारण था । राजा इस तरह पूछ कर स्वभावानुसार अर्थी के कहे हुए वचनों को ध्यान से सुने । प्रसिद्ध लिपि की भाषा में उसके बयान लेखक लिखे । जो लेखक अर्थी की कही हुई बात को विपरीत लिख देवे राजा उसको फौरन चोर की तरह दण्ड देवे । सभ्य [अफसर] लोग भी उस लिखे हुए को कभी विपरीत-रीति से न कहें ॥ ५७९-५८२ ॥

बलाद्धूहणाति लिखितं दंडयेत्तांस्तु चौरवत ।
प्राड्विवाको नृपाभावे पृच्छेदेव सभागतम् ॥५८३॥

जो लिखे हुए रुक्के को बल पूर्वक छीन लेता है राजा उसको भी चोर का सा दण्ड देवे । यदि राजा नहीं हो तो—प्राड् विवाक (वकील या प्रतिनिधि) धर्म सभा में आए हुए प्रार्थी से उसके दुःख कथा पूछ लेवे ॥ ५८३ ॥

वादिनौ पृच्छति प्राड्वाविवाको विविनक्त्यतः ।
विचारयति सभ्यैर्वाधर्माऽधर्मौं विविक्तिवा ॥५८४॥

यह वादी विवादी से पूछता है और उसका विवेचन करता है तथा सभ्यों के साथ विचार करता है और धर्माधर्म का विवेचन करता है, इससे राजा के प्रतिनिधि को भी प्राड् विवाक कह सकते हैं ॥ ५८४ ॥

सभायां येहितायोग्याः सभ्यास्तेचापिसाधवः ।
स्मृत्या चारव्यपेतेन मार्गेणा धर्षितः परैः ॥५८५॥
आवेदयन्ति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हितत् ।
नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजानाप्यस्य पूरुषः ॥५८६॥

राज सभा में जो हितकारी और योग्य हो, वे सभ्य होते हैं-उनको सदाचारी होना आवश्यक है। धर्म शास्त्र के आचार से रहित मार्ग से—अन्य लोग जिस पर आक्रमण करें, और वह उस बात को राज सभा में ले जावे-तो यह व्यवहार का स्थान होता है। अर्थात् यही बात व्यवहार [मुकदमे] का रूप धारण कर लेता है। राजा और राज पुरुष, कभी किसी झगड़े को स्वयं न उठावे ॥५८५-५८६॥

नरागेण न लोभेन न क्रोधेन ग्रसेन्नृपः ।
परैर प्रापितानर्थान्न चापिस्व मनीषया ॥५८७॥
छलानि चापराधांश्च पदानि नृपतेस्तथा ।
स्वयमेतानि गृहणीयान्नृपस्त्वावेदकैर्विना ॥५८८॥

राजा कभी, राग, द्वेष, लोभ, और क्रोध के वश में होकर

अन्य द्वारा न कही हुई बात को स्वयं अपनी बुद्धि से न उठावे हाँ ? यदि कोई छल, अपराध या राजा की पदवी के योग्य कोई बात निकले--तो उसे तत्काल राजा पकड़ लेवे। इसके आवेदन की आवश्यकता नहीं है ॥ ५८७-५८८ ॥

सूचकस्तोभकाभ्यांवा श्रुत्वा चैतानितत्त्वतः ।
शास्त्रेण निंदितस्त्वर्थीनापि राज्ञा प्रचोदितः ॥५८६॥

सूचक और स्तोभक—इन दोनों से ठीक २ बात को सुनकर अर्थी को दूषित करे। इस दशा में तो अर्थी को शास्त्र ने दूषित बताया है। राजा इसको दूषित करने का प्रेरक नहीं है ॥ ५८-५८६ ॥

आवेदयति यत्पूर्वस्तोभकः सउदाहृतः ।
नृपेण विनियुक्तोयः परदोषानुवीक्षणे ॥५६०॥
नृपंसं सूचयेज्ज्ञात्वासूचकः सउदाहृतः ।

जो पूर्व में आकर ही राजा को सूचना दे—वह स्तोभक [मुखबिर] कहाता है। जिसको, राजा दूसरे के छल की पड़ताल में नियुक्त करदे, और वह पता लगाकर जो राजा को सूचना दे- वह सूचक होता है ॥ ५६० ॥

पथिभंगीपराक्षेपी प्राकारो परिलंघकः ॥५६१॥
विपानस्य विनाशीच तथाचा यतनस्यच ।

परिखापूर कश्चैव राजच्छिद्र प्रकाशकः ॥५६२॥
अंतः पुरंवास गृहंभांडागारं महानसम् ।
प्रविशत्य नियुक्तोयो भोजनंच निरीक्षते ॥५६३॥
विएमूत्र श्लेष्मवातानां क्षेप्ताकान्नृपाग्रतः ।
पर्यंकासनबंधीचाप्यग्रस्थान विरोधकः ॥५६४॥
नृपतिरिक्तवेषश्च विधृतः प्रविशेत्तुयः ।
यश्चोपद्वारेण विशेदवेलायां तथैवच ॥५६५॥
शय्यासने पादुकेच शयनासन रोहणे ।
राजन्यासन्न शयने यस्तिष्ठति समीपतः ॥५६६॥
राज्ञो विद्विष्ट सेवीचाप्यदत्त विहितासनः ।
अन्य वस्त्राभरणयोः स्वर्णस्य परिधायकः ॥५६७॥
स्वयं ग्राहेणतांबूलं गृहीत्वा भक्षयेत्तुयः ।
अनियुक्त प्रभाषीच नृपा क्रोशक एवच ॥५६८॥
एक वस्त्रस्तथाभ्यक्तो मुक्त केशोवगुंठितः ।
विचित्रितांगः स्रग्वीच परिधान विधूनकः ॥५६
शिरः प्रच्छादकश्चैवच्छिद्रान्वेषण तत्प
आसंगी मुक्तकेशश्च घ्राणकर्णाक्षि
दंतोल्लेखनकश्चैव कर्णनासा
राज्ञः समीप पंचाश

जो राज मार्ग को बिगाड़ देवे। जो अन्य की निन्दा करे, प्राकार के ऊपर चढ़ जावे, जलाशय तथा राजघर का विनाश कर देवे, खाई को भर देवे, राजा के छिद्र (न्यूनता) को प्रकाशित करे, अन्तःपुर (रनिवास) राजमहल, भण्डार और रसोई में जो नियुक्त न होकर भी वहाँ चला जावे, जो राजा के भोजन को देखे, जो मूर्ख राजा के सन्मुख विष्ठा, मूत्र, कफ (खखार) और अधोवायु को, ज्ञान पूर्वक छोड़े, पलंग पर या पालथी मारकर बैठे, राजा के मुख्य स्थान पर बैठने का विरोध करे, राजा से उत्तम वेष बनावे तथा उसी वेष से राज सभा में चला जावे, जो उपद्वार से असमय में राज सभा में प्रवेश करे। राजा के सामने ही शय्या पर सो जावे, आसन पर बैठ जावे, या पादुक पहर लेवे, तथा राजा के समीप—आने पर भी जो शय्या पर डटा रहे, राजा से द्वेष करने वाले की सेवा में रहे, बिना दिए आसन पर जा बैठे, अन्य के वस्त्र और आभूषण तथा सुवर्ण को धारण करे, अपने हाथ से ही ताम्बूल उठा कर खा जावे, राजा की विना आज्ञा बोलने लगे, राजा को फटकार लगादे, एक वस्त्र पहने हुए तेल लगाकर, चिकना होकर, बाल खोले हुए या घूंघट निकाले हुए विचित्र अङ्ग बनाकर माला पहने हुए, वस्त्रों को हिलाते हुए राजा के समीप जावे। राजा के सन्मुख शिर ढक लेवे। राजा के छिद्रों को देखे—अन्य काल में आसक्त रहे, बाल बाए हुए नाक, कान, आंखों को बेढंगे रूप में दिखावे, दांतों को कुरेदने और कान नाक शोधने लगे। राजा के समीप इतने काम करना—अप-

राध माने गए हैं, जिनकी संख्या पचास के लगभग है। ऐसे ही अन्य भी अपराध राजा के समीप होते हैं—इनके करने वाले को राजा दण्ड देवे या निकाल देवे॥ ५६१-६०१॥

आज्ञोल्लंघन कर्तारः स्त्रीवधो वर्णसंकरः।
परस्त्री गमनंचौर्यं गर्भश्चैव पतिंविना॥६०२॥
वाक्पारुष्यम वाच्याय दंडपारुष्य मेवच।
गर्भस्य पातनं चैवेत्यपराधा दशैवतु॥६०३॥

राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना, स्त्री का वध, वर्ण संकरता, पर स्त्री गमन, चोरी, व्यभिचार द्वारा गर्भ धारण, पूज्य के साथ कठोर भाषण, कठोर दण्ड और गर्भ पात—ये दश अपराध माने गये हैं। राजा इन अपराधों को करने वाले को दण्ड देवे॥ ६०२-६०३॥

उत्कृतिसस्य घातीचाप्यग्निदश्च तथैवच।
राज्ञो द्रोह प्रकर्ताच तन्मुद्रा भेदकस्तथा॥६०४॥
तन्मंत्रस्य प्रभेत्ताच बद्धस्यच विमोचकः।
अस्वामि विक्रयं दानं भागं दंडं विचिन्वति॥६०५॥
पटहा घोषणाच्छादि द्रव्यम स्वामि कंचयत्।
राजा वलीढद्रव्यंच यश्चैवाङ्गो विनाशनम्॥६०६॥
द्वाविंशति पदान्याहु नृपज्ञेयानि पंडिताः।

उद्धतः क्रूरवाग्वेषो गर्वितश्चंड एवहि ॥६०७॥
सहासनश्चातिमानी वादी दंड मवाप्नुयात् ।

अन्न का काट ले जाने वाला, अन्न का विघातक, आग का लगाने वाला, राजा का द्रोह कर्ता, राजा के सिक्के को रोकने वाला, राजा के मन्त्र का फोड़ देने वाला, बद्ध (कैदी) का छुड़ाने वाला, किसी चीज़ का स्वामी न होकर उसका बेच देने वाला, दान, किसी के भाग (अंश) और दण्ड का लोपक, डोंडी के द्वारा की गई घोषणा को मिथ्या करने वाला, स्वामी हीन (लावारिस) धन को खा जाने वाला, राजा के भाग पर अधिकार जमा देने वाला, अपराधों (जुर्मों) का आच्छादक, उद्धत, क्रूर भाषण कर्ता, उद्धत वेष धारी, घमण्डी, क्रोधी, राजा के साथ एक आसन पर बैठने की इच्छा रखने वाला अत्यन्त अभिमानी, इन बाईस प्रकार का वादी दण्ड का भागी होता है॥ ६०४-६०७॥

अर्थिना कथितं राज्ञे तदावेदन संज्ञकम् ॥६०८॥
कथितं प्राडिवाकादौ साभाषाखिल बोधिनी ।

प्रार्थी लोग, राजा के सन्मुख, जो प्रार्थना उपस्थित करते हैं, वह-आवेदन और जो प्राड् विवाक (राजा के प्रतिनिधि या वकील) आदि से जो कहा जावे, वह भाषा (बयान) कहाती है, जिससे सारी बात का पता लग जाता है॥ ६०८॥

सपूर्व पक्षः सभ्यादिस्तं विमृश्य यथार्थतः ॥६०६॥
अर्थितः पूरयेद्धीनं तस्माच्चयमधिकं त्यजेत् ।
वादिनश्चिह्नितं साक्ष्यं कृत्वा राजा विमुद्रयेत् ६१०॥

राजा पूर्व पक्ष के साथ सभ्यादि के सहित ठीक उसका विचार करे। जो कुछ कमी हो, उसको अर्थी से पूछ कर पूरा करे। इस प्रकार साक्ष्यपत्र को पूर्ण करले। फिर वादी के अंगूठे का उस पर चिन्ह कराले और अन्त में राजा की मुहर लगवाले। वादी का बयान भी एक प्रकार की साक्ष्य (गवाही) है॥ ६०६-६१० ॥

अशोधयित्वा पक्षं येह्युत्तरं दापयंतितान् ।
रागाल्लोभाद्भयाद्वापि स्मृत्यर्थेवाधिकारिणः ॥६११॥

जो अधिकारी पूर्व पक्ष को ठीक २ न जांचकर प्रतिवादी से उत्तर मांग बैठते हैं और राग, लोभ, भय आदि से धर्मशास्त्र की संगति लगाते हैं, उन सभ्यादि अधिकारियों को राजा दण्ड देकर अपने अधिकार से पृथक् करदे ॥ ६११ ॥

सभ्या दीन्दंडयित्वातु ह्यधिकारान्निवर्तयेत् ।
ग्राह्याग्राह्यं विवादंतु सुविमृश्य समाश्रयन् । ६१२॥
संजात पूर्वपक्षंतु वादिनं संनिरोधयेत् ।
राजाज्ञया सत्पुरुषैः सत्यवाग्भि र्मनोहरैः ॥६१३॥
निरालसैंगितज्ञैश्च दृढ शस्त्रास्त्र धारिभिः ।
वक्तव्यर्थे ह्यतिष्ठं तमुत्क्रामंतंच तद्वचः ॥६१४॥

राजा ग्रहण करने योग्य या अग्राह्य, विवाद को भली प्रकार विचार कर देखे। जब वादी का पूर्व पक्ष हो जावे, तो उसको राजा की आज्ञा से, सत्यवादी, मनोहर भाषण करने वाले, निरालसी, संकेत के ज्ञाता, दृढ़ शस्त्रास्त्र के धारी पुरुष, रोक देवे। ये लोग, तभी ऐसा करें, जब वह कहने योग्य बात कह चुका और अधिकारी की आज्ञा का उल्लंघन कर रहा है ॥६१२-६१४॥

आसेधयेद्विवादार्थी यावदाह्वान दर्शनम् ।

प्रत्यर्थिनंतु शपथै राज्ञयावा नृपस्यच ॥६१५॥

स्थानासेधः कालकृतः प्रवासात्कर्मणस्तथा ।

चतुर्विधः स्यादासेधोना सिद्धस्तं विलंघयेत् ॥६१६॥

वादी, तब तक व्यवहार [मुकद्दमे] की प्रतीक्षा करे, जब तक प्रतिवादी को बुलाया जावे। राजा की आज्ञा होने पर प्रत्यर्थी को शपथ आदि दिलाई जा सकती हैं। स्थान, काल, प्रवास और किसी कार्य के कारण प्रतिवादी के आने में देर लग सकती है। इसको आसेध कहते हैं, जो उपरोक्त प्रकार से चार तरह का हुआ। जब तक प्रत्यर्थी इस बिलम्ब को समाप्त करके, न आजावे-तब तक अपने निर्णय असफल वादी-इस पर कोई विलंघन [उज्र] न करे॥ ६१५-६१६॥

यस्त्विन्द्रिय निरोधेन व्याहारोच्छ्वासनादिभिः ।

आसेधयेदनासेधैः सदंड्योनत्वतिक्रमी ॥६१७॥

जो मनुष्य, इन्द्रियों के निरोध रूप उपवास मौन, प्राणायाम आदि का बहाना करके अभियोग में आने में देर लगावे, तो अनासेध हैं। ऐसे प्रतिवादी को दण्ड देना चाहिए अन्य उचित कारणों से आसेध हो—वह दण्ड का भागी नहीं है॥ ६१७॥

आसेधकाल आसिद्धआसेधंयो निवर्तते।
सविनेयोन्यथा कुर्वन्नासेद्धादंड भाग्भवेत् ॥६१८॥

आसेध काल में अर्थात् किसी उचित अड़चन से नियत तिथि पर उपस्थित न होने के काल में जो पुरुष, आसेध (पेशी) को टला देता है, वह तो ठीक ही आसेध (पेशी का टलाने वाला) है। अनुचित रीति से-जो टलाता है, वह दण्ड का भागी होता है। पेशी पर ठीक कारणों से नहीं पहुँचने वाला, कोई दण्ड का भागी नहीं होता॥ ६१८॥

यस्याभियोगं कुरुते तत्त्वे नाशंकयाथवा।
तमेवाह्वानयेद्राजा मुद्रयापुरुषेणवा ॥६१९॥

जिसके ऊपर अभियोग प्रमाणित हो, या कुछ भी सन्देह हो जावे, राजा उसी पुरुष को अपने मुद्राङ्कित पत्र या सिपाही द्वारा बुलवा भेजे॥ ६१९॥

शंकाऽसतांतु संसर्गादनुभूत कृतेस्तथा।
वोढाभिदर्शनात्तत्त्वं विज्ञास्यति विचक्षणः ॥६२०॥

पुरुष के अपराधी होने की शंका, उसकी दुष्टों के साथ संगति से हो जाती है तथा कोई बात देखने में भी आजाती है। बात के ताड़ जाने वाला विद्वान् अपने अनुमान से अपराध का तत्व फौरन-जान लेता है ॥ ६२० ॥

अकल्प बालस्थ विरविषमस्थ क्रियाकुलान् ।
कार्यातिपातिव्यसनि नृप कार्योत्सवाकुलान् ॥
मत्तोन्मत्त प्रमत्तार्त भृत्यान्नाह्वानयेन्नृपः ।

असमर्थ, बालक, वृद्ध, आपद्‌ग्रस्त, कार्या-कुल, कार्य में बिलम्ब लगाने वाले व्यसनी, राजा के कार्य और उत्सवों में आसक्त, मत्त, उन्मत्त, प्रमत्त, दुःखी भृत्य से अपराधी को राजा न बुलवावे ॥ ६२१ ॥

नहीनपक्षां युवतीं कुलेजातां प्रसूतिकाम् ॥६२२॥
सर्व वर्णोत्तमां कन्यां नज्ञाति प्रमुखाः स्त्रियः ।

दुर्बल पक्षवाली हीन युवति, कुलीन, प्रसूतिका (जच्चा) ब्राह्मण कन्या तथा जाति की मुख्य स्त्री को भी राजा कचहरीमें न बुलावे-उनसे वहीं जाकर अभियोग के सम्बन्ध में पूछ ताछ करले ॥ ६२२ ॥

निर्वेष्टु कामो रोगार्तोयियक्षुर्व्यसने स्थितः ॥६२३॥
अभियुक्तस्तथान्येन राजकार्योद्यतस्तथा ।
गवां प्रचारे गोपालाः सस्यवापे कृषीवलाः ॥६२४॥

शिल्पि नश्चापि तत्कालमायुधीयाश्च विग्रहे ।

अन्यासु व्यवहारश्च दूतो दानोन्मुखोव्रती । ६२५॥

जो विवाह के लिए चल चुका हो, रोगी हो, यज्ञ में तत्पर हो, विपत्ति में उलझ गया हो, अन्य के साथ झगड़ रहा हो, राज्य कार्य में—लगा हो । गोपालों के गौ के चराने के दिन हों। जब किसान खेती में लगे हों । शिल्पी लोग, किसी आवश्यक यन्त्र को बना रहे हों । शस्त्रधारी युद्ध में फँसे हों, जो दूत कार्य में चल चुका हो, जो दान करने में लगा हो, जो व्रत का आरम्भ कर चुका हो, इनकी पेशी दूसरी लगा देनी चाहिए । ऐसे आवश्यक समय में इनको दबाकर नहीं बुलाना चाहिए ॥ ६२३-६२५ ॥

विषमस्थाश्चनासेध्यान चैतानाह्वयेन्नृपः ।

नदी संतारकां तारदुर्देशोपप्लवादिषु ॥६२६॥

अंसिद्धस्तं परासेधमुत्क्रामन्ना पराध्नुयात् ।

कालं देशंच विज्ञाय कार्याणांच बलाबलम् ॥६२७॥

जो बड़े संकट में उलझें हों—उनका आह्वान राजा न करे। वे आसेध (पेशी पर उपस्थित) होने के योग्य नहीं हैं । जो बाढ़ आदि के समय नदी के तरने—में लगा हो । वन के झगड़े में फँस गया हो । किसी दुर्देष में उलझा हो । या किसी उपद्रव में सम्मिलित हो । वह बुलाने के योग्य नहीं है । यदि बुलाने पर वह न आवे—तो उसका अपराध नहीं मानना चाहिए । काल, देश,

कार्य अकार्य का बलाबल जान कर राजा को दण्ड की व्यवस्था करनी चाहिए ॥ ६२६-६२७ ॥

अकल्पादीन पिशुनान्या नैराह्वानयेन्नृपः ।
ज्ञात्वाभियोगं येपिस्युर्वने प्रव्रजितादयः ॥६२८॥
तानप्याह्वान येद्राजा गुरु कार्येष्व कोपयन् ।

जो असमर्थ या सज्जन पुरुष हों राजा उनको सवारी में बुलवावे। जो अभियोग को जान कर भी संन्यासी हो गए हों, उनको भी राजा आवश्यक भारी कार्य जान पड़े तो बुलवालेवे, परन्तु उनके साथ कोई ऐसे कार्यकारी न करे जिस से वे कुपित हों ॥६२८॥

व्यवहारानभिज्ञेन ह्यन्यकार्या कुलेनच ॥६२९॥
प्रत्यर्थि नार्थिनातज्ज्ञः कार्यः प्रतिनिधिस्तदा ।

जो व्यवहार (मुकदमों) करना नहीं जानता हो, या अन्यकारी में लगा हो, वह अर्थी हो या प्रत्यर्थी व्यवहार के नियम (मुकदमे के कानून) के जानने वाले पुरुष को अपना प्रतिनिधि वकील बना सकते हैं ॥६२९॥

अप्रगल्भ जडोन्मत्त वृद्धस्त्री बालरोगिणाम् ॥६३०॥
पूर्वोत्तरं वदेद्बंधुर्नियुक्तोवाथवानरः ।
पिता माता सुहृद्बंधु र्भ्राता संबंधिनोपिच ॥६३१॥
यदि कुर्युरुपस्थानं वादं तत्र प्रवर्तयेत् ।

जो बोलना न जानता हो, मूर्ख हो, उन्मत्त हो, वृद्ध हो, स्त्री या बालक हो, रोगी हो, उनके पूर्व पक्ष या उत्तर पक्ष, दोनों को उनका नियुक्त पुरुष, (मुख्तार) उपस्थित कर सकता है। पिता, माता, मित्र, भ्राता, सम्बन्धी वादी के पक्ष को ठीक २ रख देवे—तो अभियोग को चलता कर दिया जावे ॥६३०-३१॥

यः कश्चित्कारयेत्किंचिन्नियोगाद्येन केनचित् ६३२।
तत्तेनैव कृतं ज्ञेयमनिवर्त्यंहि तत्स्मृतम् ।
नियोगि तस्यापि भृतिं विवादात्षोडशांशिकीम् ॥
अन्यथा भृति गृह्णंतं दंडयेच्च नियोगिनम् ।
कार्यो नित्यो नियोगीच नृपेणस्व मनीषया ॥६३४॥
लोभेन त्वन्यथा कुर्वन्नियोगी दंडमर्हति ।

जो मनुष्य, किसी अपने नियुक्त किए हुए पुरुष (मुख्तार) से जिस काम को करावेगा—वह उसका ही किया हुआ माना जावेगा वह उसको लौटा नहीं सकता है। जो इस काम में मुख्तार लगाया जावे, उसको मुकदमे की आय का सोलहवां भाग दिलवाया जावे जो इससे अधिक रुपया का दबा जावे, तो राजा उसको दण्ड देवे। राजा अपनी स्वीकृति से नियोगी पुरुष को नियत करे। उसको अपनी बुद्धि से राजा पड़ताल लेवे। यदि लोभ से नियोगी कुछ उलट पलट कर देवे—तो राजा उसको दण्ड देवे ॥६३२-६३४॥

योन भ्राता न च पिता न पुत्रो न नियोगकृत ॥
परार्थवादीदंड्यः स्याद्व्यवहारेषु विब्रुवन् ।

भ्राता, पिता, पुत्र या अन्य सम्बन्धी मुख्तार न हो और साधारण पुरुष को नियोगी बना दिया गया हो—और वह प्रतिकारी की बात का समर्थ न करे—या विपरीत बात बोले, तो राजा उसको भी दण्ड देवे ॥६३५॥

तदधीनकुटुम्बिन्यः स्वैरिण्योगणिकाश्चयाः ॥६३६॥
निष्कुलायाश्च पतितास्ता सामाह्वान मिष्यते ।

जो स्त्रियां अपने कुटुम्ब का पालन कमा कर रही हों, जो वेश्या या व्यभिचारिणी हों। जो कुल से हीन और पतित हो, उन स्त्रियों को राजा कचहरी में बुला सकता है ॥६३६॥

प्रवर्तयित्वावादंतु वादिनौतु मृतौयदि ॥६३७॥
तत्पुत्रो विवदेत्तज्ज्ञो ह्यन्यथातु निवर्तयेत् ।

यदि अभियोग को चला कर दोनों वादी मर जावें, उनके पुत्र उस मुकदमें को उठा लेवें। यदि पुत्र न आवें तो उस अभियोग को समाप्त कर देवे ॥६२७॥

मनुष्य मारणेस्तेये परदाराभिमर्शने ॥६३८॥
अभक्ष्य भक्षणे चैव कन्याहरण दूषणे ।
प्रतिनिधिर्नदातव्यः कर्तातु विवदेत्स्वयम् ।

मनुष्य के मारण, चोरी, परस्त्री से भोग, अभक्ष्य भक्षण, कन्या के अपहरण या दूषण, इनके दण्ड भोगने म मुख्तार नहीं जा सकता है। इसका तो कर्ता ही स्वयं अपने अभियोग को करे ॥६३८॥

पारुष्ये कूटकरणे नृपद्रोहेच साहसे ॥६३९॥
आहूतो यत्रनागच्छेद्दर्पाद्बंधु बलान्वितः ॥६४०॥
अभियोगानु रूपेण तस्य दंडं प्रकल्पयेत् ।

किसी कठोर अपराध करने या गाली देने, झूंठी गवाही देने, राज द्रोह, डाके—इन अपराधों के अपराधी यदि बुलाने पर भी घमण्ड या बन्धु बल के कारण न आवें, तो राजा अभियोग के अनुसार उनको दण्ड दे देवे और बल पूर्वक पकड़वा मंगवावे ॥६३९-३४०॥

दूतेनाह्वानितं प्राप्ताधर्षकं प्रतिवादिनम् ॥६४१॥
दृष्ट्वा राज्ञा तयोश्चित्यो यथार्हं प्रतिभूस्त्वतः ।
दास्याम्यदत्त मेतेन दर्शयामि तवांतिके ॥६४२॥

दूत (सिपाही के बुलाने पर आए हुए प्रतिवादी—या अपराधी की राजा प्रथम जमानत लेवे । उनका जो प्रतिभू (जामिन) हो उचित प्रतिष्ठा वाला होना चाहिए । प्रतिवादी पर डिगरी हुई और यह न देगा—तो मैं दूंगा और अपराधी यदि अदालत में उपस्थित न होगा—तो मैं उपस्थित करूंगा ॥ ६४१-४२ ॥

एनमाधिदापयिष्येह्यस्मात्तेन भयंक्कचित् ।
अकृतंच करिष्यामि ह्यनेनायंच वृत्तिमान् ॥६४३॥
अस्तीतनच मिथ्यैतदंगी कुर्यादतंद्रितः ।
प्रगल्भो बहुविश्वस्तश्चाधीनो विश्रुतोधनी ॥६४४॥

इस प्रतिवादी से मैं तुम्हारा कर्जा या धरोहर दिला दूंगा। तुम इसका भय मत करो। जो कुछ यह नहीं कर सका—मैं करवा ऊँगा, क्योंकि यह भूखा नंगा नहीं है, यह वृत्तिधारी मालदार मनुष्य है। यह कभी मिथ्या नहीं बोलेगा। बड़ी सावधानी से सचाई से अपने पक्ष को रखेगा। यह बोलना जानता है। इसका सब लोग विश्वास करते हैं, यह स्वतन्त्र प्रसिद्ध और स्वयं धनवान है॥ ६४३-६४४ ॥

उभयोः प्रतिभूर्ग्राह्यः समर्थः कार्यनिर्णये।
विवादिनौसंनिरुध्य ततोवादं प्रवर्तयेत् ॥४५॥

इस प्रकार जो कार्य के निर्णय में समर्थ हो, ऐसे प्रतिभू (जामिन) को राजा दीवानी और फौजदारी में—स्वीकार करे। इसके बाद दोनों वादी प्रतिवादियों को अपने सन्मुख उपस्थित करके राजा उनके अभियोग का निर्णय करे॥ ६४५ ॥

स्वपुष्टौ राजपुष्टौवा स्वभृत्यां पुष्टिरक्षकौ।
ससाधनौ तत्त्वमिच्छुः कूट साधन शंकया ॥६४६॥

वादी प्रतिवादी अपने २ मत की पुष्टि कर रहे हों, राज्य के कागजों से अपनी २ पुष्टि कर रहे हों। अपने भृत्य और साक्षियों से अपने मत को सिद्ध करते हों। उत्तम २ हेतुवाद रखते हों—इन सब बातों से राजा अभियोग के तत्व को जान लेवे इन साधनों में कूट (झूंठे) साधन या जाली कागज की ओर भी राजा खूब ध्यान रखे॥ ६४६ ॥

प्रतिज्ञा दोषनिर्मुक्तं साध्यं सत्कारणान्वितम् ।
निश्चितं लोकसिद्धंच पक्षंपक्षविदोविदुः ॥६४७॥

उत्तम २ कारणों से युक्त, प्रतिज्ञा के दोषों से रहित, साधनों से सिद्ध करने योग्य, निश्चित लोक सिद्ध मत पक्ष-कहाता है। ऐसा विद्वानों का कथन है ॥ ६४७ ॥

अन्यार्थमर्थहीनंच प्रमाणागम वर्जितम् ।
लेख्यहीनाधिकं भ्रष्टं भाषादोषा उदाहृताः ॥६४८॥

अन्य के अर्थ की पुष्टि करने वाला, अर्थ हीन, प्रमाण और और युक्तियों से रहित, लेख में हीनता या अधिकता-या भ्रष्टता युक्त जो कथन होगा, वह दूषित कहाता है। ये बातें-भाषा (प्रार्थना पत्र) के दोषों में मानी गई हैं ॥ ६४८ ॥

अप्रसिद्धं निराबाधं निरर्थं निष्प्रयोजनम् ।
असाध्यंवा विरुद्धंवा पक्षाभासं विवर्जयेत् ॥६४९॥

प्रसिद्धि से रहित, बाधा से युक्त, अर्थ हीन, निष्प्रयोजन, असाध्य और विरुद्ध पक्ष, वास्तव में पक्षाभास कहाता है। राजा ऐसे पक्षाभास की ओर ध्यान न देवे ॥ ६४९ ॥

नकेनचित्कृतोदृष्टः सोऽप्रसिद्ध उदाहृतः ।
अहंमूकेन संशप्तोवंध्या पुत्रेण ताडितः ॥६५०॥

जिसको किसी ने कभी देखा या सुना तक न हो, वह अप्रसिद्ध कहाता है जैसे मुझे मूक (गूंगे) मनुष्य ने गाली दी और

वंध्या के पुत्र ने मुझे ताड़ना की। ये बातें अप्रसिद्ध दोष के अन्तर्गत हैं ॥ ६५० ॥

अधीते सुस्वरंगाति स्वेगेहे विहरत्ययम् ।
धत्तेमार्ग मुखद्वारं ममगेह समीपतः ॥६५१॥
इतिज्ञेयं निराबाधं निष्प्रयोजन मेवतत् ।
सदा मद्दत्त कन्यायां जामाता विहरत्ययम् ॥६५२॥

यह अपने घर में जोर २ से पढता है, अच्छे स्वर में गाता रहता है तथा मेरे घर के समीप मार्ग में अपने दरवाजे को बनाता है। यह निराबाध है। अर्थात जो नहीं रोकने की वस्तु है उसमें रुकावट चाहता है। ऐसी बात को निराबाध कहते हैं। यह जामाता मेरी कन्या से सदा रमण करता रहता है—यह निष्प्रयोजन दोष है-क्योंकि कन्यादान तो जामाता के भोग को ही किया गया है—अब उसकी शिकायत नहीं हो सकती ॥ ६५१-६५२ ॥

गर्भंधत्ते न वंध्येयं मृतोयंन प्रभाषते ।
किमर्थ मितितज्ज्ञेयम साध्यंच विरुद्धकम् ॥६५३॥
मद्दत्तदुःख सुखतोलोको दुष्यति नंदति ।
निरर्थमिति वाज्ञेयं निष्प्रयोजनमेववा ॥६५४॥

यह बंध्या क्यों नहीं गर्भ धारण करती—तथा यह मरा हुआ क्यों नहीं बोलता—यह असाध्य कहाता है। मेरे दिए हुए दुःख या सुख से लोग क्यों मेरी निन्दा या स्तुति करते हैं अथवा-क्यों

दुःखी सुखी होते हैं। इन सारी बातों को केवल निरर्थक या निष्प्रयोजन मात्र भी कह सकते हैं ॥ ६५३-६५४ ॥

श्रावयित्वातु यत्कार्यंत्यजेदन्य द्वदेदसौ ।
अन्यपक्षाश्रयाद्वादी हीनो दंड्यश्चसस्मृतः ॥६५५॥

जो वादी, एक बात कह कर उस पक्ष को छोड़ देवे और उसके विपरीत कहने लगे-तो यह तो प्रतिवादी के पक्ष का अवलम्बन हुआ—ऐसा वादी हीन (कमज़ोर) माना जावेगा-वह दण्ड के योग्य है ॥ ६५५ ॥

विनिश्चिते पूर्वपक्षेग्राह्या ग्राह्य विशोधिते ।
प्रतिज्ञार्थे स्थिरी भूतेलेखये दुत्तरंततः ॥६५६॥

जब पूर्ण पक्ष समझ लिया गया और उसमें ग्रहण करने योग्य बातों की पड़ताल लगाली गई तथा प्रतिज्ञा किए हुए अर्थ का निश्चय कर लिया गया, तो फिर राजा अपना २ उत्तर (निर्णय) लिखे ॥ ६५६ ॥

तत्राभियोक्ता प्राक्पृष्टोह्यभियुक्तस्त्वनंतरम् ।
प्राड्विवाकसदस्याद्यै र्दाप्यते ह्युत्तरंततः ॥६५७॥

अभियोग या व्यवहार के निर्णय में राजा प्रथम वादी से पूछे और फिर प्रतिवादी या अभियुक्त से प्रश्न करे। इसके अनन्तर वकील-आदि का बहस और सदस्य (असेसर) आदि से निर्णय कराकर राजा अपना निर्णय देवे ॥ ६५७ ॥

श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वावेदक सन्निधौ ।
पक्षस्यव्यापकं सारम संदिग्धमनाकुलम् ॥६५८॥
अव्याख्या गम्यमित्येतन्निर्दुष्टं प्रतिवादिना ।
संदिग्धमन्यत्प्रकृतादत्यल्पमति भूरिच ॥६५६॥

जो बात वादो प्रतिवादी से जानी है, उसका उत्तर (फैसला) उनके ही सन्मुख लिख देवे । इस निर्णय में पक्ष का व्यापक ब्योरा हो, जिसमें कोई संदिग्ध और त्रुटि की बात नहीं रह गई हो । न कोई ऐसी बात इस फैसले में लिखी जावे, जिसकी धारणा करनी पड़े । यदि वादो के हक़ में निर्णय किया गया है, तो प्रतिवादी को कोई कहने की जगह न रहे । प्रकृत पक्ष के उपयोगी निर्णय में बहुत थोड़ा या बहुत अधिक लिखा गया-तो वह संदेह के योग्य होने से अनुचित निर्णय है ॥ ६५८-६५६ ॥

पक्षैक देशेव्याप्यं यत्तत्तुनैवोत्तरं भवेत् ।
नवाहूतो वदेत्किंचिद्धीनो दंड्यश्चसः स्मृतः ।

जो उत्तर पक्ष के एक देश की सिद्धि या असिद्धि करता हो-वह उत्तर-पर्याप्त नहीं है । पूछने पर यदि वादी प्रतिवादी कुछ नहीं कहना चाहे, तो उसका पक्ष दुर्बल समझा जावे और उसे दण्ड देना चाहिए अर्थात् उसके विरुद्ध निर्णय कर देना चाहिए ॥ ६६० ॥

पूर्वपक्षेयथार्थेतु नदद्यादुत्तरंतुयः ।
प्रत्यर्थी दापनीयः स्यात्सामादिभि रुपक्रमैः ॥६६१॥

यथार्थ पूर्व पक्ष होने पर जब प्रतिवादी ठीक २ उत्तर न दे सके-तो प्रत्यर्थी पर डिगरी कर देनी चाहिए और साम, दान, भेद और दण्ड आदि से किसी भी तरह वादी का रुपया चुकवाना चाहिए॥ ६६१ ॥

मोहाद्वायदि वाशाठ्याद्यन्नोक्तं पूर्ववादिना ।

उत्तरांतर्गतं वातत्प्रश्नैर्ग्राह्यंद्वयोरपि ॥६६२॥

अज्ञान या चालाकी से पूर्व वादी ने जिस बात को न खोला हो और वह उत्तर प्रत्युत्तर में खुल जावे. तो अध्यक्ष (जज) उस बात पर प्रश्न करके उसको खोल लेवे ॥ ६६२ ॥

सत्यं मिथ्योत्तरं चैवप्रत्यवस्कंदनं तथा ।

पूर्वन्याय विधिश्चैवमुत्तरंस्याच्च चतुर्विधम् ॥६६३॥

सत्य, मिथ्या प्रत्यवस्कन्दन और पूर्व न्याय विधि-इन भेदों से उत्तर चार प्रकार का होता है ॥ ६६३ ॥

अंगीकृतं यथार्थं यद्वाद्युक्तं प्रतिवादिना ।

सत्योत्तरंतु तज्ज्ञेयं प्रतिपत्तिश्चसास्मृता ॥६६४॥

वादी ने जो कुछ कहा है-वह ठीक है-इस प्रकार प्रतिवादी जब स्वीकार करले-तो इसको सत्योत्तर कहा जाता है और इसको प्रतिपत्ति कहते हैं ॥ ६६४ ॥

श्रुत्वा भाषार्थ मन्यस्तु यदितं प्रतिषेधति ।

अर्थतः शब्दतो वापि मिथ्यातज्ज्ञेय मुत्तरम् ॥६६५॥

वादी के भाषा (प्रार्थना) पत्र को सुनकर यदि प्रतिवादी उसका प्रतिशेध करदे, चाहे वह-प्रतिशेध शब्द का हो या अर्थ का हो-यह मिथ्योत्तर कहाता है, क्योंकि इस उत्तर में वादी की बात को मिथ्या बताया गया है ॥ ६६५ ॥

मिथ्यैतन्नाभि जानामि तदातत्रम सन्निधिः।

अजातश्चास्मितत्काले इतिमिथ्याचतुर्विधम् ॥६६६॥

यह मिथ्या है। इसका मुझे कुछ पता नहीं है। मैं वहाँ उस समय था ही नहीं। मैं तो तब उत्पन्न भी नहीं हुआ था। इस प्रकार से मिथ्या चार प्रकार का होता है ॥ ६६६ ॥

अर्थिनालिखितोह्यर्थः प्रत्यर्थीयदितं तथा।

प्रपद्यकारणं ब्रूयात्प्रत्यवंस्कंदनं हितत् ॥६६७॥

वादी ने जो बात प्रार्थना पत्र में लिखी हों और प्रतिवादी उनको मान कर उनका अन्य कोई कारण बतावे, ऐसे उत्तर को प्रत्यवस्कन्दन उत्तर कहते हैं। बात को मानकर काटने का नाम प्रत्यवस्कन्दन है ॥ ६६७ ॥

अस्मिन्नर्थे ममानेनवादः पूर्वमभूत्तदा।

जितोयमस्तिचेद्ब्रूयात्प्राङ्न्यायःस उदाहृतः ॥६६८॥

इस विषय में इसका-मेरा प्रथम झगड़ा हो चुका। यह उसमें पराजित हो चुका-इस तरह के उत्तर (जवाब दावे) को प्राङ् न्याय या पूर्व न्याय विधि कहा है ॥ ६६८ ॥

जयपत्रेण सभ्यैर्वासाक्षिभिर्भावयाम्यहम् ।
मयाजितः पूर्वमिति प्राङ्न्यायस्त्रिविधः स्मृतः ।

मैंने इसको प्रथम जीत लिया है। इसका निश्चय तीन प्रकार से होता है। प्रथम तो जय पत्र दूसरे सभ्य (राज्य के अधिकारी) और तीसरे साक्षियों से इस बात का निर्णय होता है ॥ ६६६ ॥

अन्योन्ययोः समक्षंतुवादिनोः पक्षमुत्तरम् ।
नहिगृह्णंतिये सभ्यादंड्यास्ते चौरवत्सदा ॥६७०॥

जो अधिकारी वादी प्रतिवादी के प्रत्यक्ष में पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष का विवेचन न करके उसके सम्बन्ध में पीछे से अन्वेषण (खोज) जारी कर देते हैं, वे अधिकारी चोर की भाँति दण्ड के योग्य होते हैं ॥ ६७० ॥

लिखिते शोधिते सम्यक्सति निर्दोषउत्तरे ।
अर्थि प्रत्यर्थिनोर्वापिक्रिया कारण मिष्यते ।६७१॥

बयानों को अच्छी तरह लिखकर शोधकर निर्दोष उत्तर (जवाब दावा) ग्रहण कर लेने पर वादी प्रतिवादी के विषय में आगे अन्वेषण [तहकीक़ात] करनी चाहिए ॥ ६७ ॥

पूर्वपक्षः स्मृतः पादोद्वितीयश्चोत्तरात्मकः ।
क्रियापादस्तृतीयस्तु चतुर्थो निर्णयाभिधः ६७२॥

इस प्रकार व्यवहार [मुकद्दमे] के चार पाद हैं। (१) पूर्वपक्ष, (२) उत्तर, (३) क्रिया पाद [तहकीक़ात] और (४) निर्णय [फैसला] देना है ॥ ६७२ ॥

कार्यं हिसाध्य मित्युक्तं साधनं तु क्रियोच्यते ।
अर्थीतृतीयपादेतु क्रियायाः प्रतिपादयेत् ॥६७३॥

कार्य को साध्य और साधनों [हेतुओं] को क्रिया कहते हैं। वादी जब तृतीय पाद अर्थात् क्रिया पाद [तहकीक़ात] का आरम्भ हो—तब वह अपने सारे हेतुवादों को–निर्णेता के सन्मुख रख देवे॥ ६७३॥

चतुष्पाद्व्यवहारः स्यात्प्रतिपत्त्युत्तरं विना ।
क्रमागतान्विवादांस्तु पश्येद्वाकार्य गौरवात् ॥६७४॥

इस प्रकार व्यवहार [मुकद्दमे] के चार पाद माने हैं! सत्योत्तर वाले व्यवहार में तो ये चार बातें चल नहीं सकती हैं, क्योंकि उसमें वादी के दावे को प्रतिवादी मान लेता है। राजा आये हुए मुकद्दमों को क्रमानुसार देखे अथवा कार्य के गौरव का विचार करके आगे पीछे भी करके राजा देख सकता है।॥६७४॥

यस्यवाभ्यधिकापीडाकार्यंवाभ्यधिकं भवेत् ।
वर्णानुक्रमतो वापि नयेत्पूर्वं विवादयेत् ॥६७५॥

जिसके अधिक पीड़ा हो अथवा जिसका कार्य अत्यधिक आवश्यक हो। वर्णों के क्रम से भी मुकद्दमों को आगे पीछे कर लिया जा सकता है। इस प्रकार राजा विवादों [झगड़ों] को सुलझावे ॥ ६७५ ॥

कल्पयित्वोत्तरं सभ्यैर्दातव्यै कस्यभावना ।
साध्यस्य साधनार्थंहि निर्दिष्टायस्य भावना ॥६७६॥

विभावयेत्प्रतिज्ञातं सोऽखिलं लिखितादिना ।
नचैकस्मिन्विवादेतु क्रियास्याद्वादिनोर्द्वयोः ।।६७७।।

अपने साध्य [दावे] को सिद्धि [ताईद] के लिए जिसने अपने अभिप्राय को खोलकर रख दिया है, अधिकारी उनके प्रश्नों के उत्तर सोच २ कर उसके अभिप्राय को स्पष्ट करलें। वादी अपने प्रतिज्ञात अर्थ (दावे) को लिखित हेतुओं से सिद्ध करे। एक विवाद (मुकद्दमे) में दो वादियों का झगड़ा नही सुलझाना चाहिए ।। ६७६-६७७ ।।

मिथ्याक्रिया पूर्ववादेकारण प्रतिवादिनि ।
प्राङ्न्याय कारणोक्तौतु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम् ।।

यदि विवाद प्रथम ही चला है, तो विना वादी के प्रमाण लिए प्रतिवादी से उत्तर मांगना मिथ्या क्रिया कहाती है। यदि विवाद प्रथम चल चुका है और प्रतिवादी के हक़ में फैसला हो चुका हो—तो उसका निर्णय पत्र प्रतिवादी प्रथम हो दिखा सकता है ।। ६७८ ।।

तत्त्वाच्छलानुसारित्वाद्भूतं भव्यंद्विधास्मृतम ।
तत्त्वं सत्यार्थाभिधायिकूटाद्य भिहितं छलम् ।।६७९।।

भूत या भव्य साधन, तत्व या छल के अनुसार दो प्रकार का माना है सत्यार्थ को कहने वाला तत्व और कूटार्थ को कहने छल कहाता है ।। ६७९ ।।

कारणात्पूर्व पक्षोपि उत्तरत्वं प्रपद्यते ।

ततोर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थ साधनम् ॥६८०॥

कभी २ किसी कारण से पूर्व पक्ष भी उत्तर बन जाता है। इस दशा में प्रार्थी अपने लिखे हुए अर्थ की सिद्धि में लिखकर हेतुवाद देवे ॥ ६८० ॥

तत्साधनं तुद्विविधं मानुषं दैविकं तथा ।

त्रिधास्याल्लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेतिमानुषम् ॥

किसी विवाद के निर्णय में दो प्रकार के हेतुवाद होते हैं। एक मानुष, दूसरे दैविक, मानुष प्रमाण लिखित, भुक्ति (कब्जा) और साक्षियों के रूप में तीन प्रकार का होता है ॥ ६८१ ॥

दैवंघटादितद्भव्यं भूतालाभे नियोजयेत् ।

युक्तानुमानतो नित्यंसामादि भिरुपक्रमैः ॥६८२॥

घर आदि के आकस्मिक सञ्चालन की क्रिया दैविक साधन हैं, जिन्हें—भव्य भी कहते हैं। इनको भूत (मानुष) साधन के अभाव में प्रयुक्त करना चाहिए। उचित अनुमान और सामादि उपायों से ही प्रथम निर्णय करना उचित माना गया है ॥ ६८२ ॥

नकालहरणं कार्यं राज्ञा साधन दर्शने ।

महान्दोषो भवेत्कालाद्धर्म व्यापत्तिलक्षणः ॥६८३॥

किसी भी वादी प्रतिवादी के साधनों के देखनेमें राजा विलम्ब न लगावे। किसी साधन के न देखने में अधिक काल लगा देने

पर बड़ा दोष उत्पन्न हो जाता है। जिससे कभी २ धर्म का विनाश हो जाता है ॥ ६८३ ॥

अर्थी प्रत्यर्थि प्रत्यक्षं साधनानि प्रदर्शयेत ।

अप्रत्यक्षं तयोर्नैवगृह्णीयात्साधनं नृपः ॥६८४॥

अर्थी और प्रत्यर्थी के समक्ष में साधनों को राजा ग्रहण करे। राजा कभी उनके असमक्ष में किसी के साधनों को ग्रहण न करे॥ ६८४ ॥

साधनानांचये दोषावक्तव्यास्ते विवादिना ।

गूढास्तु प्रकटाः सभ्यैः कालशास्त्र प्रदर्शनात्॥६८५॥

प्रतिवादी के हेतुवादों में जो दोष हों, उनको वादी प्रकट करे। जो दोष अभी तक वादी की दृष्टि में नहीं आए हों, उनको समय के अनुसार शासन (क़ानून) दिखाकर अधिकारी प्रकट कर देवे ॥ ६८५ ॥

अन्यथा दूषयन्दंड्यः साध्यार्था देवहीयते ।

विमृश्यसाधनं सम्यक्कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥६८६॥

यदि वादी व्यर्थ ही दूसरे के पक्ष को दूषित करे—तो उसको दण्ड देना चाहिए अथवा उसके साध्य का खण्डन कर देना चाहिए अर्थात् उसके दावे को खारिज कर देना उचित है। राजा वादी प्रतिवादी के हेतुवादों पर खूब विचार करके अपना निर्णय देवे ॥ ६८६ ॥

कूट साधनकारीतु दंड्ययः कार्यानुरूपतः ।
द्विगुणं कूटसाक्षीतु साक्ष्यलोपीतथैवच ॥६८७॥

राजा मिथ्या विवाद (मुकदमे) खड़े करने वाले को उसके विवाद के अनुसार दण्ड देवे । झूंठी साक्षी देने वाले को दुगुना दण्ड और साक्षी के बहकाने वाले को भी दुगुना ही दण्ड होना उचित है ॥ ६८७ ॥

अधुना लिखितं वक्ष्मियथा वदनुपूर्वशः ।
अनुभूतस्मारकंतु लिखितं ब्रह्मणाकृतम् ॥६८८॥

मैंने जो लिख दिया है, उसे मैं अभी बांचकर सुना देता हूँ । जिस बात का प्रत्यक्ष अनुभव किया हो, उसको लिखकर स्मरण कराना तो ब्रह्मा का वाक्य समझना चाहिए ॥ ६८८ ॥

राजकीयं लौकिकं चद्विविधं लिखितं स्मृतम् ।
स्वहस्त लिखितंवान्यहस्तेनापिवि लेखितम् ॥६८९॥

राजकीय और लौकिक-इस प्रकार लेख दो प्रकार का होता है । यह दोनों ही लेख अन्य के हाथ और अपने हाथ से—लिखे जाते हैं ॥ ६८९ ॥

असाक्षिमत्साक्षिमच्च सिद्धिर्देशस्थितेस्तयोः ।
भोगदान क्रियाधान संविद्दास ऋणादिभिः ॥६९०॥
सप्तधालौकिकं चैतत्त्रिविधं राज शासनम् ।
शासनार्थं ज्ञापनार्थं निर्णयार्थं तृतीयकम् ॥६९१॥

इन दोनों प्रकार के लेख की प्रमाणिकता साक्षी या बिना साक्षी दोनों प्रकार से होती है। इसमें देश काल का विचार करना पड़ता है। भोग (कब्जा) दान, क्रिया, आधान (धरोहर) संवित् (करार) दास और ऋण—ये सात बातें—लौकिक लेख में होती हैं। शासन, ज्ञापन और निर्णय ये तीन बातें, राजकीय लेख में होती हैं ॥ ६६०-६६१ ॥

राज्ञास्वहस्त संयुक्तं स्वमुद्राचिह्नितं तथा।
राजकीयंस्मृतं लेख्यं प्रकृतिभिश्च मुद्रितम् ॥६६२॥

राजा के हाथ से लिखा हुआ, राजा की मुद्रा के चिन्ह से अङ्कित, तथा उनके—मन्त्री आदि की मुद्रा से अङ्कित लेख राजकीय लेख कहाता है ॥ ६६२ ॥

निवेश्यकालं वर्षंचमासंपक्षं तिथितथा।
वेला प्रदेशं विषयस्थानं जात्याकृतिवयः ॥६६३॥
साध्यं प्रमाणं द्रव्यंच संख्यांनाम तथात्मनः।
राज्ञांचक्रमशोनाम निवासं साध्यनामच ॥६६४॥
क्रमात्पितृणां नामानि पितामह तृतीयकम्।
क्षमालिंगानि चान्यानिपक्षे संकीर्त्य लेखयेत् । ६६५॥

इस निर्णय पत्र में काल, वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, समय, प्रदेश, विषय, स्थान, जाति, आकृति, वय (आयु) साध्य (दावा) प्रमाण, द्रव्य, संख्या, अपना नाम, राजा का नाम, वादियों का निवास, साध्य का नाम, पिता, पितामहों का नाम तथा क्षमा

करने के चिन्ह, एक ओर मिसल में राजा आग्रह पूर्वक लिखवाले ॥ ६६३-६६५ ॥

यत्रैतानिन लिख्यंतेहीनं लेख्यं तदुच्यते ।
भिन्नक्रमंव्युत्क्रमार्थं प्रकीर्णार्थं निरर्थकम् ॥६६६॥
अतीतकाल लिखितं नस्यात्तत्साधनक्षमम् ।
अप्रगल्भेणाच स्त्रियाबलात्कारेण यत्कृतम् ॥६६७॥

जिस लेख में ये पूर्वोक्त बातें नहीं लिखी गई हों, वह पत्र अप्रामाणिक माना जावेगा। क्रम से रहित, विपरीत अर्थ वाला, प्रकीर्ण अभिप्राय से संयुक्त, निरर्थक अथवा—समय (मियाद) के बाहर लिखा हुआ लेख अमान्य होता है। यह अपने साध्य (दावे) की सिद्धि में पर्याप्त साधन (हेतु) नहीं माना जा सकता है। जो लेख अप्रगल्भ (नाबालिग) तथा स्त्री ने लिखा या बलात्कार स किसी से लिखाया गया हो—ये सब लेख अप्रमाण कोटि में आ जाते हैं॥ ६६८-६६७ ॥

सद्भिर्लेख्यैः साक्षिभिश्च भोगैर्दिव्यैः प्रमाणताम् ।
व्यवहारे नरोयातिचेहासु प्राप्नुते सुखम् ॥६६८॥

जिस लेख को सज्जनों ने लिखा हो। जिस पर साक्षी हों। जिसमें भोग (कब्जा) का प्रमाण हो या जिसमें दैविक प्रमाण साधन बना लिए गए हों-ऐसा लेख व्यवहार (मुकद्दमे) में प्रामाणिकता को प्राप्त होता है। ऐसे लेख को उपस्थित करने वाला पुरुष ही सुख प्राप्त करता है ॥ ६६८ ॥

स्वेतरः कार्यविज्ञानीयः ससाक्षीत्वनेकधा ।
दृष्टार्थश्च श्रुतार्थश्च कृतश्चैवाऽकृतोद्विधा ॥६६६॥

अपने सम्बन्ध से भिन्न इस विवाद के सन्बन्ध में जानने वाला, साक्षी माना जाता है । साक्षी अनेक प्रकार का होता है । साक्षी देखने और कानों से प्रत्यक्ष सुनने वाला होना चाहिए । कृत और अकृत भेद से साक्षी दो तरह का होता है अर्थात् वादियों का पेश किया हुआ या वादियों का प्रस्तुत (पेश) नहीं किया हुआ स्वयं राजा का बुलाया हुआ साक्षी होता है ॥ ६६६ ॥

अर्थिप्रत्यर्थि सान्निध्यादनुभूतंतु प्राग्यथा ।
दर्शनैः श्रवणैर्येन ससाक्षी तुल्यवाग्यदि ॥७००॥

वादी या प्रतिवादी के समीप रहकर जिसने प्रथम कभी इस विवाद का अनुभव किया हो । वह अनुभव चाहे आँख का हो चाहे कान का हो । साक्षी की वाणी एक सी होनी चाहिए—उसमें कोई भेद नहीं होना चाहिए ॥ ७०० ॥

यस्यनोपहता बुद्धिः स्मृतिः श्रोत्रंचनित्यशः ।
सुदीर्घेणापि कालेन सवै साक्षित्वमर्हति ॥७०१॥

जिसकी बुद्धि, स्मृति, श्रवणशक्ति, नष्ट नहीं—हुई हो—वह दीर्घ काल चले-जाने पर भी साक्षी रह सकता है ॥ ७०१ ॥

अनुभूतः सत्यवाग्यः सैकः साक्षित्वमर्हति ।
उभयानुमतः साक्षीभवत्ये कोपि धर्मवित् ॥७०२॥

जो सत्यवादी अपनी प्रत्यक्ष देखी बात बतावे, वही सर्व श्रेष्ठ मुख्य साक्षी माना जाता है। वादी प्रतिवादी दोनों का माना हुआ एक भी धर्मात्मा साक्षी पर्याप्त होता है ॥ ७०२ ॥

यथा जाति यथा वर्णं सर्वे सर्वेषु साक्षिणः।
गृहिणोन पराधीनाः सूरयश्चाप्रवासिनः ॥७०३॥
युवानः साक्षिणः कार्याः स्त्रियः स्त्रीषुचकीर्तिताः।

जाति और वर्ण के अनुसार प्रत्येक जाति और वर्ण में प्रत्येक साक्षी बन सकता है। गृहस्थी, स्वतन्त्र वृत्ति वाले, विद्वान अप्रवासी, तथा युवा मनुष्यों को साक्षी बनाना चाहिए। स्त्रियों के झगड़ों में स्त्री साक्षी होनी चाहिए ॥ ७०३ ॥

साहसेषुच सर्वेषुस्तेय संग्रहणेषुच ॥७०४॥
वाग्दंडयोश्च पारुष्येन परीक्षेत साक्षिणः।

लूटमार, चोरी, अपहरण, गाली गलौज, कठोर भाषण- इनमें कैसे भी साक्षी-लिए जा सकते हैं। वहाँ साक्षियों पर इतने बन्धन नहीं हैं ॥ ७०४ ॥

बालोज्ञानाद सत्यात्स्त्री पापाभ्यासाच्चकूटकृत् ॥७०५॥
विब्रूयाद्बांधवः स्नेहाद्वैर निर्यातनादरिः।
अभिमानाच्च लोभाच्च विजातिश्च शठस्तथा ॥७०६॥
उपजीवन संकोचाद्भृत्यश्चैतेह्य साक्षिणः।
नार्थ संबधिनो विद्यायौन संबंधिनोपिन ॥७०७॥

श्रेण्यादिषु च वर्गेषु कश्चिच्चेद्द्वेष्यतामियात् ।
तस्यतेभ्यो न साक्ष्यंस्याद्द्वेष्टारः सर्वएवते ॥७०८॥

अज्ञान के कारण बालक, असत्य भाषण करने के कारण स्त्री, पाप के अभ्यासी होने से छली, स्नेह के कारण बांधव, वैर निकालने को शत्रु, अभिमान से विजाति, लोभ से दुष्ट पुरुष, अपनी जीविका के लोभ से नौकर मिथ्या बोल सकते हैं, इससे उनको साक्षी नहीं बनाना चाहिए । धन, विद्या और योनि सम्बन्ध (कुटुम्ब) रखने वाले पुरुषों को भी साक्षी नहीं बनाया जा सकता है । अपनी २ श्रेणी (जाति) में भी किसी २ को द्वेष रहता है, इससे इन लोगों को साक्षी में प्रामाणिक नहीं माना गया है, क्योंकि ये सब एक प्रकार के वैरी ही कहाते हैं ॥ ७०५-७०८ ॥

न कालहरणं कार्यं राज्ञा साक्षि प्रभाषणे ।
अर्थि प्रत्यर्थि सान्निध्ये साध्यार्थे पिचसन्निधौ ।७०९

राजा को साक्षी के लेने में विलम्ब नहीं लगाना चाहिए । यह सब कुछ वादी प्रतिवादी के समक्ष में विवाद के प्रचलित रहने के समय में भी करना चाहिए ॥ ७०९ ॥

प्रत्यक्षंवादयेत्साक्ष्यंन परोक्षं कथंचन ।
नांगी करोतियः साक्ष्यं दंड्यः स्यादिशितो यदि ॥

वादी प्रतिवादी के समक्ष में साक्षी की गवाही लेवे । पीछे से गवाही लेना-निरर्थक है । जो राजा के आज्ञा देने पर भी

साक्ष्य (गवाही) देने से इन्कार करे-उसको राजा दण्ड देवे ॥ ७१० ॥

यः साक्षान्नैवनिर्दिष्टोनाहूतो नैवदेशितः ।
ब्रूयान्मिथ्येतितथ्यं वा दंड्यः सोपिनराधमः ॥७११॥

जिसको गवाही के लिए बुलाया न गया हो-न किसी वादी प्रतिवादी ने निर्दिष्ट किया हो और न राज आज्ञा ही हो, ऐसा साक्षी व्यर्थ ही झूंठी-सच्ची गवाही देने का आग्रह करे तो राजा को ऐसे नीच को दण्ड देना चाहिए॥ ७११ ॥

द्वैधेबहूनां वचनं समेषु गुणिनांवचः ।
तत्राधिक गुणानांच गृह्णीयाद्वचनं सदा ॥७१२॥

यदि बहुत साक्षी गुजरे हों और उनमें मत भेद हो-तो जिधर अधिक साक्षी हों--उस पक्ष की माने। यदि बराबर हों-तो गुणवान साक्षियों की बात माने। गुणवालों में अधिक गुणवाले-जिधर हों-उनकी बात माननी चाहिए॥ ७१२ ॥

यत्रा नियुक्तोपीक्षेत शृणुयाद्वापि किंचन ।
पृष्टस्तत्रापि सब्रूयाद्यथा दृष्टं यथा श्रुतम् ॥७१३॥

किसी भी कार्य में यदि किसी को लगाया नहीं गया परन्तु उसने उस विवाद (मुकद्दमे) के विषय में कुछ सुन लिया हो या देख लिया हो-यदि उससे पूछ लिया जावे, तो वह जैसा देखा हो या सुना हो वैसा बतादे ॥ ७१३ ॥

विभिन्न कालेयज्ज्ञातं साक्षिभिश्चांशतः पृथक् ।
एकैकंवादयेत्तत्र विधिरेष सनातनः ॥७१४॥

भिन्न २ काल में साक्षियों ने जो कुछ कमती बढ़ती अंश जाना हो—ऐसे स्थान पर सबसे पृथक् २ पूछ लेवे । यह सनातन विधि है ॥ ७१४ ॥

स्वभावोक्तं वचस्तेषां गृह्णीयान्न बलात्क्वचित् ।
उक्तेतु साक्षिणा साक्ष्येन प्रष्टव्यंपुनः पुनः ॥७१५॥

उनके स्वभावोक्त वचन को ग्रहण करे । उनसे दबाकर कुछ न कहलावे । जब साक्षी अपने बयानों को समाप्त कर देवे तो फिर उससे बार २ पूछना अनुचित है ॥ ७१५ ॥

आहूयसाक्षिणः पृच्छेन्नियम्य शपथैर्भृशम् ।
पौराणैः सत्यवचन धर्ममाहात्म्य कीर्तनैः ॥७१६॥

साक्षियों को बुलाकर शपथ पूर्वक उनसे गवाही लेवे । उनको पुराणोक्त सत्य वचन और धर्म के महत्व का ज्ञान भी करवा देवे ॥ ७१६ ॥

अनृतस्यातिदोषैश्च भृशमुत्रासयेच्छनैः ।
देशेकाले कथं कस्मात्किं दृष्टंवा श्रुतंत्वया ॥७१७॥

मिथ्या भाषण में जो दोष हैं, उनका भी धीरे २ श्रवण कराकर उसे त्रिभासित कर देवे । इसके अनन्तर किस देश काल में तुमने क्या सुना या देखा है—यह पूछे ॥ ७१७ ॥

लिखितं लेखितं यत्तद्वदसत्यंत देवहि ।
सत्यं साक्ष्यं ब्रुवन्साक्षीलोकानाप्नोति पुष्कलान् ॥
इहचानुत्तमांकीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ।
सत्येन पूज्यते साक्षीधर्मः सत्येनवर्धते ॥७१६॥

जैसा लिखा गया या लिखवाया गया—इस विषय में जो तुम जानते हो-वह सत्य २ कहो। जो साक्षी सत्य गवाही देता है, वह उत्तम लोकों को प्राप्त करता है। उसकी इस लोक में कीर्ति बढ़ती है—यह ब्रह्मा जी का वचन है। सत्य से साक्षी की पूजा होती है और सत्य से धर्म की वृद्धि होती है॥ ७१६ ॥

तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ।
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षीगतिरात्मैव ह्यात्मनः ॥७२०॥

किसी भी वर्ण की साक्षी क्यों न हो-साक्षियों को सर्वदा सत्य ही बोलना चाहिए। मनुष्य की आत्मा सबका साक्षी है-इससे मनुष्य कभी मिथ्या न बोले। अपने आत्मा की प्रेरणा के अनुसार साक्षी सत्य कहे॥ ७२० ॥

मावमंस्थास्त्वमात्मानं नृणांसाक्षिण मुत्तमम् ।
मन्यते वैपापकारीन कश्चित्पश्यतीतिमाम् ॥७२१॥

मनुष्यों का उत्तम साक्षी आत्मा है-उसकी आवाज़ की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। जो पापी होता है-वही यह समझता है, कि मैं जो मिथ्या साक्षी दे रहा हूँ, इसे कोई नहीं जानता, परन्तु यह धोखा है-उसका आत्मा उसे सब कुछ मानता है।७२१।

तांश्चदेवाः प्रपश्यंति यथाह्यंतर पूरुषः ।
सुकृतंयत्त्वयाकिंचिज्जन्मांतरशतैः कृतम् ॥७२२॥
तत्सर्वं तस्यजानीहियं पराजयसेमृषा ।
समाप्नोषिच तत्पापं शतजन्मकृतं सदा ॥७२३॥

मिथ्या साक्षी देने वाले अथवा पापी पुरुष के पाप को देवता और अन्तरआत्मा अवश्य देखता है। मनुष्य जन्म जन्मान्तर सौ वर्ष में भी जिस पुण्य को करता है-वह सब उसके हो जाते हैं, जिसे वह मिथ्या बोल कर हराना चाहता है। मिथ्या साक्षी देने वाला उस मनुष्य के-सौ जन्म के पापों का अधिकारी हो जाता है॥ ७२२-७२३॥

साक्षिणं श्रावयेदेवस्म भायामरहोगतम् ।
दद्याद्देशानुरूपंतु कालं साधन दर्शने ॥७२४॥

इन-उपर्युक्त बातों को सबके सन्मुख साक्षी को सुना देवे। देश के अनुसार उसको वादी के साधन दिखाने का समय भी दिया जावे॥ ७२४॥

उपाधिनासमीक्ष्यैवदैवराजकृतं सदा ।
विनष्टे लिखिते साक्षिभोगैर्विचारयेत् ॥७२५॥

राजा, दैव या राजकीय ढंग से खोज करके साक्षी, और भोग (कब्जे) के अनुसार फैसला देवे। अग्नि आदि को हाथमें रखना दैविक उपाय हैं। यह सब कुछ किसी लेख के नहीं मिलने पर किया जा सकता है॥ ७२५॥

लेखसाक्षिविनाशेतु सद्भोगादेवचिंतयेत ।
सद्भोगाभावतः साक्षीलेखतो विमृशेत्सदा । ७२६॥

लेख और साक्षी दोनों ही न मिले-तो भोग (कब्जे) अनुसार राजा, निर्णय करे । यदि किसी का भोग (कब्जा) न हो-तो वहाँ लेख और साक्षियों के आधार पर विचार करना चाहिए ॥ ७२६ ॥

केवलेनच भोगेन लेखेनापिच साक्षिभिः ।
कार्यंनचिंतयेद्राजालोक देशादिधर्मतः ॥७२७॥

राजा, लोक और शास्त्र मर्यादा को विचार कर कभी केवल भोग (कब्जा) लेख या साक्षियों के आधार पर फैसला न देवे । और न विवाद पर विचार करे ॥ ७२७ ॥

कुशलालेख्यबिंबानिकुर्वंति कुटिलाः सदा ।
तस्मान्नलेख्य सामर्थ्यात्सिद्धिरे कांतिकीमता ॥७२८

कुशल कुटिल लोग, मिथ्या लेख भी बना लेते हैं, इसलिए केवल किसी लेख के आधार पर ही राजा को मुकदमे का फैसला नहीं कर देना चाहिए ॥ ७२८ ॥

स्नेहलोभ भयक्रोधैः कूट साक्षित्वशंकया ।
केवलैः साक्षिभिर्नैव कार्यं सिध्यति सर्वदा ॥७२९॥

स्नेह, लोभ, भय, और क्रोध के कारण झूंठी गवाही देना सम्भव है, अतएव केवल साक्षियों पर ही अभियोग का फैसला नहीं होना चाहिए ॥ ७२९ ॥

अस्वामिकं स्वामिकंवा भुंक्तेयद्बल दर्पितः ।
इति शंकित भोगैर्नकार्यं सिध्यति केवलैः ॥७३०॥

जो बलवान मनुष्य होता है, वह अपनी और पराई सबकी चीज़ों पर अधिकार कर लेता है—इसलिए केवल-भोग (कब्जे) से ही किसी मुकद्दमे का फैसला नहीं किया जाना चाहिए। इस तरह भोग में भी सन्देह बनाही रह सकता है ॥ ७३० ॥

शंकित व्यवहारेषु शंकयेदन्यथानहि ।
अन्यथा शंकितान्सभ्यान्दंडयेच्चौर वन्नृपः ॥७३१॥

जिन व्यवहारों (मुकद्मों) में उचित शंका की जा चुकी, फिर उनमें विपरीत शङ्का नहीं उठानी चाहिए। जो कोई अधिकारी ऐसे मुकद्मों में व्यर्थ की शंका (उजर) उठावे-तो राजा उसको चोर की भांति दण्ड देवे ॥ ७३१ ।

अन्यथा शंकनान्नित्यमनवस्था प्रजायते ।
लोको विभिद्यते धर्मो व्यवहारश्च हीयते ॥७३२॥

इस तरह नित्य के सन्देहों से तो कभी व्यवहारों का निर्णय ही नहीं हो सकेगा और अनवस्था होती चली जावेगी। इस तरह लोक की रीति और व्यवहारों का क्रम भी बिगड़ जावेगा ॥ ७३२ ॥

सागमो दीर्घकालश्च विच्छेदो परमोज्झितः ।
प्रत्यर्थि सन्निधानश्च भुक्तो भोगः प्रमाणवत् ॥७३३॥

लेख के सहित तथा दीर्घ काल का भोग (कब्जा) प्रमाणिक होता है। किसी प्रकार किसी भी वस्तु का उसके स्वामी से विच्छेद होगया या उसने उसे बिलकुल ही छोड़ दिया हो—इस पर पूर्व स्वामी समीप में ही रहता हो, तो ऐसी अवस्था में कब्जा प्रमाणिक माना गया है ॥ ७३३ ॥

संभोगं कीर्तयेद्यस्तु केवलंनागमं क्वचित् ।

भोगच्छलापदेशेन विज्ञेयः सतुतस्करः ॥७३४॥

आगमेपिबलं नैव भुक्तिः स्तोकापि यत्रनो ।

जिस व्यवहार में भोग (कब्जा) ही प्रमाण हो और कोई लेख नहीं मिलता हो तो ऐसा भोग छल हो सकता है। इस तरह किसी की वस्तु को दबा बैठना चोरपन है। जिस लेख के साथ थोड़ा बहुत भोग (कब्जा) न हो—वह लेख भी मिथ्या हो सकता है ॥ ७३४ ॥

यं कंचिद्दशवर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी ॥७३५॥

भुज्यमानं परैरर्थं नसतंलब्धु मर्हति ।

जो धनी, अपने धन को अपने सन्मुख दूसरे को भोगता देखता रहे और वह कुछ भी न बोले-फिर-वह उसको ग्रहण करना चाहे, तो वह धन उसको नहीं मिल सकता है ॥ ७३५ ॥

वर्षाणि विंशति र्यस्य भूर्भुक्तातु परैरिह ॥७३६॥

सति राज्ञि समर्थस्य तस्य सेहन सिध्यति ।

जिसकी भूमि दूसरे मनुष्यों ने बीस वर्ष तक भोगी हो अर्थात बीस वर्ष तक किसका किसी की भूमि पर अधिकार रहा और राजा राज्य कर रहा हो-आप दावा करने में समर्थ हो और फिर भी बीस वर्ष तक कुछ न बोले तो बाद में उसको वह भूमि नहीं मिल सकती है ॥ ७२६ ॥

अनागमं तुयोभुंक्ते बहून्यब्द शतान्यपि ॥७३७॥
चौर दंडेनतं पापं दण्डयेत्पृथिवी पतिः ।

जो मनुष्य, बिना लेख के कई सैकड़ों वर्ष तक अन्य की भूमि को भोगता रहे, और बाद में उसका पूर्व स्वामी का पता लग जावे-तो राजा इस भूमि के दबाने वाले अपराधी को चोर की भांति दण्ड देवे ॥ ७३७ ॥

अनागमा पियाभुक्तिर्विच्छेदो परमोज्झिता ॥७३८॥
षष्टि वर्षात्मिकासापहर्तुं शक्यान केनचित् ।

यदि किसी के पास कोई लेख नहीं है और भूमि पर आठ वर्ष का कब्जा होगया है। पूर्व स्वामी ने उसे बिलकुल छोड़ दिया और उसका उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा-तो फिर वह भूमि साठ वर्ष बाद पूर्व स्वामी को नहीं मिल सकती है ॥ ७३८ ॥

आधिः सीमाबालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः ॥७३९॥
राजस्वं श्रोत्रियस्वंच न भोगे नप्रणश्यति ।
उपेक्षां कुर्वतस्तस्य तूष्णीं भूतस्य तिष्ठतः ॥७४० ॥

कालेतिपन्नेपूर्वोक्ते तत्फलंनाप्नुते धनी ।
भोगः संक्षेपतश्चोक्तस्तथादिव्यमथोच्यते ॥७४१॥

आधि (धरोहर) ग्राम की सीमा, बालक का धन, व्याज के लिए रखा हुआ धन और स्त्रीका धन राजाका धन, वेदपाठीका धन इन पर यदि अधिकार भी होगया है—तो भी वह पूर्व स्वामी की रहेगी। यदि पूर्ण स्वामी उस धन की बिलकुल-उपेक्षा कर देवे और चुपचाप बैठा रहे। समय भी बहुत गुजार जावे—तो फिर पूर्व धनी उसको नहीं पा सकेगा। यहाँ तक संक्षेप में भोग (कब्जे) की चर्चा की। अब दिव्य क्या वस्तु है—इसका वर्णन किया जावेगा ॥ ७३९- ४१ ॥

प्रमादाद्धनिनोयत्र त्रिविधं साधनंनचेत् ।
अर्थांश्चापह्नुते वादी तत्रोक्त स्त्रिविधोविधिः ॥७४२॥

यदि धनवान् के प्रमाद से पूर्वोक्त लेख आदि तीनों साधन न मिले, और वादी धन को हड़प कर जाना चाहे, तो उस समय तीन प्रकार विधि कही गई है ॥ ७४२ ॥

चोदनाप्रतिकालश्च युक्तिलेशस्तथैवच ।
तृतीयः शपथः प्रोक्तस्तैरेनं साधयेत्क्रमात् ॥७४३॥

शास्त्रानुसार पूर्वकाल की गुपचुप-तहकीक़ात, युक्ति प्रयोग और तीसरी शपथ-ये तीन ढंग ऐसी दशा में मुकद्दमे के निर्णय के लिए माने गए हैं ॥ ७४३ ॥

विशिष्ट तर्किताया च शास्त्र शिष्टाविरोधिनी ।
योजनास्वार्थ संसिद्ध्यै सायुक्तिस्तु न चान्यथा ।७४४।

विशेष प्रकार की कोई युक्ति निकाली जावे–जिसमें शास्त्र और श्रेष्ठ पुरुषों का विरोध न होवे, जिससे अपने स्वार्थ की सिद्धि भी हो जावे–यह युक्ति–होती है । इसके विपरीत अयुक्ति कहाती है ।। ७४४ ।।

दानं प्रज्ञापना भेदः संप्रलोभ क्रियाचया ।
चित्ताप नयनं चैव हेतवोहि विभावकाः ।।७४५।।

दान, प्रज्ञापना [समझाना] फोड़ना, लोभ देना तथा किसी भी प्रकार से उसके चित्त को अपनी ओर खैंच लेना–ये छुपी हुई बात के निकालने में समर्थ हो जाते हैं ।। ७४५ ।।

अभीक्ष्णं चोद्यमानोपि प्रतिहन्यान्न तद्वचः ।
त्रिचतुः पंचकृत्वोवा परतोर्थं सदाप्यते ।।७४६।।

बार २ प्रेरित करने पर भी जो वादी के वचन को काट न सके और यह बात उसको तीन, चार या पांच बार सुना दी गई हो तो फिर उस पर डिगरी की जा सकती है अर्थात् उससे धन दिलाया जा सकता है ।। ७४६ ।।

युक्तिष्वप्य समर्थासु दिव्यैरेनं विमर्दयेत ।
यस्माद्देवैः प्रयुक्तानि दुष्करार्थे महात्मभिः ।।७४७।।

जिस मुकदमे में युक्ति भी न चले, उसमें दिव्य शपथों का प्रयोग करे। महात्माओं ने दुष्कर समय में इन दिव्य प्रयोगों का विधान बताया है ॥७४७॥

परस्पर विशुद्ध्यर्थं तस्माद्दिव्या निवाप्यतः।
सप्तर्षि मिथ्यभीत्यर्थे स्वीकृतान्यात्म शुद्धये।७४८॥

वादी और प्रतिवादी की परस्पर शुद्धि हो जावे, इसके लिए दिव्य प्रयोग बनाए गए हैं। सप्तर्षियों ने भी डराने के निमित्त और आत्म शुद्धि के लिए इन दिव्य प्रयोगों को स्वीकार किया है॥ ७४८ ॥

स्वमहत्त्वाच्च योदिव्यं नकुर्याज्ज्ञान दर्पतः।
वसिष्ठाद्याश्रितं नित्यं सनरो धर्म तस्करः।७४९॥

अपने अभिमान और ज्ञान के गौरव से जो वसिष्ठ आदि सात ऋषियों के माने हुए दिव्य उपायों को नहीं मानता है, वह मनुष्य, धर्म का तस्कर है ॥ ७४९ ॥

प्राप्ते दिव्येपि नशपेद्ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः।
संहरंतिच धर्मार्धं तस्य देवा नसंशयः ॥७५०॥

जो ज्ञान में दुर्बल ब्राह्मण दिव्य शपथ का समय आने पर भी शपथ को ग्रहण न करे—तो देवता उसके आधे धर्म का अपहरण कर लेते हैं—इसमें सन्देह नहीं है ॥ ७५० ॥

यस्तु स्वशुद्धि, मन्विच्छन्दिव्यं कुर्यादतंद्रितः।
विशुद्धोलभते कीर्तिंस्वर्गं चैवान्यथानहि ॥७५१॥

जो अपनी शुद्धि के निमित्त—सावधानी के साथ दिव्य शपथ को करता है, वह विशुद्ध होकर कीर्ति प्राप्त करता है, मरने पर स्वर्ग में जाता है। यदि ऐसा नहीं करता तो उसकी अपकीर्ति होकर वह नरक में गिरता है ॥ ७५१ ॥

अग्नि र्विषं घटस्तोयं धर्माधर्मौच तंडुलाः ।
शपथाश्चैव निर्दिष्टा मुनिभि र्दिव्यनिर्णये ।.७५२॥

अग्नि, विष, तुला, जल, धर्म, अधर्म, चावल चाबना, तथा शपथ—ये बातें दिव्य निर्णय में मुनियों ने स्वीकार की हैं ॥७५२॥

पूर्वं पूर्वं गुरुतरं कार्यं दृष्ट्वा नियोजयेत् ।
लोक प्रत्ययतः प्रोक्तं सर्वं दिव्यं गुरु स्मृतम् ७५३॥

इनमें पूर्व २ की अधिक गौरव वाली हैं,इनको यथा योग्य—कार्य के गौरव में प्रयुक्त करे। संसार को दिव्य शपथ पर अधिक विश्वास है, इससे यह सबसे अधिक भारी माना जाता है। ७५३।

तप्तायो गोलकं धृत्वा गच्छेन्नैव पदंकरे ।
तप्तांगारेषु वागच्छेत्पद्भ्यां सप्त पदानिहि ।.७५४.।
तप्त तैल गतं लोह माषं हस्तेननिर्हरेत् ।
सुतप्तलोह पत्रंवा जिह्वया सँल्लिहेदपि ।.७५५॥
गरं प्रभक्षयेद्धस्तैः कृष्णसर्पं समुद्धरेत ।
कृत्वास्वस्य तुलासाम्यं हीनाधिक्यं विशोधयेत् ॥

प्रतप्त लोहे के गोले को हाथ में लेकर चले और जिसके हाथ पर दाग न पड़े यह, उत्तम अग्नि की दिव्य शपथ है । इसी तरह जलते हुए अङ्गारों में सात पद गमन करने की विधि है। प्रतप्त तेल में पड़े हुए एक मासे लोहे के टुकड़े को हाथ से निकाल देवे अथवा प्रतप्त लोह के पत्र को जिह्वा से चाट लेवे। जो विष भी खाजावे। हाथ से काले सर्प को पकड़ लेवे—इनसे यदि हानि न हो तो उस मनुष्य को सच्चा समझना चाहिए। अथवा अपने को तराजू में चढ़ाकर कमती बढ़ती होने की पड़ताल करके अपनी शुद्धि प्रकट करे, अर्थात् कितना ही बाट एक ओर रख दिए जावें—तो भी सच्चा मनुष्य भारी निकलेगा ॥७५४-७५६॥

स्वेष्ट देवस्नपनजमद्यादुदक मुत्तमम् ।
यावन्नियमितः कालस्तावदं बुनिमज्जनम् ॥७५७॥
अधर्मधर्म मूर्तीनाम दृष्ट हरणं तथा ।
कर्ष मात्रांस्तंडुलांश्च च वंयेच्च विशंकितः ॥७५८॥

यदि मैंने इस काम को किया हो तो मैं अपने इष्ट देव के स्नान का जल पान करता हूं। अर्थात् यह भी एक शपथ है, इस में झूंठे मनुष्य को इष्ट देव प्रत्यक्ष नाश कर देता था। जितनी देर तक जल में डूबे रहने को कहा जावे—उतनी देर जल में डूबा रहे। अधर्म और धर्म की मूर्ति को आंख के पट्टी बांध कर छूवे। सच्चा धर्म की मूर्ति को ही छूवेगा। एक तोला भर चांवल शंकाहीन होकर चाबले। झूठे मनुष्य के मुख से रक्त बहने लगेगा ऐसी प्रसिद्ध है॥ ७५७-७५८॥

स्पर्शयेत्पूज्य पादांश्च पुत्रादीनां शिरांसिच ।
धनानि संस्पृशेद्वाक्तु सत्येनापि शपेत्तथा ।।७५६।।
दुष्कृतं प्राप्नुयामद्य नश्येत्सर्वंतु सत्कृतम् ।

अपने पूज्य माता पिता आदि का स्पर्श, पुत्र आदि के शिर का स्पर्श, धन का स्पर्श, भी दिव्य शपथ के अन्तर्गत है । मिथ्या स्पर्श करने वाले का नाश या पुत्र आदि की मृत्यु होजावेगी । सत्य की भी शपथ खाई जाती है । वे इस प्रकार की होती हैं, कि सारा दुष्कृत मुझे प्राप्त हो और आज यदि मैं मिथ्या भाषण करूं तो मेरा सब कुछ नष्ट होजावे ।।७५६।।

सहस्रे प हृतेचाग्निः पादोनेच विषं स्मृतम् ।।७६०।।
त्रिभागोनेधटः प्रोक्तो ह्यर्धेच सलिलं तथा ।
धर्माधर्मौ तदर्धेच ह्यष्टमांशेच तंडुलाः ।।७६१।।
षोडशांशे च शपथा एवं दिव्यविधिः स्मृतः ।
एषां संख्यानि कृष्टानां मध्यानांद्विगुणा स्मृता ।।
चतुर्गुणोत्तमानां च कल्पनीया परीक्षकैः ।
शिरो वर्तियंदानस्यात्तदा दिव्यं नदीयते ।।७६२
अभियोक्ताशिरः स्थाने दिव्येषु परिकीर्त्यते ।
अभियुक्ताय दातव्यं दिव्यं श्रुति निदर्शनात् ७६४।।
नकश्चिदभियोक्तारं दिव्येषु विनियोजयेत् ।
इच्छयात्वितरः कुर्यादितरो वर्तयेच्छिरः ।।७६५।।

यदि हजार की चोरी होगई हो तो अग्नि की दिव्य शपथ खिलाई-जानी चाहिए। यदि एक सहस्र से कम की चोरी हो तो विष पान कराया जावे। तीन भाग से कम में तुला पर चढ़ाया जावे। इससे आधे में जल में गोता लगवाया जावे। इससे आधे में धर्म अधर्म की शपथ और एक सहस्र के अष्ट मांश पर पर चांवल चबाने उचित है। एक सहस्र से सोलहवें भाग में सत्य की शपथ खाई जावे। इस प्रकार दिव्य विधि मानी गई है। यह दिव्य शपथों की संख्या है-मध्यम शपथों की संख्या इससे दुगुनी मानी गई है। परीक्षक लोग उत्तम दिव्य शपथों की चौगुनी संख्या मानते हैं। जब तक दिव्य शपथ वाला शिर कंपा कर स्वीकृति न देवे, तब तक उसे दिव्य शपथ नहीं देनी चाहिए। अभियोक्ता दिव्य शपथ के लिए शिर कम्पन को स्वीकार करे। शास्त्र की यही आज्ञा है, कि दिव्य शपथ अभियुक्त के लिए ही जानी चाहिए। कहीं पर भी अभियोगी को दिव्य शपथ नहीं देनी चाहिए यदि उसको इच्छा हो-तो वह अभियोगी भी दिव्य शपथ ले सकता है-उसके लिए दूसरा प्रतिवादी शिर हिलाने का अधिकारी होता है ॥७६०-७६५॥

पार्थिवैः शंकितानांच निर्दिष्टानांच दस्युभिः।
आत्मशुद्धि पराणांच दिव्यं देयं शिरोविना ॥७६६॥

जिन मनुष्यों पर राजा का सन्देह हो, अथवा चोर लुटेरों ने जिनका नाम बताया हो या जो अपनी शुद्धि दिखाना चाहते

है, उनको दिव्य शपथ देनी चाहिए । इसमें विरोधी के शिर कम्पन की आवश्यकता नहीं है ॥७६६॥

परदाराभि शापेच ह्यगम्या गमनेषुच ।
महापातक शस्तेच दिव्यमेव चानान्यथा ॥७६७॥

परस्त्री के दोष लगाने पर अगम्या स्त्री के साथ गमन करने पर तथा अन्य महापातकों के होने पर दिव्य शपथ का विधान है, छोटे मोटे झगड़ों में दिव्य शपथ नहीं की जानी चाहिए ॥७६७॥

चौर्याभि शंका युक्तानां तप्तमाषो विधीयते ।
प्राणांतिकविवादेतु विद्यमानेपि साधने ॥७६८॥
दिव्यमालंबते वादीनपृच्छेत्तत्र साधनम् ।

जिन पर चोरीका सन्देह हो उनको एक मासा तप्त लोहा तेल से निकलवाना चाहिए । प्राण नाश के विवाद में अन्य साधनों के रहने पर भी वादी, दिव्य शपथ का प्रयोग कर सकता है—उस समय फिर अन्य साधनों की चर्चा नहीं हो सकेगी ॥७६८॥

सोपधं साधनं यत्र तद्राज्ञे श्रावितं यदि ॥७६९॥
शोधयेत्तत्तु दिव्येन राजा धर्मासनस्थितः ।

यदि किसी हेतु वाद में छल हो और वह राजा को सुना दिया गया हो, तो धर्मासनगत राजा उसकी सचाई दिव्य शपथ के द्वारा कर सकता है ॥७६९॥

यन्नाम गोत्रैर्यल्लेख्य तुल्यं लेख्यं यदाभवेत् ॥७७०॥
अगृहीत धने तत्र कार्योदिव्येन निर्णयः ।

किसी मनुष्य के नाम और गोत्र से ऋण पत्र वैसा ही लिखा गया जैसा रुपया देने पर लिखा जाता है, और किसी कारण से रुपया न दिया गया हो–तो राजा उस स्थान पर दिव्य शपथ के द्वारा निर्णय करे ॥७७०॥

मानुषं साधनं नस्यात्तत्र दिव्यं प्रदापयेत् ॥७७१॥
अरण्ये निर्जने रात्रावंत वेंश्मनि साहसे ।
स्त्रीणां शीलाभि योगेषु सर्वार्थाप ह्नवेषुच ॥७७२॥
प्रदुष्टेषु प्रमाणेषु दिव्यैः कार्यं विशोधनम् ।
महापापाभि शस्तेषु निक्षेप हरणेषु च ॥७७३॥
दिव्यैः कार्यं परिक्षेत राजा सत्स्वपि साक्षिषु ।

जिस जगह मनुष्य के हेतुवादों की पहुंच न हो–उसी स्थान पर दिव्य साधन का उपयोग बताया गया है । निर्जन वन रात्रि घर के भीतर बलपूर्वक लिखाए हुए स्त्रियों के आचरण के विषय सब कुछ गुप्त रहस्यों, में जब प्रमाण दुष्ट हो जावे, तब दिव्य शपथ द्वारा अपराधी की शुद्धि करानी चाहिए । यद्यपि उसम साक्षी हों तो भी राजा बड़े २ अपराध और धरोहर आदि के अपहरण में दिव्य साधनों से ही अभियोगों का निर्णय करे ॥

प्रथमा यत्र भिद्यंते साक्षिणश्च तथा परे ॥७७४॥
परेभ्यश्च तथा चान्ये तंवादंशपथैर्नयेत् ।

जिस विवाद में प्रथम साक्षी और उसके बाद के साक्षी तोड़ फोड़ दिए गए हों—ऐसे अभियोगों का राजा दिव्य शपथों से निर्णय कर देवे ।।७७४।।

स्थावरेषु विवादेषु युग श्रेणि गणेषुच ।।७७५।।
दत्तादत्तेषु भृत्यानां स्वामिनां निर्णयेसति ।
विक्रियादान संबंधे क्रीत्वा धनमयच्छति ।।७७६।।
साक्षिभि र्लिखिते नाथभुक्त्याचैतान्प्रसाधयेत् ।

स्थावर (अचल) सम्पत्ति, जाति और समूह के अभियोग, दान देकर नहीं देने, भृत्य और स्वामी के निश्चित नियम में वे भी चीज़ के न लेने या दाम न देने में साक्षी, लेख या भोग (कब्जे) के आधार पर राजा फैसला देवे ।।७७५-७७६।।

विवाहोत्सव द्यूतेषु विवादे समुपस्थिते ।।७७७।।
साक्षिणः साधनं तत्र नदिव्यं नचलेखकम् ।

विवाह उत्सव, द्यूत आदि के मुकदमें खड़े होने पर साक्षी मात्र पर फैसला दिया जा सकता है—ऐसे अवसर पर दिव्य शपथ और लेख की कोई आवश्यकता नहीं है ।।७७७।।

द्वार मार्ग क्रिया भोग्य जल वाहादिषु तथा ।।७७८।।
भुक्तिरेवतु गुर्वीस्यान्नदिव्यं नच साक्षिणः ।

द्वार, मार्ग या अन्य भोग्य वस्तु एवं जल प्रवाह आदि का ग्रहण इनमें भोग ही प्रमाण है, दिव्य शपथ या साक्षी लेख आदि की कोई आवश्यकता नहीं समझनी चाहिए ।।७७८।।

यद्येको मानुषीं ब्रूयादन्योब्रूयात्तु दैविकीम् ॥७७९॥
मानुषीं तत्र गृह्णीयान्नतु दैवीं क्रियां नृपः ।

वादी प्रतिवादी में एक तो मानुष क्रिया हेतुवाद आदि देकर अपने विवाद को सिद्ध करना चाहे और दूसरा दिव्य शपथ का आग्रह करे-तो ऐसी दशा में मनुष्य सम्बन्धी हेतुवादों का ही अवलम्बन करना उचित माना गया है राजा को यहां दैविक क्रिया को ग्रहण नही करना चाहिए ।।७७९॥

यद्येकदेश प्राप्तापि क्रिया विद्येत मानुषी ॥७८०॥
साग्राह्यानतु पूर्णापि दैविकी वदतांनृणाम् ।

किसी विवाद में यदि मानुषी क्रिया हेतुवाद आदि थोड़े भी मिले—तो भी राजा, उनके आधार पर अपना निर्णय करदे, परन्तु यदि दैविक क्रिया—कोई पूरी भी करना चाहे-तो इस दशा में वह ठीक नहीं है ॥ ७८० ॥

प्रमाणैर्हेतु चरितैः शपथेन नृपाज्ञया ॥७८१॥
वादि संप्रति पत्यावा निर्णयोष्टविधः स्मृतः ।

प्रमाण, हेतु आचरण, शपथ, राजा की आज्ञा और वादी का स्वीकार—इस तरह लेख और युक्ति को मिला कर आठ तरह के निर्णय के साधन माने गए हैं ॥ ७८१ ॥

लेख्यं यत्रन विद्येत नभुक्ति र्नचसाक्षिणः ॥७८२॥
नच दिव्यावतारोस्ति प्रमाणं तत्र पार्थिवः ।

जिस विवाद (मुकद्दमे) में लेख, युक्ति, साक्षी तथा कोई दिव्य शपथ का समय न हो-उस स्थान पर राजा की इच्छा को ही प्रधान मानना चाहिए ॥ ७८२ ॥

निश्चेतुंयेनशक्याः स्युर्वादाः संदिग्ध रूपिणः । ७८३॥
सीमाद्यास्तत्रनृपतिः प्रमाणं स्यात्प्रभुर्यतः ।
स्वतंत्रः साधयन्नर्थान्राजापि स्याच्चकिल्बिषी । ७८४॥

जिन संदेह के स्थान वादों का किसी भी प्रकार से निर्णय नहीं किया जा सकता, उन सीमा आदि के विवादों में राजा ही प्रधान है, क्योंकि सीमा का स्वामी ही राजा है, वह चाहे, जिसकी जो सीमा नियत करदे । यदि राजा भी बिना विचारे राग द्वेष से उच्छृङ्खल निर्णय दे देगा—तो वह—भी पापी माना जावेगा ॥ ७८३-७८४ ॥

धर्मशास्त्राऽविरोधेन ह्यर्थं शास्त्रं विचारयेत् ।
राजामात्य प्रलोभेन व्यवहारस्तु दुष्यति ॥७८५॥

धर्मशास्त्र के अविरोध रूप में राजनीति का उपयोग किया जावे । जिस व्यवहार (मुकद्दमे) में राजा और मन्त्री का कोई स्वार्थ घुस-जाता है-वह व्यवहार बिगड़ जाया करता है ॥७८५॥

लोकापिच्यवते धर्मा कूटार्थे संप्रवर्तते ।
अति काम क्रोध लोभै र्व्यवहारः प्रवर्तते ।७८६॥

इस दशा में संसार के लोग भी धर्म से च्युत हो जाते हैं—छल करने में प्रवृत्त होने लगते हैं। अत्यन्त काम, क्रोध और लोभ के कारण से तो व्यवहारों की उत्पत्ति ही होती है ॥७८६॥

कर्तृनथोसाक्षिणश्च सभ्यान्राजान मेवच ।

व्याप्नोत्यतस्तुतन्मूलं छित्वातं विमृशन्नयेत् ॥७८७॥

झगड़े के करने वाले वादी, प्रतिवादी, साक्षी, सभ्य (अधिकारी) और राजा, इन सब पर अनुचित निर्णय का पाप पड़ता है—इसलिए इन सब के मूल राग द्वेष को नष्ट कर के राजा को विवाद का विचार करना चाहिए ॥ ७८७॥

अनर्थं चार्थवत्कृत्वा दर्शयंति नृपायये ।

अविचित्य नृपस्तथ्यं मन्यतेतैर्निदर्शितः ॥७८८॥

स्वयं करोति तद्वत्तौ भुज्यतोष्ट गुणांत्वघम् ।

अधर्मतः प्रवृत्तं तंनोपेक्षेरन्सभासदः ॥७८९॥

उपेक्ष्यमाणाः सनृपा नरकं यान्त्यधोमुखाः ।

जो राज्य के अधिकारी अनर्थ को अर्थ, अन्याय को न्याय के रूप में सुझाते हैं और राजा भी उनके बनाए हुए सिद्धान्त को बिना विचारे सही मान बैठता है अथवा राजा ही स्वयं अन्याय में प्रवृत्त हो जाता है, तो ये दोनों राजा और कर्मचारी अ[illegible]ने पाप के भारी होते हैं। सभासद अधर्म में प्रवृत्त राजा और क[illegible] चारी की उपेक्षा न करें—उनको झटपट [illegible] की भूल के सुझाने क[illegible]

प्रयत्न करें। यदि सभासद भी उपेक्षा कर देंगे तो वे राजा के सहित नरक में जावेंगे ॥ ७८८-७८९ ॥

धिग्दंडस्त्वथवाग्दंडः सभ्यायत्तौतु ताबुभौ ॥७९०॥
अर्थ दंड वधावुक्तौ राजायत्ता वुभावपि।

धिक दण्ड या वाग्दण्ड—ये दो दण्ड तो सभ्यों (अध्यक्षों) के अधीन हैं। परन्तु अर्थ दण्ड और वध दण्ड—ये दो दण्ड राजा के अधीन माने गये हैं ॥ ७९० ॥

तीरितंचानु शिष्टंच योमन्येत विधर्मतः ।.७९१॥
द्विगुणंदंड मादाय पुनस्तत्कार्यमुद्धरेत् ।

किसी भी अधिकारी के आदेश या अनुशासन को जो राजा अधर्म से छोड़ा हुआ माने, तो उस अधिकारी से दुगुना दण्ड लेकर फिर उसके-विपरीत आज्ञा जारी करे ॥ ७९१ ॥

साक्षि सभ्यावसन्नानां दूषणे दर्शनं पुनः ।.७९२॥
स्वचर्या वसितानांच प्रोक्तः पौनर्भवोविधिः।

साक्षी, सभ्य (अध्यक्ष) और कर्मचारियों में यदि कोई दूषण पाया जावे—तो उनकी फिर से पड़ताल होनी चाहिए। यदि अपने काम में ही कोई चूक रह गई हो तो उसका फिर वही विचार किया जा सकता है ॥ ७९२ ॥

अमात्यः प्राड्विवाकोवा येकुर्युः कार्यमन्यथा ॥७९३॥
तं सर्वं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं तु दंडयेत् ।
नहिजातुविनादंडं कश्चिन्मार्गे व तिष्ठते ॥७९४॥

अमात्य, प्राड् विवाक (वकील) या प्रतिनिधि किसी कार्य को बिगाड़ देवें तो राजा उस सारे कार्य को ठीक कर दे और उनके ऊपर एक सहस्र रुपये का जुर्माना करे। क्योंकि कोई भी मनुष्य, विना दण्ड के अपने मार्ग में नहीं चलता है॥ ७६३-७६४॥

सांदर्शिते सभ्य दोषेतदुद्धृत्य नृपोनयेत् ।

ज्ञा भारतार्द्राहि प्रा विवाकादि पूजनात् ॥७६५॥

यदि किसी ने किसी अध्यक्ष का कोई दोष दिखा दिया हो-तो राजा उस दोष को हटाकर उस काम को पूरा करे। यह सब कुछ अपने न्याय करने की प्रतिज्ञा के पूर्ण करने और अपने प्रतिनिधि के आदर को ध्यान में रख कर करना ही चाहिए॥ ७६५॥

जय पत्रस्य चादानाज्जयीलोके निगद्यते ।

सभ्यादि भिर्विनिर्णिक्तं विधृतं प्रतिवादिना ॥७६६॥

जय पत्र (हुकम नकल) के लेने से वादी या प्रतिवादी विजयी कहाता है। यह सभ्य (अध्यक्ष) आदि के द्वारा भी निर्णय किया जाता है, और प्रतिवादी आदि को मानना पड़ता है॥ ७६६॥

दृष्ट्वा राजातु जयिने प्रदद्याज्जय पत्रकम् ।

अन्यथा ह्यभियोक्तारं निरुध्याद्बहु वत्सरम् ॥७६७॥

मिथ्याभि योग सदृशमर्हयेदभि योगिनम् ।

राजा अध्यक्ष के जयपत्र को देखकर अपनी उस पर मुहर लगादे। यदि जयपत्र न होने-पर कोई अपने को विजयी कहकर धोखा देवे तो अभियोगी को कई वर्ष की क़ैद होनी चाहिए। इस समय अभियोगी को मिथ्या अभियोग की सी सजा देनी उचित है॥ ७६७॥

काम क्रोधौतु संयम्य योर्थान्धर्मेण पश्यति ॥७६८॥
प्रजास्तमनुवर्तंते समुद्र मिवसिंधवः।

जो राजा काम क्रोध को छोड़ कर विवादों का विचार करता है, उसके-पीछे प्रजा इस तरह चलती है-जैसे समुद्र की ओर नदी जाती हैं॥ ७६८॥

जीवतोरस्वतंत्रः स्याज्जरयापि समन्वितः॥७६६॥
तयोरपिपिताश्रेयान् बीजप्राधान्य दर्शनात्।
अभावे बीजिनोमाता तदभावेतुपूर्वजः॥८००॥

यदि पुत्र वृद्ध भी होगया है, परन्तु यदि उसके माता पिता जीवित हैं-तो वह अपनी सम्पत्ति पर स्वतन्त्र नहीं हो सकता है। इनमें पिता सब से बड़ा अधिकारी है-क्योंकि सर्वत्र बीज की प्रधानता देखी गई है। यदि उत्पन्न करने वाला पिता न रहे तो धन की अधिकारिणी माता और उसके बाद पूर्वज बड़ा भाई होता है॥ ७६६-८००॥

स्वातंत्र्यंतु स्मृतं ज्येष्ठे जैष्ठयं गुणवयः कृतम्।
याः सर्वाः पितृपत्न्यः स्युस्तासुवर्तेत-मातृवत् ॥८०१॥

भाइयों में सब से अधिक अधिकार बड़े भाई का है। बड़ापन आयु और गुण से माना गया है। जो पिता की सारी भार्या हैं, उनके साथ पुत्र माता का सा व्यवहार करता रहे ॥ ८०१ ॥

स्वसमैकेन भागेन सर्वास्ताः प्रतिपालयन् ।
अस्वतंत्राः प्रजाः सर्वाः स्वतंत्रः पृथिवीपतिः ॥८०२॥

अपने समान एक २ भाग इन माताओं का निकाले और पुत्र उन सबका पालन करता रहे। सारी प्रजा अस्वतन्त्र है–उस राज्य के कानून के साथ चलना पड़ता है। एक केवल राज स्वतन्त्र होता है ॥ ८०२ ॥

अस्वतंत्रः स्मृतः शिष्य आचार्येतु स्वतंत्रता ।
सुतस्य सुतदाराणां वशित्वमनुशासने ॥८०३॥

इसी तरह सारे शिष्य अस्वतन्त्र हैं और आचार्य को स्वतन्त्र माना गया है। पुत्र और पुत्र वधू–ये दोनों श्वसुर की आज्ञा में रहने चाहिए ॥ ८०३ ॥

विक्रये चैव दानेच वशित्वंन सुतेपितुः ।
स्वतंत्राः सर्व एवैते परतंत्रेषु नित्यशः ॥८०४॥

कारोबार करने वाला पुत्र बेचने और खरीदने में पिता की आज्ञा का प्रतीक्षक नहीं माना गया है। ये पुत्र आदि परतन्त्र होने पर भी ऐसे कार्यों में स्वतन्त्र होते हैं ॥ ८०४ ॥

अनुशिष्टौ विसर्गे वा विसर्गेचेश्वरोमतः ।
मणि मुक्ता प्रवालानां सर्वस्यैव पिताप्रभुः ॥८०५॥

शिक्षा दान और लेन देन में ये सब स्वतन्त्र हैं। मणि, मुक्ता और प्रवालों का एक मात्र स्वामी पिता माना गया है॥ ८०५॥

स्थावरस्य तु सर्वस्य नपिता नपितामहः।
भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः ॥८०६॥

सारी स्थावर सम्पत्ति का स्वामी केवल-पिता या पितामह नहीं है। उसको वे भी नहीं बेच सकते हैं। भार्या, पुत्र और दास स्वामी के जीवत रहने पर किसी भी पदार्थ के स्वामी नहीं माने गए हैं॥ ८०६॥

यत्ते समधिगच्छंति यस्यैते तस्य तद्धनम्।
वर्तते यस्य यद्धस्ते तस्य स्वामी सएवन ॥८०७॥
अन्यस्व मन्यद्धस्तेषु चौर्याद्यैः किन्न दृश्यते।
तस्माच्छास्त्रत एवस्यात्स्वाम्यंनानु भवादपि ८०८॥

इन भार्या आदि को जो धन जिससे मिलता है, उसका-स्वामी भी अन्त में वहीं होता है। जो धन जिसके हाथ में है, उसका स्वामी सब काल में वही नहीं है। अन्य के धन को चुरा कर चोर अपने हाथ में कर लेता है, पर धन उसका नहीं होता, इससे शास्त्र नियम से ही धन का स्वामीपन निश्चित किया जाता है, किसी के पंजे में फँस जाने से धन उसका ही नहीं हो जाता है॥ ८०७-८८॥

अस्यापहृत मेतेनन युक्तंवक्तु मन्यथा।
विदितोर्थागमः शास्त्रे तथा वर्णाः पृथक् पृथक् ॥

यदि पूर्वोक्त बात ठीक नहीं मानी जावेगी तो यह भी नहीं कहा जा सकता, कि इसने इसके धन का अपहरण कर लिया। धन के आने के उपाय या तरीके शास्त्रों में बता रखे हैं। प्रत्येक वर्ण के पृथक् २ धर्म माने गए हैं ॥ ८०६ ॥

शास्ति तच्छास्त्र धर्म्यं यन्म्लेच्छानामपि तत्सदा।
पूर्वा चार्यैस्तु कथितं लोकानां स्थिति हेतवे ॥८१०॥

जिस वर्ण के धर्म को जो शास्त्र कहता है-वह म्लेच्छों का भी वही शास्त्रानुसार धर्म होगा। लोक की स्थिति के कारण से पूर्वाचार्यों ने स्मृतियों में प्रत्येक वर्ण के धर्मों का निर्देष कर दिया है ॥ ८१० ॥

समान भागिनः कार्याः पुत्राः स्वस्यचवै स्त्रियः।
स्वभागार्ध हरा कन्या दौहित्रस्तु तदर्ध भाक् ॥८११॥
मृतेधिपेपि पुत्राद्या उक्तमार्ग हराः स्मृताः।
मात्रेदद्याच्चतुर्थांशं भगिन्यैमातुरर्धकम् ॥८१२॥

स्वामी अपने धन के भाग में पुत्रों का और स्त्री का समान भाग नियत करे। अपने से आधा भाग कन्या का और उससे आधा भाग कन्या के पुत्र दौहित्र का है। जब स्वामी मर जावे-तब पुत्र आदि अपने २ भाग को बटा लेवे। माता को पुत्र चतुर्थांश देवे और भगिनी को माता से आधा भाग देवे ॥ ८११-८१२ ॥

तदर्धं भागिनेयाय शेषं सर्वं हरेत्सुतः ।

पुत्रोन साधनं पत्नी हरेत्पुत्रचितत्सुतः ॥८१३॥

भगिनी से आधा अंश भानजे का है और फिर जो बाकी रह गया—उस सबका पुत्र मालिक है। यदि पुत्र न हो तो उस धन की पत्नी स्वामिनी है और पत्नी भी न रही हो—तो पुत्री को अधिकारिणी मानना चाहिए ॥ ८१३ ॥

माता पिता च भ्राताच पूर्वालाभे च तत्सुतः ।

सौदायिकं धनं प्राप्य स्त्रीणां स्वातंत्र्य मिष्यते ॥८१४

सब से प्रथम धन के स्वामी-माता पिता और माता पिता क बाद भ्राता और ये तीनों न हों—तो उनका पुत्र स्वामी होता है! जो धन स्त्री के—दाय भाग में आया है उसक व्यय करने की उसको स्वतन्त्रता होनी चाहिए ॥ ८१४ ॥

विक्रयेचैव दानेच यथेष्टं स्थावरेष्वपि ।

ऊढया कन्ययावापि पत्युः पितृ गृहाच्चयत् ॥८१५॥

मातृ पित्रादिभि र्दत्त धनं सौदायिकं स्मृतम् ।

स्थावर सम्पत्ति के बेचने लेने का भी इनका स्वतन्त्र अधिकार माना गया है। विवाहित कन्या को पिता या पतिगृह से जो कुछ मिला हो, या माता पिता ने दिया हो, वह धन सौदायिक कहाता है ॥ ८१५ ॥

पित्रादि धन संबंध हीनं यद्यदुपार्जितम् ॥८१६॥
सयेनकाममश्नीयाद विभाज्यं धनंहि तत् ।

पिता के धन को छोड़ कर जिस पुत्र ने अपने उद्योग से पृथक् धन कमाया हो, उसका वह अपनी स्वतन्त्रता से भोग कर सकता है। वह धन बटाया नहीं जा सकता है ॥ ८१६ ॥

जल तस्कर राजाग्नि व्यसने समुपस्थिते ॥८१७॥
यस्तु स्वशक्त्या संरक्षेत्तस्यां शोदशमः स्मृतः।

जल, चोर, राजा, अग्नि या ऐसी ही कोई अन्य विपत्ति के उपस्थित होने पर जिस धन की जो रक्षा करदे, तो उस धन में से रक्षा करने वाले को दशवां भाग मिलना चाहिए ॥ ८१७ ॥

हेमकारादयो यत्र शिल्पं संभूय कुर्वते ॥८१८॥
कार्यानुरूपं निर्वेशंलभेरंस्ते यथार्हतः ।
संस्कर्ता तत्कलाभिज्ञः शिल्पी प्रोक्तो मनीषिभिः ॥

सुवर्णकार आदि जिस काम को मिलकर करते हों—वे लोग अपने काम के अनुसार यथा योग्य अपना भाग नियत करलें। फिर भी वस्तु को उत्तम बना देने वाला, शिल्प शास्त्र का वेत्ता शिल्पी होता है—ऐसा विद्वानों का मत है ॥ ८१८-८१६ ॥

हर्म्यंदेव गृहंवापि वाटिकोपस्कराणिच ।
संभूय कुर्वतां तेषां प्रमुख्योद्व्यंश महंति ॥८२०॥

सुन्दर भवन, देवालय, बावड़ी, बगीची, उपस्कर (धर्मशाला) आदि को जो मिलकर बनावे, उनमें प्रधान व्यक्ति को दो अंश मिलने चाहिए ॥ ८२० ॥

नर्तकानामेव धर्मः सद्भिरेव उदाहृतः ।
तालज्ञो लभते धोंर्धं गायनास्तु समांशिनः ॥८२१॥

सज्जनों ने नाचने वालों का विभाग इस तरह बताया है, ताल का जानने वाला चौथाई भाग ग्रहण करे और गाने वाले बराबर का भाग लेवे ॥ ८२१ ॥

परराष्ट्राद्धनं यत्स्याच्चौरैः स्वाम्याऽऽज्ञया हृतम् ।
राज्ञे षष्ठांश मुद्धृत्य विभजेरन्समांशकम् ॥८२२॥

राजा की आज्ञा से शत्रु के राष्ट्र से चोरी करके जो द्रव्य लाया गया है—उसमें से राजा का छठा भाग निकाल कर सारे चोर बराबर का भाग बांट लेवें ॥ ८२२ ॥

तेषां चेत्प्रसृतानांच ग्रहणं समवाप्नुयात् ।
तन्मोक्षार्थंच यद्दत्तं वहेयुस्ते समांशतः ॥८२३॥

उन चोरों में से यदि कोई पकड़ा जावे, तो उसके छुड़ाने में जो व्यय हो—उसको भी वे चोर बराबर भुगतें ॥ ८२३ ॥

प्रयोगं कुर्वते येतुहेमाद्यन्यरसादिना ।
समन्यूनाधिकैरं शैर्लाभस्तेषांतथा विधः ॥८२४॥

जो लोग, सुवर्ण—आदि धातुओं को मार कर रस बनाते हैं, उनमें जो जैसा काम करता हो-उसको उसी हिसाब से भाग मिलना चाहिए॥ ८२४॥

समोन्यूनोधिको ह्यं शोयेन क्षिप्तस्तथैवसः ।
व्ययं दद्यात्कर्म कुर्याल्लाभं गृह्णीतचैवहि ॥८२५॥

जिसने जैसा सम-न्यून या अधिक काम किया हो, वह काम में व्यय भी उतना ही देवे, काम भी उतना ही करे और लाभ भी उतना ही ग्रहण करे। यह बटवारे की विधि व्यापारी और किसानों के विषय में कही गई है॥ ८२५॥

वणिजानां कर्षकाणामेष एव विधिः स्मृतः ।
सामान्यं याचितं न्यास आधि र्दासश्च तद्धनम् ॥
अन्वाहितंच निक्षेपः सर्वस्वं चान्वयेसति ।
आपत्स्वपिन देयानि नववस्तूनि पंडितैः ॥८२७॥

समान बटवारे से जो धन-मिल चुका, मांग कर जो प्राप्त किया, किसी ने किसी को सौंप दिया, किसी ने धरोहर के रूप में रख दिया, किसी के दास का धन, या दास अपने पास सुरक्षित गड़ा हुआ प्राप्त धन तथा अपना अन्य धन इस प्रकार नो प्रकार का धन पण्डित मनुष्य को विपत्ति पड़ने पर भी नहीं बटाना चाहिए॥ ८२६-८२७॥

अदेयं यश्च गृह्णाति यश्चादेयं प्रयच्छति ।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौचोत्तम साहसम् ॥८२८॥

जिस धन का ग्रहण करना धर्मानुसार उचित नहीं है, उस धन को ग्रहण करने वाले और ऐसे ही धन के देने वाले को राजा चोर की भाँति दण्ड देवे। और उनको उत्तम साहस नामक रुपये का दण्ड भी देना चाहिए ॥ ८२८ ॥

अस्वामि केभ्यश्चौरेभ्यो विगृह्णाति धनंतुयः।
अव्यक्तमेव क्रीणाति सदंड्यश्चौरवन्नृपैः ॥८२९॥

जो जिस धन के मालिक नहीं हैं, उनसे जो वस्तुओं को खरीदता है तथा जो चोरों से माल लेता है। तथा गुपचुप में सस्ता माल खरीद-लेता है-राजा उस पुरुष को भी चोर की भाँति दण्ड देवे ॥ ८२९ ॥

ऋत्विग्याज्यमदुष्टं यस्त्यजेदनपकारिणम्।
अदुष्टांश्चर्त्विजोयाज्योविनेयौतावुभावपि ॥८३०॥

जो ऋत्विक, यज्ञ कराने योग्य, दुष्टता से रहित, कुछ भी अपकार नहीं करने वाले, यजमान का परित्याग करता है और जो यजमान भी सज्जन ऋत्विक् का परित्याग कर देता है, राजा को उन दोनों यजमान और पुरोहितों को दण्ड देना चाहिए।८३०।

द्वात्रिंशांशं षोडशांशंलाभं पण्ये नियोजयेत्।
नान्यथा तद्व्ययं ज्ञात्वा प्रदेशाद्यनुरूपतः। ८३१॥

राजा, बिकने के माल पर सोलहवां या बत्तीसवां अंश अपना नियत करे, इससे अधिक कर न लगावे। यह भी देश काल के अनुसार मण्डी के व्यय को देख कर लगाना चाहिए ॥ ८३१ ॥

वृद्धिंहि त्वाद्यर्ध धनैर्वाणिज्यं कारयेत्सदा ।
मूलात्तु द्विगुणावृद्धि गृंहीताचाधमर्णिकात् ॥८३२॥
तदोत्तमर्ण मूलंतु दापयेन्नाधिकं ततः ।

सारे व्यापारी, मुनाफे की रकम को छोड़ कर अपनी आधी पूंजी से व्यापार करे, जिससे घाटा होने पर दूसरे का रुपया चुका दिया जावे । यदि ऋण दाता ने मूलधन से दुगुना व्याज खा लिया हो–तो राजा फिर ऋण दाता को मूलधन ही कर्ज लेने वाले से उसको दिलवावे ॥ ८३२ ॥

धनिकाश्चक्र वृद्धयादिमिषतस्तु प्रजा धनम् ॥८३३॥
संहरंति ह्यतस्तेभ्यो राजा संरक्षयेत्प्रजाम् ।

धनिक लोग, चक्रवृद्धि आदि व्याज के फेर से प्रजा के धन को लूट लेते हैं–इससे राजा, धनिकों से गरीब प्रजा को बचाता रहे ॥ ८३३ ॥

समर्थः सनददाति गृहीतं धनिकाद्धनम् ॥८३४॥
राजा संदापयेत्तस्मात्साम दंड विकर्षणैः ।

यदि ऋण लेने वाला समर्थ है और ऋण दाता के धन को नहीं चुकाता है, तो राजा, साम, दण्ड या विकर्षण (कुर्की) आदि से धनिक को उस अधमर्ण (कर्जदार) से उसका रुपया दिलवावे ॥ ८३४ ॥

लिखितंतु यदा यस्य नष्टं तेन प्रबोधितम् ॥८३५॥
विज्ञाय साक्षिभिः सम्यक्पूर्व वद्दापयेत्तदा ।

यदि वादी के पास प्रतिवादी का कोई लेख रुपये की बाबत हो और वह नष्ट हो गया हो-नष्ट होने के समय यदि उसकी रिपोर्ट राजा को कर दी गई-तो राजा साक्षी लेकर उस धनिक को अधमर्ण से उसकी रक़म दिला देवे ॥ ८३५ ॥

अदत्तं यश्च गृह्णाति सुदत्तं पुनरिच्छति ॥८३६॥
दंडनीया वुभावेतौ धर्मज्ञेन महीक्षिता ।
कूट पण्यस्य विक्रेता सदंड्यश्चौर वत्सदा ॥८३७॥

जो कर्जदार न देना चाहे और धनिक उसको छीन लावे या दिए हुए को कर्जदार फिर लौटा लेना चाहे-तो धर्मात्मा राजा को इन दोनों व्यक्तियों को दण्ड देना चाहिए। जो खोटी वस्तु बेचे या अन्य छल के साथ वस्तु का विक्रय करे-तो राजा, उस वणिक को चोखा सा दण्ड देवे ॥ ८३६-८३७ ॥

दृष्ट्वा कार्याणि च गुणाञ्छिल्पिनां भृतिमावहेत् ।
पंचमांशं चतुर्थांशं तृतीयांशंतु कर्षयेत ॥८३८॥
अर्धंवा राजताद्राजानाधिकं तु दिने दिने ।
विद्रुतं नतुहीनं स्यात्स्वर्णं पलशतं शुचि ॥८३९॥

कारीगरों के काम और गुणों को देख कर शिल्पियों की मजदूरी नियत करे। पांचवा, चौथा, तीसरा या आधे हिस्से पर खेती करवाई जा सकती है। प्रति दिन का भी यही हिसाब है, इससे अधिक नहीं दिलाना चाहिए। जो सौ तोला सुवर्ण के

गलाने पर भी उसमें कुछ भी कमी न आवे—उसे शुद्ध समझना चाहिए ॥ ८३८-८३६ ॥

चतुः शतांशं रजतं ताम्रं न्यूनं शतांशकम् ।
वंगं च जसदं सीसं हीनं स्यात्षोडशांशकम् ॥८४०॥
अयोष्टांशंत्वन्यथातु दंड्यः शिल्पी सदा नृपैः ।
सुवर्णं द्विशतांशं तु रजतंच शतांशकम् ॥८४१॥
हीनंसु घटिते कार्ये सुसंयोगेतु वर्धते ।
षोडशांशं त्वन्यथाहि दंड्यः स्यात्स्वर्ण कारकः ॥८४२

चार सौ तोला—चाँदी और ताँबा में सौवां भाग कम हो जाता है। रांग, जस्त, और सीसे में सोलहवां भाग कम होता देख गया है लोह में अष्टमांश कम होता है। यदि इससे अधिक न्यून हो जावे—तो कारीगर को दण्ड होना चाहिए। सुवर्ण में दो सौवां भाग और चाँदी में सौवां भाग कम होना कोई दण्ड की बात नहीं है। इतना घटना उचित ही है। यह उत्तम रीति से किए गए कार्य में होता है। टाँके से जोड़ देकर आभूषण बनाने पर सोलहवां भाग तोल में बढ़ जावेगा। यदि सोलहवें भाग से अधिक बढ़ जावे—तो सुनार को दण्ड होना चाहिए। ८४०-८४२ ॥

संयोग घटनं दृष्ट्वा वृद्धिह्रासं प्रकल्पयेत् ।
स्वर्णस्योत्तम कार्ये तु भृति स्त्रिंशांश कीमता ॥८४३॥

आभूषण में जिस प्रकार टांका लगा कर उसका जोड़ दिया गया है, उसी तरह तोल की वृद्धि और सुवर्ण की कमी का अनुमान कर लेना चाहिए। सुवर्ण का उत्तम आभूषण बनाने पर उसके मूल्य का तीसवां भाग मजदूरी का होना चाहिए॥ ८४३॥

षष्ट्यंशकी मध्य कार्ये हीन कार्ये तदर्धकी।
तदर्धा कटकेज्ञेया विद्रुते तु तदर्धकी ॥८४४॥

यदि मध्यम काम बना है, तो उसकी मजदूरी मूल्य से साठवां भाग और अधम काम बना तो उसकी मजदूरी एक सौ बीसवां भाग होनी चाहिए। यदि कड़े बनाए गए हों तो दो सौ चालीसवां भाग और गलाने की चार सौ अस्सीवां भाग मजदूरी होती है॥ ८४४॥

उत्तमे राजते त्वर्धातदर्धा मध्यमा स्मृता।
हीनेतदर्धा कटके तदर्धा संप्रकीर्तिता। ८४५॥

यदि चाँदी का आभूषण उत्तम कारीगरी के साथ घड़ा गया हो तो उसकी मजदूरी मूल्य से आधी होगी। मध्यम घड़ाई पर मूल्य से चौथाई मानी गई। अधम शिल्प के साथ बनाए गए आभूषण की आठवां भाग होती है और चाँदी के कड़ों की घड़ाई मूल्य से सोलहवें भाग मानी गई है॥ ८४५॥

पाद मात्रा भृतिस्ताम्रे वंगेच जसदे तथा।
लोहे धार्वा समा वापि द्विगुणा त्रिगुणाथवा ॥८४६॥

तांबें, रांग और जस्त की घड़ाई उनके मूल्य से चौथाई होती है। लोह के पात्र की घड़ाई उसके मूल्य से आधी होती है या जितने का वर्तन हो–उतनी ही घड़ाई होगी। किसी २ लोहे के औजार की घड़ाई दुगुनी तिगुनी भी होती है॥ ८४६॥

धातूनां कूटकारीतु द्विगुणो दंडमर्हति ।
लोक प्रचौररुत्पन्नो मुनिभिर्विधृतः पुरा ॥८४७॥

जो कारीगर धातुओं में मिलान करदे–उस पर मूल्य से दुगुना दण्ड होना चाहिए इसी तरह दण्ड देने से लोक का व्यवहार चलता है और विद्वान मुनियों ने ऐसा ही दण्ड देना निश्चित किया है॥ ८४७॥

व्यवहारोनंत पथः सवक्तुं नैव शक्यते ।
उक्तं राष्ट्र प्रकरणं समासात्पंचमं तथा ॥८४८॥

संसार के व्यवहार के अनन्त मार्ग हैं। उसका कथन कौन कर सकता है। इस प्रकार यह पांचवां राष्ट्र प्रकरण समाप्त होता है ॥ ८४८॥

अत्रानुक्ता गुणादोषास्तेज्ञेया लोक शास्त्रतः ।
षष्ठं दुर्ग प्रकरणं प्रवक्ष्यामि समासतः ॥८४९॥

इस प्रकरण में जो बात नहीं कही गई–उसको लोक और शासनसे विचार कर समझ लेनीं चाहिए। अब छठा दुर्ग प्रकरण संक्षेप में कहा जाता है॥ ८४९॥

अथ दुर्ग प्रकरणम्

खात कंटक पाषाणै र्दुष्पथं दुर्ग मैरिणम् ।

परितस्तु महाखातं पारिखं दुर्गमेव तत् ॥८५०॥

खात (गढढे-खाई) कांटे और पाषाणों से जिसके मार्ग दुर्गम बना दए गए उस दुर्ग को ऐरिण दुर्ग कहते हैं। जिस दुर्ग के चारों ओर बड़ी खाई हो-उसे पारिख दुर्ग कहा गया है।८५०।

इष्ट कोपलमृद्भित्ति प्राकारं पारिघं स्मृतम् ।

महाकंटक वृक्षौघै र्व्याप्तं तद्वन दुर्गमम् ॥८५१॥

ईंट, पत्थर और मिट्टी की जिस दुर्ग में भीत बनी हों-उसे पारिघ दुर्ग कहा है। जिस दुर्ग के चारों ओर बड़े २ कांटेदार वृक्ष लगा दिए गए हों-वह वन दुर्ग कहाता है ॥८५१॥

जला भावस्तु परितो धन्वदुर्गं प्रकीर्तितम् ।

जल दुर्गंस्मृतं तज्ज्ञैरासमंतान्महाजलम् ॥८५२॥

जिस दुर्ग के आस पास जल न हो-रेतीले टीले हों-वह धन्व दुर्ग होता है और जिस दुर्ग के चारों ओर जल ही जल भरा हो-उसे जल दुर्ग माना है ॥ ८५२ ॥

सुवारि पृष्ठोच्च धरं विविक्ते गिरि दुर्गमम् ।

अभेद्यं व्यूह विद्वीर व्याप्तं तत्सैन्य दुर्गमम् ॥८५३॥

जिसके पीछे जल हो—और जो पर्वत पर बनाया गया हो, वह गिरि दुर्ग होता है। जो बड़े २ वीरों की व्यूह रचना से दुर्भेद्य हो—उसे सैन्य दुर्ग कहा है ॥ ८५३ ॥

सहाय दुर्गं तज्ज्ञेयं शूरानुकूल बांधवम् ।
पारिखादैरिणं श्रेष्ठं पारिघंतु ततोवनम् ॥८५४॥
ततो धन्वं जलं तस्माद्गिरिदुर्गं ततः स्मृतम् ।
सहाय सैन्य दुर्गेतु सर्व दुर्ग प्रसाधिके ॥८५५॥
ताभ्यां विनान्य दुर्गाणि निष्फलानि महीभुजाम् ।
श्रेष्ठंतु सर्वदुर्गेभ्यः सेनादुर्गं स्मृतंबुधैः ॥८५६॥
तत्साधकानि चान्यानि तद्रक्षेन्नृपतिः सदा ।
सेनादुर्गंतु यस्य स्यात्तस्य वश्यातु भूरियम् ॥८५७॥
विनातु सैन्यदुर्गेण दुर्गमन्यत्तु बंधनम् ।
आपत्कालेन्य दुर्गाणामाश्रयश्चोत्तमोमतः ॥८५८॥

जिस दुर्ग में अनुकूल शूरवीर बन्धुजन निवास करते हों-वह सहाय दुर्ग होता है। पारिख दुर्ग से ऐरिण दुर्ग श्रेष्ठ होता है। उससे श्रेष्ठ पारिघ और उससे उत्तम वन दुर्ग माना गया है। इस वन दुर्ग से भी उत्तम धन्व दुर्ग, उससे श्रेष्ठ गिरि दुर्ग होते हैं सहाय दुर्ग और सैन्य दुर्ग—इन सारे दुर्गों के सहायक दुर्ग हैं इन दोनों दुर्गों के विना अन्य दुर्ग राजाओं के लिए निष्फल

सिद्ध होते हैं ! विद्वानों ने सार दुर्गों में सेना दुर्ग को सर्व श्रेष्ठ दुर्ग माना है, अन्य दुर्ग तो इन सेना दुर्गों के साधन मात्र हैं। राजा सर्वदा सैन्य दुर्ग की रक्षा करता रहे। सैन्य दुर्ग के अन्य सारे दुर्ग तो बन्धन मात्र (क़ैद खाने) हैं। अन्य दुर्गों का आश्रय तो आपत्काल में करना चाहिए॥ ८५७-८५८॥

एकः शतं योधयति दुर्गस्थोऽस्त्र धरोयदि ।
शतं दश सहस्राणि तस्माद्दुर्गं समाश्रयेत् ॥८५६॥

यदि एक अस्त्रधारी योद्धा दुर्ग पर स्थित है, तो वह अकेला ही सैकड़ों से लड़ सकता है और यदि सौ योद्धा दुर्ग के प्राकार पर अस्त्र लेकर खड़े हों—तो सहस्रों से लड़ सकते हैं, इससे दुर्ग का आश्रय परमावश्यक माना गया है॥ ८५६॥

शूरस्य सैन्य दुर्गस्य सर्वं दुर्गमित्रस्थलम् ।
युद्ध संभार पुष्टानि राजा दुर्गाणि धारयेत् ॥८६०॥

शूरवीर सेना के लिए तो सारे-दुर्ग स्थलों के समान ही स्थल युद्ध भी है। राजा अपने दुर्गों को युद्ध की सामग्री से परिपुष्ट करके रखे—विना युद्ध सामग्री के वे रीते माने गए हैं॥ ८६०॥

धान्य वीरास्त्र पुष्टानि कोश पुष्टानिवै तथा।
सहाय पुष्टं यद्दुर्गं तत्तुश्रेष्ठतरं मतम् ॥८६१॥

अन्य, शूरवीर, अस्त्र और कोश से पुष्ट दुर्ग श्रेष्ठ माना गया है। जिस दुर्ग में सहायक बन्धु बान्धव विद्यमान हैं, वह सर्व श्रेष्ठ माना गया है॥ ८६१॥

सहाय पुष्ट दुर्गेण विजयोनिश्चयात्मकः ।
यद्यत्सहाय पुष्टं तु तत्सर्वं सफलं भवेत् ॥८६२॥

जो दुर्ग–सहायक बन्धु बान्धव वीरों की सेना से युक्त है उसके आश्रय से अवश्य विजय होती है। जो सहायक सेना से पुष्ट होता है, वह सफल माना जाता है ॥ ८६२ ॥

परस्परानुकूल्यंतु दुर्गाणां विजय प्रदम् ।
दौर्गसंक्षेपतः प्रोक्तं सैन्यं सप्तम मुच्यते ॥८६३॥

दुर्गों की परस्पर अनुकूलता विजय देने वाली है। यहाँ तक संक्षेप में दुर्ग प्रकरण कहा—अब सातवां सैन्य प्रकरण कहा जाता है ॥ ८६३ ॥
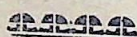
अथ सैन्य प्रकरणम्

सेनाशस्त्रास्त्र संयुक्ता मनुष्यादि गणात्मिका ।
स्वगमान्य गमाचेति द्विधासैव पृथक् त्रिधा ॥८६४॥

शस्त्र और अस्त्रों से सुसज्जित मनुष्यों का समूह सेना कहाता है। इसके दो भेद हैं। एक तो पैदल और दूसरे सवार सेना। इसके भी फिर तीन भेद माने गए हैं ॥ ८६४ ॥

दैव्यासुरी मानवीच पूर्वं पूर्वं बलाधिका ।
स्वगमायास्वयं गंत्रीयान्यगाऽन्यगमा स्मृता ॥८६५

प्रथम दैवी दूसरी आसुरी और तीसरी मानवी। इन में मानवी से आसुरी और आसुरी से दैवी सेना बलवती मानी जाती है। जो अपने परों के बल से चले, वह स्वगमा और जो किसी अश्व आदि सवारी पर चले वह अन्य गमा सेना होती है ॥८६५॥

पादातं स्वगमंत्वान्यद्रथाश्व गज गंत्रिधा ।

सैन्याद्विनानैव राज्यं न धनं न पराक्रमः ॥८६६॥

पैदल सेना स्वगमा और रथ सेना, अश्व सेना अन्यगमा होती हैं। सेना के विना न तो राज्य हो सकता है न धन तथा न कोई पराक्रम दिखाया जा सकता है ॥ ८६६ ॥

बलिनो वशगाः सर्वे दुर्बलस्य च शत्रवः ।

भवंत्यल्प जनस्यापि नृपस्यतु न किंपुनः ॥८६७॥

सारे लोग, बलवान के वश में हो जाते हैं और दुर्बल के शत्रु बन बैठते हैं। यह नियम साधारण मनुष्यों में भी होता है, फिर राजा की तो चर्चा ही क्या है ॥ ८६७ ॥

शारीरंहि बलं शौर्यं बलं सैन्य बलं तथा ।

चतुर्थमास्त्रिक बलं पंचम धीबलं स्मृतम् ॥८६८॥

षष्ठमायुर्बलं त्वेतै रुपेतोविष्णु रेवसः ।

नबलेन विनाप्यल्पं रिपुं जेतुं क्षमः सदा ॥८६९॥

शारीरिक बल, आत्मबल और सैन्य बल-ये तीन बल माने गए हैं। चौथा बल अस्त्रों का है। पांचवां बल बुद्धि का माना

जाता है। छठा बल आयु का होता है। इन छः बलों से युक्त राजा साक्षात् विष्णु के बराबर पराक्रम कर दिखाता है। बिना बल के कोई भी मनुष्य, छोटे से शत्रु के जीतने में भी समर्थ-नहीं हो सकता है ॥ ८६८-८६६ ॥

देवासुर नरास्त्वन्यो पायैर्नित्यं भवंतिहि।
बलमेव रिपोर्नित्यं पराजय करंपरम् ॥८७०॥

देव, असुर और नरसेना—यद्यपि अनेक उपाय करती रहती है, परन्तु शत्रु के पराजय करने वाले तो ये छः पूर्वोक्त बल ही सर्व श्रेष्ठ माने गए हैं॥ ८७० ॥

तस्माद्बलममोघंतु धारयेद्यत्नतो नृपः
सेनाबलंतु द्विविधं स्वीयं मैत्रंच तद्द्विधा ॥८७१॥
मौल साद्यस्कभेदाभ्यां सारासारं पुनर्द्विधा।
अशिक्षितं शिक्षितंच गुल्मी भूत प्रगुल्मकम् ॥८७२॥

इस सारी बात को विचार कर राजा, प्रयत्न पूर्वक अमोघ, बल का आश्रय ग्रहण करे। सेना का बल दो तरह का होता है। एक तो अपनी सेना का बल और दूसरे मित्र सेना का बल यह सेना बल भी मौल और साद्यस्क (नवीन) भेद से दो तरह का होता है। जो प्राचीन अपना मूल बल है, वह मौल कहाता है और जो नवीन भरती की गई है, वह साद्यस्क कहाती है। इसमें सार और असार दो भेद माने गए हैं। इनमें शिक्षित, अशिक्षित

दो भेद और हैं। इसमें भी गुल्मीभुत और अगुल्मीभूत दो भेद हैं, जिनके लक्षण अभी किए जाते हैं॥ ८७१-८७२॥

दत्तास्त्रादि स्वशस्त्रास्त्रं स्ववाहिदत्त वाहनम्।
सौजन्यात्साधकं मैत्रं स्वीयं भृत्या प्रपालितम्॥८७३॥

इस सेना में कुछ तो ऐसे होते हैं, जिनको राजा अस्त्र शस्त्र देता है और कुछ योद्धा अपने ही अस्त्र शस्त्र लाते हैं। कुछ वीरों को राजा अपने वाहन देता है। और कुछ के पास अपने ही अश्व आदि वाहन होते हैं। जो सज्जनता (स्नेह) से कार्य सिद्धि के लिए चली आवे—वह मित्र सेना और जो अपनी वृत्ति से पाली गई हो—वह स्वीय सेना होती है॥ ८७३॥

मौलं बहुनु बंधि स्यात्साद्यस्कंयत्तदन्यथा।
सुयुद्ध कामुकं सारमसारं विपरीतकम्॥८७४॥

बहुत काल से वृत्ति लेकर चली आती हुई मौल सेना होती है और जो नवीन होती है-वह साद्यस्क कहाती है। जो युद्ध के लिए उत्साहित हो रही हो-वह सारभूत और जो युद्ध को टलाना चाहती हो—वह असार सेना होती है॥ ८७४॥

शिक्षितं व्यूह कुशलं विपरीतमशिक्षितम्।
गुल्मीभूतं साधिकारिस्वस्वामिकम गुल्मकम्॥८७५॥

सेना के व्यूह रचने में जो कुशल हो-वह शिक्षित और जो व्यूह बनाना न जाने वह अशिक्षित होती है। अपने अधिकारी

बाहु युद्ध में कुशल लोगों से लड़ाकर व्यायाम, दण्ड बैठक तथा उत्तम २ शारीरिक बल के बढ़ाने वाले उत्तम भोजनों से, बाहु युद्ध के लिए सेना को पुष्ट करे ॥ ८७९ ॥

मृगयाभिस्तु व्याघ्राणां शस्त्रास्त्राभ्यासतः सदा ।
वर्धयेच्छर संयोगात्सम्यक्छौर्य बलं नृपः ॥८८०॥

सिंह आदि की मृगया (शिकार) और शस्त्रास्त्र के अभ्यास तथा बाण सञ्चालन से राजा, अच्छी तरह शूरवीरों की सेना को बढ़ावे ॥ ८८० ॥

सेनाबलंसु भृत्यातु तपोभ्यासैस्तथास्त्रिकम् ।
वर्धयेच्छास्त्र चतुर संयोगाद्धीबलं सदा ॥८८१॥

अच्छी २ वृत्ति से सेना बल, तप के अभ्यास से अस्त्र चलाने वाली सेना के बल को बढ़ावे तथा शास्त्र और बुद्धिमानों के सत्संग से अपनी राजनीति कुशलता के बल (बुद्धिबल) को राजा बढाता रहे ॥ ८८१ ॥

सत्क्रियाभिश्चिरस्थायि नित्यं राज्यं भवेद्यथा ।
स्वगोत्रेतु तथा कुर्यात्तदायुर्बलमुच्यते ॥८८२॥

यदि राजा उत्तम २ आचरण करता रहेगा—तो उसका राज्य चिरस्थायी होगा। अपने गोत्र वालों में राजा ऐसा सद्व्यवहार करता रहे–यही आयुर्बल माना गया है ॥ ८८२ ॥

के सहित जो आवे-वह गुल्मी भूत और जिसके साथ अपना स्वामी न हो वह अगुल्मक कहाती है॥ ८७५॥

दत्तास्त्रादि स्वामि नायत्स्वशस्त्रास्त्रमतोऽन्यथा ।
कृतगुल्मं स्वयंगुल्मं तद्वच्चदत्त वाहनम् ।८७६॥
आरण्यकं किरातादि यत्स्वाधीनं स्वतेजसा ।
उत्सृष्टं रिपुणावापि भृत्य वर्गे निवेशितम् ।८७७।
भेदाधीनं कृतं शत्रोः सैन्यं शत्रु बलं स्मृतम् ।
उभयं दुर्बलं प्रोक्तं केवलं साधकं न तत् ।८७८।

जिसको राजा ने अपने शस्त्रास्त्र दिए हों-वह दत्तास्त्र और जिस के पास अपने शस्त्रास्त्र हो-वह स्वशस्त्रास्त्र सेना होती है। इस प्रकार कृतगुल्म, स्वयंगुल्म और दत्तबाहन सेना भी होती है। किरात आदि की स्वतन्त्र सेना आरण्यक सेना कहाती है-यह अपने तेज से स्वतन्त्र होती है, किसी के अधीन नहीं होती जिस सेना को सन्देह में शत्रु ने निकाल दिया या तोड़ फोड़ कर अपनी ओर मिलाली हो वह शत्रु सेना का बल कहाता है। ये दोनों सेना इसलिए दुर्बल मानी गई हैं, कि इनके आधीन स्वतन्त्र काम नहीं छोड़ा जा सकता है। ये स्वतन्त्रता से काम करने में समर्थ नहीं मानी गई है ॥ ८७६-८७८ ॥

समैर्नियुद्ध कुशलै र्व्यायामैर्नतिभिस्तथा ।
वर्धयेद्बाहु युद्धार्थं भोज्यैः शारीरकैर्बलम् ।।८७९।।

यावद्गोत्रे राज्यमस्तितावदेव स जीवति ।
चतुर्गुणांहि पादातमश्वतो धारयेत्सदा ॥८८३॥
पंचमांशांस्तु वृषभा नष्टांशांश्चक्रमेलकान् ।
चतुर्थांशान्गजानुष्ट्रान्गजार्धांश्च रथान्सदा ॥८८४॥
रथात्तु द्विगुणं राजा बृहन्नालद्वयं तथा ।
पदाति बहुलं सैन्यं मध्याश्वं तु गजाल्पकम् ॥८८५॥
तथा वृषोष्ट्र सामान्यं रक्षेन्नागाधिकं नहि ।
सवयः सारवेषोच्च शस्त्रास्त्रंतु पृथक् शतम् ॥८८६॥
लघु नालिक युक्तानां पदातीनां शत त्रयम् ।
अशीत्यश्वान्रथं चैकं बृहन्नालद्वयंतथा ॥८८७।
उष्ट्रान्दश गजौद्वौतु शकटौषोडशर्षभान् ।
तथा लेखक षट्कं हि मंत्रित्रितय मेवच ॥८८८॥
धारयेन्नृपतिः सम्यक्वत्सरेलक्षकर्षभाक् ।
संभारदानभोगार्थंधनंसार्धसहस्रकम् ॥८८८।
लेखकार्थेशतं मासि मंत्र्यर्थेतु शतत्रयम् ।
त्रिशतं दारपुत्रार्थे विद्वदर्थे शतद्वयम् ॥८९०॥
साद्यश्व पदगार्थंहि राजा चतुः सहस्रकम् ।
गजोष्ट्र वृष नालार्थं व्ययी कुर्याच्चितुः शतम् ॥८९१॥
शेषं कोशे धनं स्थाप्यं व्ययी कुर्यान्न चान्यथा ।

जब तक अपने गोत्र में राज्य चलता रहे, तब तक उसका संस्थापक राजा जीवित माना जाता है। अश्वारोही सेना से चौगुनी पैदल सेना होनी चाहिए। पांचवें अंश के बैल, आठवें अंश के खच्चर, चौथाई गज तथा ऊँट और गजों से आधे रथ होने चाहिए। रथों से दुगुने दो बृहन्नाल, (बड़े तोपखाने) राजा रखे। सेना में अधिक पैदल, मध्यम संख्या में अश्वारोही और हाथी तो बहुत थोड़े होने चाहिए। बैल और ऊँटों की संख्या वाली सेना की राजा समान रूप से रक्षा करे। अधिक हाथी वाली सेना की रक्षा की इतनी आवश्यकता नहीं है—वह स्वयं सुरक्षित होती है। युवावस्था वाले, बलवान उत्तम वेष (वर्दी) शस्त्रास्त्र से सुसज्जित सौ २ वीरों की टोली बना लेनी चाहिए। छोटी नालिका (बन्दूक) संयुक्त तीन सौ पैदलों की सेना की टुकड़ी होवे। अस्सी अश्वारोही एक रथ और दो बड़े तोपखाने, दश ऊँट, दो हाथी, दो गाड़े, सोलह बैल, छः लेखक, तथा तीन मन्त्री—इस प्रकार एक सेना की टुकड़ी बनायी जावे। इस प्रकार इतनी सेना रखे, कि—जिसका साल भर में एक लाख रुपया खर्च हो। सामान और खाने पीने के खर्चे का प्रतिमास डेढ़ सहस्र रुपया नियत करना चाहिए। लिखने के काम में सौ रुपया महीना मन्त्रियों के व्यय में तीन सौ रुपया मासिक व्यय होना चाहिए। स्त्री और पुत्रों के खर्च में भी तीन सौ रुपया महीना ही हो। विद्वानों के खर्च में मासिक व्यय दो सौ रुपया माना गया है। घुड़सवार अश्व, और पैदल सैनिकों के लिए राजा चार सहस्र

नियत करे। गज, ऊँट और वृष पर चलने वाली बन्दूक और तोपों का व्यय चार सौ रुपये मासिक हो। इससे बचे हुए धन को राजा कोश में सुरक्षित रखे। इसके विपरीत राजा व्यय न करे॥ ८८३-८९१॥

लोह सार मयश्चक्र सुगमोमंचकासनः॥८९२॥
स्वादोलायितरूढस्तु मध्यमासन सारथिः।
शस्त्रास्त्र संधायुदरइष्टच्छायो मनोरमः॥८९३॥
एवं विधो रथो राज्ञा रक्ष्योनित्यं सदश्वकः।

जिस रथ में लोह सार के सुन्दर चक्र हों, उत्तम मंच से युक्त आसन हो। जिस के कमानी उत्तम बनी हों। मध्यमासन पर सारथि के बैठने का आसन हो। जिसके भीतर शस्त्रास्त्र रखे जा सकते हों, जिसकी कान्ति सुन्दर हो और जो स्वयं देखने में मन को खैंचता हो, ऐसे उत्तम अश्वों से युक्त रथ की राजा अच्छी तरह रक्षा करता रहे॥ ८९२-८९३॥

नील तालु नील जिह्वो वक्रदंतो ह्यदंतकः॥८९४॥
दीर्घद्वेषी क्रूर मदस्तथा पृष्ठ विधूनकः।
दशाष्टोन नखो मंदो भूविशोधन पुच्छकः॥८९५॥
एवं विधोऽनिष्ट गजो विपरीतः शुभावहः।
भद्रो मंद्र मृगोमिश्रो गजोजात्या चतुर्विधः॥८९६॥

काले तालु, काली जिह्वा, और बांके दांतों वाला या दन्त रहित, दीर्घ द्वेष रखने वाला, क्रूर और मदोद्धत, पीठ कंपाने

वाला, अट्ठारह से कम नख धारी, मूर्ख तथा अपनी लम्बी पूंछ से भूमि का मार्जन करने वाला-हाथी, अशुभ हाथी माना जाता है, इसके विपरीत लक्षणों वाला-हाथी शुभ होता है भद्र, मन्द्र मृग और मिश्र-ये हाथियों की चार जातियां होती हैं।८६४-८६६।

मध्वाभदंतः सबलः समांगोवर्तुला कृतिः।
सुमुखोवयव श्रेष्ठो ज्ञेयो भद्रगजः सदा ॥८६७॥

जिस हाथी के दांत मधु के समान रंग वाले हों, जो बलशाली हो, जिसके अंग समान हों—जो गोल आकृति धारी हो, जिसके मुख और अवयव सुन्दर हों, ऐसा हाथी भद्रगज कहाता है।८६७।

स्थूल कुक्षिः सिंह दृक् च बृहत्त्वग्गल शुंडकः।
मध्यमावयवोदीर्घ कायो मंद्रगजः स्मृतः ॥८६८॥

जिस हाथी की कुक्षि-स्थूल हो, सिंह की सी आंख हों, मोटी त्वचा, गला एवं शुण्ड लम्बी हों, जिसके अवयव मध्यम हों और दीर्घ शरीर हो—वह मद्रगज कहाता है ॥ ८६८ ॥

तनु कंठ दंत कर्ण शुंडः स्थूलाक्ष एवहि।
सुहृत्स्वाधरमेढ्रस्तु वामनो मृग संज्ञकः ॥८६९॥

जिस हाथी के कण्ठ, दांत, कान और सूंड-पतले हों, स्थूल आँखें हों, हृदय, अधर (होंठ) और मेढ्र (लिङ्ग) ये सुन्दर हों ऐसा वामन (ह्रस्व) आकार धारी हाथी मृग संज्ञक होता है।८६९।

एषां लक्ष्मै र्विमिलितो गजोमिश्र इति स्मृतः।
भिन्नं भिन्न प्रमाणंतु त्रयाणामपि कीर्तितम् ॥९००॥

इन सारे हाथियों के जिसमें लक्षण मिल जावे—वह मिश्र हाथी कहाता है। इन तीनों प्रकार की मिलावट के भी भिन्न२ भेद पृथक् २ कहे हैं ॥ ६०० ॥

गजमानेह्यंगुलं स्यादष्टभिस्तु यवोदरैः ।
चतुर्विंशत्यंगुलैस्तैः करः प्रोक्तो मनीषिभिः ॥६०१॥
सप्तहस्तोन्नति र्भद्रे ह्यष्ट हस्त प्रदीर्घता ।
परिणाहोदशकर उदरस्य भवेत्सदा ॥६०२॥
प्रमाणं मंद्रमृगयो र्हस्तहीनं क्रमादतः ।
कथितं दैर्घ्यं साम्यंतु मुनिभि र्भद्र मंद्रयोः ॥६०३॥

आठ जौ का एक अंगुल हाथी की नांप में प्रयुक्त होता है। इसी तरह बुद्धिमान मनुष्यों ने इसी चौबीस अंगुल का एक हाथ माना है। भद्रहाथी की ऊँचाई सात हाथ और लम्बाई आठ हाथ की होती है। हाथी के उदर की चौड़ाई दश हाथ की होती है। मद्र और मृग गजों की नांप इस भद्रहाथी से एक हाथ कम होती है। भद्र और मन्द्र की लम्बाई समान ही होती है ॥ ६०१-६०३ ॥

बृहद्भ्रूगंडमालस्तु धृतशीर्षगतिः सदा ।
गजः श्रेष्ठस्तु सर्वेषां शुभलक्षण संयुतः ॥६०४॥

जिसकी भृकुटी, गण्डस्थल मस्तक और चाल-बृहत् हो, वह शुभ लक्षणों से युक्त हाथी सर्व श्रेष्ठ होता है ॥ ६०४ ॥

पंचयवांगुलेनैव वाजिमानं पृथक्स्मृतम् ।
चत्वारिंशांगुल मुखो वाजीयश्चोत्तमोत्तमः ॥६०५॥
षट्त्रिंशदंगुल मुखोह्युत्तमः परिकीर्तितः ।
द्वात्रिंशदंगुल मुखो मध्यमः सउदाहृतः ॥६०६॥
अष्टाविंशत्यंगुलीयो मुखेनीचः प्रकीर्तितः ।
वाजिनां मुखमानेन सर्वावयव कल्पना ॥६०७॥

अश्वों के मान में पांच जौ का एक अंगुल होता है। हाथियों अश्वों का मान पृथक् होता है। जिस अश्व का चालीस अंगुल मुख होता है, वह सर्वोत्तम अश्व होता है। जिस अश्व का त्तीस अंगुल का मुख होता है, वह उत्तम कहाता है। बत्तीस अंगुल के मुख वाला मध्यम और अट्ठाईस अंगुल का जिसका मुख हो—वह अश्व अधम माना गया है। अश्वों की मुख के प्रमाण से ही सारी अवयव कल्पना की जाती है॥ ६०५-६०७॥

औच्च तुमुखमानेन त्रिगुणं परिकीर्तितम् ।
शिरोमणि समारभ्य पुच्छमूलां तमेवहि ॥६०८॥
तृतीयांशाधिकं दैर्घ्यं मुख मानाच्चतुर्गुणम् ।
परिणाहस्तूदरस्य त्रिगुणस्त्र्यंगुलाधिकः ॥६०९॥

प्रत्येक अश्व की ऊँचाई उसके मुख के प्रमाण से तिगुनी होनी चाहिए, शिरोमणि से लेकर पूंछ तक की लम्बाई मुख के प्रमाण

से चौगुनी और तृतीयांश अधिक होनी चाहिए मुख के मान से तिगुना और तीन अंगुल अधिक उदर की चौड़ाई होती है ॥ ६०८-६०६ ॥

श्मश्रुहीनमुखः कांतः प्रगल्भोत्तुंग नासिकः ।
दीर्घोद्धत ग्रीव मुखोह्रस्व कुक्षिखुर श्रुतिः ॥६१०॥

अश्व के मुख पर बाल नहीं होने चाहिए। उसका मुख सुन्दर उत्तम शब्दकारी, ऊँची नासिका धारी उत्तम माना गया है। अश्व की ग्रीवा लम्बी होनी चाहिए मुख भी लम्बा ही अच्छा है। इसकी कुक्षि छोटी होनी चाहिए और खुरों से ध्वनि निकलनी उचित है ॥ ६१० ॥

तुर प्रचंड वेगश्च हंस मेघ समस्वनः ।
नाति क्रूरोनाति मृदुर्दैव सत्वोमनोरमः ।।६११॥

अश्व का वेग शीघ्रतर और प्रचण्ड होना चाहिए। अश्व की ध्वनि हंस या मेघ के समान समय २ पर निकलनी चाहिए। जो अश्व, अत्यन्त क्रूर और अत्यन्त मृदु नहीं होता, वही श्रेष्ठ है। अश्व में उत्तम पराक्रम और उसके स्वरूप में मनमोहकता होनी चाहिए॥ ६११ ॥

सुकांति गंधवर्णाश्च सद्गुण भ्रमरान्वितः ।
भ्रमतस्तु द्विधावर्तो वामदक्षिण भेदतः ॥६१२॥

उत्तम कान्ति, उत्तम गन्ध और उत्तम वर्ण अश्व के श्रेष्ठ
माने गए हैं। उत्तम गुण वाले-भ्रमरों से अश्व युक्त होना चाहिए
वाम और दक्षिण भेद से भ्रमर में हो आवर्त (चक्कर) होने
उत्तम माने गए हैं ॥ ६१२ ॥

पूर्णोऽपूर्णः पुनर्द्वेधादीर्घो ह्रस्वस्तथैव च ।
स्त्री पुंदेहे वामदक्षौ यथोक्त फलदौ क्रमात् ॥६१३॥

ये भ्रमर (भौंरा) पूर्ण और अपूर्ण तथा दीर्घ और
ह्रस्व-भेद से दो २ प्रकार के होते हैं। घोड़ी और घोड़े के ये
भ्रमर (भौंरी) बायें और दायें-होने चाहिए, जिससे शुभफल की
प्राप्ति होती है ॥ ६१३ ॥

नतथा विपरीतौतु शुभाशुभ फलप्रदौ ।
नीचोर्ध्व तिर्यङ्मुखतः फलभेदो भवेत्तयोः ॥६१४॥

यदि अश्व के दांयी ओर, और बड़वा के बांयी ओर न
होकर भ्रमर कहीं अन्यत्र पड़ जावे-तो वे कोई शुभ अशुभ फल
नहीं देते हैं। नीचा, ऊँचा, तिरछा-यदि उन भ्रमरों का मुख हो,
तो उनमें फल भेद हो जाता है ॥ ६१४ ॥

शंख चक्र गदा पद्म वेदि स्वस्तिक सन्निभः ।
प्रासाद तोरण धनुः सुपूर्ण कलशा कृतिः ॥६१५॥
स्वस्तिक स्रङ्मीन खड्ग श्रीवत्साभः शुभोभ्रमः ।

शंख, चक्र, गदा, पद्म, वेदी तथा स्वस्तिक के चिन्ह एवं
प्रासाद, तोरण, धनुष, पूर्ण कलश-इनके आकार का भी भ्रमर

(भौंरी) चिन्ह होता है। स्वस्तिक, माला, मीन, खड्ग और श्रीवत्स के तुल्य आकारधारी भ्रमर का चिन्ह शुभ माना जाता है ॥ ६१५ ॥

नासिकाग्रे ललाटेच शंखे कंठेच मस्तके ॥६१६॥
आवर्तो जायते येषांते धन्यास्तुरगोत्तमाः ।

नासिका के अग्रभाग, ललाट, शङ्ख, कण्ठ-और मस्तक में जिन अश्वों के आवर्त होता है, वे अश्व-बहुत ही उत्तम माने गए हैं ॥ ६१६ ॥

हृदिस्कंधे गलेचैव कटिदेशे तथैवच ॥६१७॥
नाभौ कुक्षौच पार्श्वाग्रे मध्यमाः संप्रकीर्तिताः ।

हृदय, स्कन्ध, गले, कमर, नाभि, कुक्षि तथा पार्श्व भाग में जिसके भ्रमर-हो वह मध्यम कोटि का अश्व माना गया है ॥६१७॥

ललाटे यस्यचावर्त द्वितयस्य समुद्भवः ॥६१८॥
मस्तकेह तृतीयस्य पूर्णहर्षोयमुत्तमः ।

जिस अश्व के ललाट में दो आवर्त और मस्तक में तीसरा आवर्त (भ्रमर) हो, वह हर्षोत्फुल अश्व—उत्तम माना जाता है ॥ ६१८ ॥

पृष्ठवंशे यदावर्तो यस्यैकः संप्रजायते ॥६१९॥
संकरोत्यश्व संघातान्स्वामिनः सूर्यसंज्ञकः ।

जिस अश्व के पीठ के बांस पर एक आवर्त हो, उस अश्व की सुर्य संज्ञा होती है, वह इस शुभ लक्षण से अपने स्वामी के घर में अश्वों के समूह इकट्ठे कर देता है ॥ ६१६ ॥

त्रयोयस्य ललाटस्था आवर्तास्तिर्यगुत्तराः ॥६२०॥

त्रिकूटः सपरिज्ञेयो वाजि वृद्धिकरः सदा ।

जिस अश्व के ललाट में बांयी ओर को चलते हुए तीन आवर्त हों--उस अश्व की त्रिकूट संज्ञा है, यह अश्व भी अपने शुभ लक्षण के कारण अन्य अश्वों की वृद्धि-करने वाला माना गया है ॥ ६२० ॥

एवमेव प्रकारेण त्रयोग्रीवा समाश्रिताः ॥६२१॥

समावर्ताः सवाजीशो जायते नृपमंदिरे ।

इसी तरह यदि अश्वकी ग्रीवामें तीन भ्रमर पड़ते हों-तो ऐसा सर्वोत्तम अश्व राजा के घर में उत्पन्न होता है ॥ ६२१ ॥

कपोलस्थौ यदावर्तौ दृश्येते यस्यवाजिनः ॥६२२॥

यशो वृद्धि करौ प्रोक्तौ राज्य वृद्धि करौमतौ ।

जिस अश्व के दोनों कपोलों पर दो आवर्त दिखाई देवें, तो ये दोनों आवर्त राजा के यश और राज्य की वृद्धि करने वाले माने गए हैं ॥ ६२२ ॥

एकोवाथ कपोलस्थो यस्यावर्त्तः प्रदृश्यते ।६२३॥

शर्वनामा सविख्यातः सइच्छेत्स्वामि नाशनम् ।

जिस अश्व के एक कपोल (गाल) पर एक ही आवर्त दिखाई देवे, उस अश्व का नाम शर्व माना गया है। यह स्वामी का नाश चाहता है ॥ ९२३ ॥

गंडसंस्थो यदावर्तो वाजिनो दक्षिणाश्रितः ।९२४॥
संकरोति महासौख्यं स्वामिनः शिवसंज्ञकः ।
तद्वद्वामाश्रितः क्रूरः प्रकरोति धनक्षयम् ॥९२५॥
इंद्राभौ तावुभौ शस्तौ नृपराज विवृद्धिदौ ।
कर्णमूले यदावर्तौस्तन मध्ये तथापरौ ॥९२६॥
विजयाख्यावुभौ तौ तु युद्ध कालेयशः प्रदौ ।

जिस अश्व के दांयें गंडस्थल पर एक आवर्त हो—उसका नाम शिव है और वह अश्व, अपने स्वामी के महान सुख का करने वाला होता है। इसी तरह बांयी ओर के गंडस्थल का आवर्त, स्वामी के धन का क्षय कर देता है दांयी बांयी दोनों ओर होने से ये इन्द्र संज्ञक भ्रमर हो जाते हैं, जो राजा के राज्य की बहुत ही वृद्धि करते हैं। दो आवर्त तो अश्व के कानों की मूल में हो और स्तन के मध्य में हों ये दोनों आवर्त विजय संज्ञक होते है जो युद्ध में विजय दिलाने वाले होते हैं ॥ ९२४-९२६ ॥

स्कंध पार्श्वे यदावर्तो सभवेत्पद्म लक्षणः ॥९२७॥
करोति विविधां पद्मां स्वामिनः सततं सुखम् ।

पार्श्व में स्कन्ध के समीप जो आवर्त हो, वह पद्म संज्ञक होता है। यह आवर्त अपने स्वामी के घर में अनेक ऐश्वर्यों की

वृद्धि का करने वाला होता है और बहुत से सुख की वृद्धि करता है ॥ ६२७ ॥

नासा मध्ये यदावर्त एको वायदिवात्रयम् । ६२८ ।
चक्रवर्ती सविज्ञेयो वाजी भूपालसंज्ञकः ।

अश्व की नासिका के पास एक या तीन आवर्त होवें–तो उस अश्व की भूपाल संज्ञा है, यह अपने स्वामी राजा को चक्रवर्ती बना देता है ॥ ६२८ ॥

कंठेयस्य महावर्तो एकः श्रेष्ठः प्रजायते ॥६२६॥
चिंतामणिः सविज्ञेयश्चिंतितार्थ सुखप्रदः ।
शुक्लाख्यौ भालकंबुस्थौ आवर्तौ वृद्धि कीर्तिदौ ॥६३०॥

जिस अश्व के कण्ठ में एक उत्तम आवर्त होवे, वह अश्व-चिन्तामणि कहाता है, जो विचारे हुए मनोरथ के देने में समर्थ होता है, क्योंकि उसके शुभ लक्षण का यही फल है। अश्व के मस्तक और कम्बुग्रीवा में जो भ्रमर होते हैं–वे शुक्ल कहाते हैं ये आवर्त, राज्य वृद्धि और कीर्ति के बढ़ाने वाले होते हैं ॥ ६२६-६३० ॥

यस्यावर्तौ वक्त्रगतौ कुक्ष्यंते वाजिनोयदि ।
सनूनं मृत्यु माप्नोति कुर्याद्वास्वामि नाशनम् ॥६३१॥

जिस अश्व के कुक्षि के अन्त में दो बांके आवर्त चले गए हों, वह शीघ्र मर जावेगा या स्वामी का नाश करेगा ॥ ६३१ ॥

जानुसंस्था अथावर्ताः प्रवासक्लेश कारकाः ।
वाजिमेढ्रे यदावर्तो विजयश्री विनाशनः ॥६३२॥

जिस अश्व के घोटुओं पर तीन आवर्त हों—वह विदेश में क्लेश जनक होता है। यदि अश्व के लिङ्ग पर आवर्त हो, तो वह विजय और राज्य लक्ष्मी का नाशक होता है॥ ६३२ ॥

त्रिकसंस्थोयदावर्त स्त्रिवर्गस्य प्रणाशनः ।
पुच्छमूले यदावर्तो धूमकेतुरनर्थ कृत ॥६३३॥

जिस अश्व की रीड की हड्डी पर आवर्त हो, वह धर्म, अर्थ और काम का नाशक होता है। जिसकी पूंछ के मूल में आवर्त होता है, वह धूम केतु की तरह सारे अनर्थों का करने वाला माना गया है॥ ६३३ ॥

गुह्य पुच्छत्रिकावर्तो सकृतांतो भयप्रदः।
मध्य दंडात्पार्श्व गमासैव शतपदीकचैः ॥६३४॥
अति दुष्टांगुष्ठमितादीर्घाऽदुष्टा यथायथा ।

जिसकी गुदा, पूंछ त्रिक की हड्डी पर आवर्त हो, वह कृतान्त संज्ञक अश्व बड़ा भयकारी है। यदि अश्व के पूंछ के बाल, मध्य दण्ड से पार्श्व की ओर जावे और वह अंगुष्ठ के तुल्य छोटे २ हों—तो ऐसी पूंछ बड़ी दुष्ट मानी गई है। वह जितनी जितनी लम्बी होती चली जावेगी—उतनी शुभ होती जावेगी।६३४।

अश्रुपाता हनु गंड हृद्गल प्रोथ वस्तिषु ॥६३५॥
कटि शंख जानु मुष्ककक्कुन्नाभि गुदेषुच।
दक्ष कुक्षौ दक्षपादेत्व शुभोभ्रमरः सदा ॥६३६॥

जिस अश्व की ठोडी, अश्रुपातस्थान, गण्डस्थल, हृदय, गला, ओठ वस्तिस्थान, कमर, शख (कनपटी) गोड़े, अण्डकोश, ककुद, (टाढ) नाभि, गुदा, दांयी कुक्षि और दांये पाद में भ्रमर हो-वह अशुभ माना गया है ॥६३५-६३६॥

गलमध्ये पृष्ठमध्ये उत्तरोष्ठेऽधरे तथा।
कर्ण नेत्रांतरे वाम कुक्षौ चैवतु पार्श्वयोः ॥६३७॥
ऊरुषुच शुभावर्तौ वाजिनामग्र पादयोः।
आवर्तौ सांतरौ भाले सूर्यचंद्रौ शुभप्रदौ ॥६३८॥
मिलितौतौ मध्यफलौ ह्यति लग्नौतु दुष्फलौ।
आवर्तत्रितयं भाले शुभं चोर्ध्वंतु सांतरम् ॥६३९॥
अशुभंचाति संलग्नमावर्त द्वितयं तथा।
त्रिकोण त्रितयं भाले आवर्तानांतु दुःखदम् ॥६४०॥

जिस अश्व के गले के मध्य, पीठ के बीच, ऊपर के या नीचे के होठ कर्ण, नेत्र, और बांयी कुक्षि दोनों पार्श्व जंघा तथा अगले पादों में जिनके आवर्त हों- ये बड़े शुभ माने गए हैं। मस्तक पर जिसके खाली आवर्त हों, वे सूर्यचन्द्र, संज्ञक होते हैं, जो बड़ा शुभ, फल देने वाले हैं यदि ये दोनों आवर्त, कुछ मिले हों-तो

मध्य फल और अत्यन्त रलमिल गए हों–तो दुष्फल के देने वाले होते हैं। यदि मस्तक के तीन आवर्त ऊपर की तरफ कुछ उठे हुए और बीच से खाली हों–तो वे शुभ माने गए हैं। इनमें दो आवर्त यदि अधिक मिल जावें–तो वे अशुभ फल जनक हैं। यदि तीनों आवर्त तिकोने हों–तो वे बड़े दुःखदायी होते हैं ॥६३७-६४०॥

गलमध्ये शुभस्त्वेकः सर्वाशुभ निवारणः।
अधोमुखः शुभः पादे भालेचोर्ध्वं मुखोभ्रमः।६४१॥

गले के मध्य में एक आवर्त बड़ा शुभ माना गया है, जो सारे अशुभ फलों का नाशक है। अश्व के पैर के भ्रमर का मुख नीचे की ओर तथा मस्तक के भ्रमर का ऊपर की ओर होना शुभ फल दायी है ॥६४१॥

नचैवात्य शुभा पृष्ठ मुखी शतपदीमता।
मेढ्रस्य पश्चाद्भ्रमरीस्तनी वाजी स चाशुभः।६४२॥

पीछे को मुख वाली पूंछ बहुत अधिक अशुभ नहीं होती। जिस अश्व के लिङ्ग पर भ्रमर हो और अश्व के स्तन निकले हो तो वह अशुभ माना जाता है ॥६४२॥

भ्रमः कर्ण समीपेतु शृंगीचैकः सनिंदितः।
ग्रीवोर्ध्व पार्श्वे भ्रमरीह्येक रश्मिः सचैकतः।६४३॥

अश्व के कान के समीप जो भ्रमर होता है, वह अश्व शृङ्गी कहाता है, वह निन्दित होता हे। ग्रीवा के ऊपर के पार्श्व में एक रस्सी की एक ओर भ्रमरी हो तो– यह भी अशुभ मानी गई है॥

पादोर्ध्व मुखभ्रमरी कीलोत्पाटी सनिंदितः ।
शुभाशुभौ भ्रमौ यस्मिन्सवाजी मध्यमः स्मृतः ६४४॥

अश्व के पादों में ऊपर को मुख वाली यदि भ्रमरी हो–तो वह कीलोत्पाटी कहती है, जो निन्दित होती है। जिस अश्व के शुभ और अशुभ दोनों तरह की भ्रमरी पड़ी हों–वह मध्यम अश्व होता है ॥६४४॥

मुखेपत्सुसितः पंचकल्याणोश्वो सदामतः ।
सएव हृदयेस्कंधे पुच्छेश्वेतोष्ट मंगलः ॥६४५॥

जिस अश्व का मुख और पैर श्वेत वर्ण के हों–वह पञ्चकल्याण कहाता है, यह अश्व शुभ होता है। यदि अश्व के हृदय स्कन्ध और पूंछ भी श्वेत होवें–तो वह अष्ट मङ्गल अश्व होता है।

कर्णोश्यामः श्यामकर्णः सर्वतस्त्वेक वर्णभाक ।
तत्रापि सर्वतः श्वेतोमध्यः पूज्यः सदैवहि ॥६४६।

जिसके कान श्याम हो–वह श्यामकर्ण अश्व कहाता है । उस का अन्य सारा शरीर एक रंग का होता है। जिसका सारा शरीर बीच में श्वेत हो–वह सर्वश्रेष्ठ श्याम कर्ण पूज्य होता है ॥६४६॥

वैडूर्य सन्निभे नेत्रे यस्यस्तो जयमंगलः ।
मिश्र वर्णास्त्वेकवर्णः पूज्यः स्यात्सुंदरो यदि ॥६४७॥

जिस अश्व की आंखें वैडूर्य मणि के समान नीली चमकती हों, वह जय मङ्गल अश्व होता है। यह अश्व चाहे अनेक रंगों का हो या एक वर्ण का हो, सुन्दर दिखाई दे तो पूज्य के योग्य है॥

कृष्ण पादो हरि निंद्यस्तथा श्वेतैक पादपि ।
रूक्षो धूसरवर्णश्च गर्दभा भोपिनिंदितः ॥६४८॥

जिस अश्व के पैर काले हों–वह निन्दनीय माना गया है। जिसका एक पाद केवल श्वेत हो–वह अश्व भी निन्दनीय है । जो रूक्ष और गर्दभ के समान धूसर वर्ण धारी हो–वह भी निन्दनीय होता है ॥६४८॥

कृष्णतालुः कृष्णजिह्वः कृष्णोष्ठश्च विनिंदितः ।
सर्वतः कृष्णवर्णोयः पुच्छेश्वेतः सनिंदितः ॥६४६॥

जिस अश्व के तालु, जिह्वा और ओष्ठ काले हों–वह निन्दित होता है। जो सारा तो काला हो और जिस की केवल पूंछ श्वेत हो–वह अश्व भी निन्दनीय माना है ॥६४६॥

उच्चैः पदन्यासगतिर्द्विप व्याघ्र गतिश्चयः ।
मयूर हंसतित्तीर पारावत गतिश्चयः ।६५०।

मृगोष्ट्र वानरगतिः पूज्यो वृषगतिर्हयः ।
अतिभुक्तोति पीतोऽपि यथा सादीन पीडयेत् ॥६५१॥

श्रेष्ठागतिस्तु साज्ञेया सश्रेष्ठस्तुरगोमतः ।

जो अश्व, ऊंचा पैर उठा कर चलता हो अथवा जिसकी गति गैंडा, व्याघ्र, मयूर, हंस, तीतर, कबूतर, मृग, ऊंट, वानर और वृष के तुल्य हो, वह सर्वश्रेष्ठ होता है। जिस अश्व ने बहुत कुछ खालिया हो, बहुत जल पी लिया हो, तो भी यदि अपने सवार

को पीड़ा न पहुंचावे–वह उत्तम अश्व होता है–और ऐसी ही चाल उत्तम मानी गई है ॥६५०-६५१॥

सुश्वेत भाल तिलको विद्धो वर्णांतरेणच ॥६५२॥
सवाजीदलभंजीतु यस्य तस्याति निंदितः ।
संहन्याद्वर्ण जान्दोषान् स्निग्ध वर्णो भवेद्यदि ॥६५३॥

जिस अश्व के मस्तक पर श्वेत वर्ण का तिलक हो और उस में अन्य वर्ण भी मिश्रित हो, वह अश्व सेना को भङ्ग कर देता है अर्थात् सेना में भाग पड़ता है। जिस का वह अश्व होता है, वह स्वामी भी निन्दा का पात्र होजाता है। यदि घोड़े का वर्ण चिकना हो–तो वह वर्ण के दोषों को नष्ट कर देता है ॥६५२-६५३॥

बलाधिकश्च सुगति र्महान्सर्वांग सुंदरः ।
नातिक्रूरः सदापूज्यो भ्रमाद्यैरपि दूषितः ॥६५४॥

जिस अश्व में अधिक बल, सुन्दर गति, सर्वाङ्ग सुन्दरता हो। जो अत्यन्त क्रूर न हो–तो वह भ्रमर आदि चिन्हों से दूषित भी हो तो भी पूजनीय (ग्राह्य) होता है ॥६५४॥

वाजिनामत्यवहनात्सुदोषाः संभवंतिहि ।
कृशो व्याधि परीतांगो जायतेत्यंत वाहनात् ॥६५५॥

अश्वों से सवारी नहीं लेने से उनमें बहुत से दोष उत्पन्न हो जाते हैं और अधिक सवारी लेने से भी अश्व दुर्बल, और रोगी हो जाता है ॥६५५॥

अवाहितो भवेन्मंदः सर्व कर्म सुनिंदितः।

अपोषितो भवेत्क्षीणो रोगी चात्यंत पोषणात् ॥६५६॥

जिस अश्व पर सवारी लेना बन्द कर दिया गया—वह सब कामों में सुस्त हो जाता है। यदि किसी अश्व की चराई नहीं होगी तो वह कृश हो जावेगा और उसको अधिक चरा दिया गया तो वह रोगी हो जावेगा ॥६५६॥

सुगति दुर्गति र्नित्यं शिक्षकस्य गुणागुणैः।

जान्वधश्चलपादः स्यादृजुकायः स्थिरासनः ॥६५७॥

तुला धृतखलीनः स्यात्कालदेशे सुशिक्षकः।

मृदुना नाति तीक्ष्णेन कशाघातेन ताडयेत् ॥६५८॥

अश्व शिक्षक के गुण और अवगुण से अश्व में सुगति और दुर्गति आती है। जिस अश्वारोही के जानु के नीचे के पैर सवारी में हिले, सीधे शरीर से स्थिर आसन लगा कर बैठा हो—जो तराजू की तरह कालदेश के अनुसार ठीक २ लगाम का पकड़ना जानता हो, जो धीमे चाबुक से अश्व को मारे, तीक्ष्ण चाबुक अश्व पर न लगावे, वह सुन्दर शिक्षक (सवार) माना गया है ॥६५७-६५८॥

ताडयेन्मध्यघातेन स्थाने स्वश्वं सुशिक्षकः।

हेषितेकक्षयो र्हन्यात्स्खलिते पक्षयोस्तथा ॥६५९॥

भीतेकर्णांतरे चैव ग्रीवा मुन्मार्ग गामिनि।

कुस्थिते बाहुमध्येच भ्रांतचित्ते तथोदरे ॥६६०॥

अश्वः संताड्यते प्राज्ञै र्नान्यस्थानेषु कर्हिचित् ।
अथवाहेषितेस्कंधं स्खलिते जघनांतरम् ॥९६१॥
भीतेवक्षस्थलं हन्याद्वक्त्रमुन्मार्ग गामिनि ।
कुपितेपुच्छ संध्यंते भ्रान्तेजानु द्वयं तथा ॥९६२॥

जो उत्तम अश्व शिक्षक, स्थान पर मध्यम आघात से अश्व के चाबुक मारता है, जब अश्व हिनहिनाने लगे-तो कुक्षि और ठोकर खाने लगे-तो पक्ष में, डर जाय तो कान पर, विपरीत मार्ग पर चले तो ग्रीवा पर, कुस्थान पर स्थित होने पर बाहु के मध्य में, भ्रांत चित्त होने पर पेट में मारता है, वही सुशिक्षक माना गया है। बुद्धिमान् मनुष्य, कभी अन्य स्थानों पर अश्व के न मारे। किसी का ऐसा मत है; कि घोड़े के हिनहिनाने पर स्कन्ध ठोकर खाने पर जंघाओं के मध्य, डरने पर वक्षस्थल, उन्मार्ग चलने पर मुख पर, कुपित होने पर पूंछ के जोड़ पर, भ्रान्त होने पर दोनों गोड़ो पर चाबुक मारनी चाहिए ॥९५९-९६२॥

नासकृत्ताडयेदश्वमकालेच विदेशके ।
अकालास्थान घातेन वाजी दोषांस्तनोतिच ॥९६३॥
तावद्भवंतिते दोषा यावज्जीवत्य सौहयः ।
दुष्टं दंडेनाभि भवेन्नारोहेद्दंड वर्जितः ॥९६४॥

अश्व के न तो बार २ प्रहार करे और न असमय पर और कुस्थान पर प्रहार करे। यदि अकाल और अदेश पर आघात किया जावेगा, तो अश्व में दोषों की वृद्धि हो-जावेंगी और वे

दोष इतने जड़ पकड़ जावें, कि जब तक अश्व जीवेगा, वे दोष न निकलेंगे। जो अश्व दुष्ट हो-उसको अवश्य दण्ड देवे और विना दण्ड उसपर सवारी न करे ॥६६३-६६४॥

गच्छेत्षोडश मात्राभिरुत्तमोश्वोधनुः शतम् ।

यथा यथा न्यून गतिरश्वो हीनस्तथा तथा ॥६६५॥

उत्तम अश्व, सोलह की गिनती करते २ सौ धनुष चला जाता है। इसमें जिसकी जितनी न्यून गति होगी-वह उतना ही हीन अश्व होगा ॥६६५॥

सहस्रचाप प्रमितं मंडलं गति शिक्षणे ।

उत्तमं वाजिनो मध्यं नीचमर्धंतदर्धकम् ॥६६६॥

अल्पं शतधनुः प्रोक्तमत्यल्पंच तदर्धकम् ।

शतयोजन गंतास्याद्दिनेकेन यथाहयः ॥६६७॥

गतिं संवर्धयेन्नित्यं तथा मंडल विक्रमैः ।

सायं प्रातश्च हेमंते शिशिरे कुसुमागमे ॥६६८॥

सायं ग्रीष्मेतु शरदि प्रातरश्वं वहेत्सदा ।

वर्षासु नवहेदीषत्तथा विषम भूमिषु ॥६६९॥

मण्डल गति की शिक्षा देने में सहस्र धनुष तक अश्व जाता है। इससे आधी गति वाला मध्यम अश्व होता है। इससे भी आधी गति वाला नीच अश्व है। मण्डल गति शिक्षण में सौ

धनुष गति बहुत ही कम है। तथा पचास धनुष की गति बहुत अल्प है। जिस तरह अश्व एक दिन में सौ योजन चला जावे, उस तरह मण्डल शिक्षण की विधि से अश्व की गति बढ़ावे। सायंकाल और प्रातःकाल, हेमन्त, शिशिर और वसन्त में अश्व को शिक्षा देवे। ग्रीष्म में सायंकाल, और शरदृऋतु में केवल प्रातःकाल शिक्षा देवे। वर्षाऋतु में अश्व को जरा भी न जोते। और न विषम भूमि में अश्व को चलावे ॥६६-६६॥

सुगत्याग्निर्बलं दार्ढ्यमारोग्यं वर्धते हरेः
भारमार्गपरिश्रांतं शनैश्चं क्रामयेद्धयम् ॥६७०॥
स्नेहं संपाययेत्पश्चाच्छर्करा सक्तु मिश्रितम् ।
हरिमंथाश्च माषाश्च भक्षणार्थम कुष्टकान् ॥६७१॥
शुष्कानार्द्रांश्चमांसानि सुस्विन्नानि प्रदापयेत् ।
यद्यत्र स्खलितंगात्रं तत्र दंशं प्रपातयेत् ॥६७२।

उत्तम गति से घोड़े का अग्नि, बल, दृढ़ता और आरोग्यता बढ़ती है। जो अश्व, भार और मार्ग से थक रहा हो, उसे धीरे २ घुमावे। इसके अनन्तर अश्व को शक्कर और सक्तुओं से मिला हुआ घृत पिलाना उचित है। चने उड़द, मठा आदि भी घोड़े के भक्षण में हितकारी हैं सूखे गीले मांस को पका कर अश्व को खिलाना चाहिए। जो अश्व का अङ्ग विष आदि से दूषित होकर गिर जावे, उस स्थान पर से काठे हुए भाग को निकाल कर उसका डंक निकाल देना चाहिए ॥६७०-६७२॥

नावतीरितपल्याणं हयं मार्ग समागतम् ।
दत्त्वा गुडं सलवणं बल संरक्षणायच ॥६७३॥

जो अश्व नौका की तरह तैर कर नदी पार करके आया हो, या मार्ग गमन से श्रमित हो रहा हो, उसके बल की रक्षा के लिए उसे लवण और गुड खिलाना चाहिए ॥६७३॥

गतस्वेदस्य शांतस्य सुरूपमुपतिष्ठतः ।
मुक्तपृष्ठादि बंधस्य खलीनमवतारयेत् ।६७४॥

थके हुए अश्व के प्रथम स्वेद सुखावे । इस प्रकार जब अश्व स्वस्थ होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जावे, तब उसके ऊपर से जीन उतार लेवे और उसकी लगाम खोल देवे ॥६७४॥

मर्दयित्वातु गात्राणि पांसुमध्ये विवर्तयेत् ।
स्नान पानावगाहैश्च ततः सम्यक् प्रपोषयेत् ॥६७५॥

अश्व के अङ्गों का मर्दन करे और उसे धूलि में लुटावे । इस इसके बाद स्नान पान और जल में गोते लगवा कर उसको अच्छी तरह फिर ताजा कर लेवे ॥६७५॥

सर्व दोष हरोऽश्वानां मद्यजांगलयो रसः ।
शक्त्या संपादयेत्क्षीरं घृतंवावारि सक्तुकम् ॥६७६॥

अश्वों की सारी थकावट के उतारने वाला मदिरा और जंगली जीवों के मांस का रस है । जितनी अश्व की शक्ति हो, उतना

उसको दूध घृत और जल मिश्रित सक्तु खिलाये जावे-इससे भी अश्व की पुष्टि होती है ॥६७६॥

अन्नं भुक्त्वा जलंपीत्वा तत्क्षणाद्वाहितो हयः ।
उत्पद्यंते तदाश्वानां कासश्वासादि कागदाः ॥६७७॥

अन्न खिला कर और पानी पिला कर यदि अश्व को फौरन ही फिर जोत दिया जावे, तो अश्वों के कास श्वास आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥६७७॥

यवाश्च चणकाः श्रेष्ठा मध्या माषाम कुष्ठकाः ।
नीचा मसूरा मुद्गाश्च भोजानर्थं तु वाजिनः ॥६७८॥

अश्वों के लिए जौ और चने उत्तम भोजन है । उड़द और मकुष्ठक (साठा) मध्यम माने गए हैं । मसूर और मूंग साधारण भक्ष्य है । ऐसा अश्व की विदों का मत है ॥६७८॥

पादैश्चतुर्भिरुत्प्लुत्यः मृगवत्साप्लुता गतिः ।
असंवलित पद्भ्यांतु सुव्यक्तं गमनं तुरम् ॥६७९॥

जो अश्व चारों पादों से उचट कर मृग की तरह चले-यह प्लुतगति कहाती है । जिस गति में दोनों पैरों को न मिला कर वेग से गमन किया जावे-वह तुर गति कहाती है ॥६७९॥

धौरीतकंच तज्ज्ञेयं रथ संवाहने वरम् ।
प्रसंवलित पद्भ्यां यो मयूरोद्धृत कंधरः ॥६८०॥

जो अश्व रथ के लेचलने में उत्तम हो-वह धौरीतक कहाता है इस गति में अश्व, अपने पैरों को मिला कर मयूर की तरह गर्दन उठाकर चलता है ॥६८०॥

दोलायित शरीरार्ध कायो गच्छति वल्गितम् ।
गतयः षड्विधा धारा स्कंदितं रेचितं प्लुतम् ॥६८१॥
धौरीतकं वल्गितंच तासां लक्ष्म पृथक्पृथक् ।

जो अश्व आधे शरीर को हिंडोले की तरह कंपा कर वेग से चले- वह गति वल्गित होती है। इस प्रकार अश्व की धारा, आस्कन्दित, रेचित, प्लुत, धौरीतक और वालीत-ये छः गति होती हैं, जिनके लक्षण भिन्न २ हैं ॥६८१॥

धारागतिः साविज्ञेया यातिवेगतरामता ॥६८२॥
पार्ष्णितोदातिनुदितोयस्यां भ्रांतो भवेद्धयः ।
आकुंचिताग्र पादाभ्यामुत्प्लुत्योत्प्लुत्ययागतिः ॥
आस्कंदिताच साज्ञेया गति विद्धिस्तु वाजिनाम् ।
ईषदुत्प्लुत्य गमनमखंडं रेचितंहि तत् ॥६८४॥

जो गति बड़े वेग वाली हो, वह धारा गति कहाती है । एड़ी के मारते ही या चाबुक लगाते ही अश्व जिस में चक्कर लगाने लगे, और अगले पैरों को सिकोड़ कर कूद कूद कर चले-यह गति आस्कन्दित कहाती है। ऐसा अश्व कोविद मनुष्यों का मत है। कुछ कूद २ कर लगातार चले जाना-रेचित गति कहाती है।

परिणाहो वृष मुखादुदरेतु चतुर्गुणः ।
सककुत्रि गुणोच्चस्तु सार्धत्रिगुण दीर्घता ॥६८५॥
सप्ततालोवृषः पूज्यो गुणैरेभिर्युतो यदि ।
नस्थायी नचवैमंदः सुवोढाह्यंग सुंदरः । ६८६॥
नातिक्रूरः सुपृष्ठश्च वृषभः श्रेष्ठ उच्यते ।

जिस वृषभ का अपने मुख से अपने उदर का चौगुना विस्तार हो । ककुद् (टाड) सहित तिगुनी ऊंचाई और तिगुनी लम्बाई हो तो ऐसा वृषभ (बैल सप्तताल ऊंचा हो । यदि इसमें अधो लिखित गुण हों-तो यह बहुत ही पूज्य माना गया है । जो बैल चलता २ रुक कर खड़ा न रहे और न धीरे २ चले । मार के लेजाने में समर्थ और सर्वाङ्ग सुन्दर हो । कुछ भी क्रूरता करना न जानता हो-उत्तम पृष्ठ धारी हो-ऐसा वृषभ सर्वश्रेष्ठ माना गया है ॥

त्रिंशद्योजन गंतावा प्रत्यहं भार वाहकः ॥६८७॥
नवतालश्च सुदृढः सुमुखोष्ट्रःप्रशस्यते ।
शतमायु र्मनुष्याणां गजानां परमं स्मृतम् ॥६८८॥

बोझा लेकर तीस योजन तक चला जावे और नौताल ऊंचा बड़ा दृढ़ और सुन्दर हो-ऐसा ऊंट सर्वश्रेष्ठ माना गया है । मनुष्य और हाथियों की परम आयु सौ वर्ष तक मानी गई है ॥

मनुष्य गजयोर्बाल्यं यावद्विंशति वत्सरम् ।
नृणांहि मध्यमंयावत्षष्टि वर्ष वयः स्मृतम् ॥६८९॥

अशीति वत्सरं यावद्गजस्य मध्यमं वयः ।
चतुस्त्रिंशत्तु वर्षाणामश्वस्यायुः परं स्मृतम् ॥६६०॥
पंच विंशति वर्षंहि परमायुर्वृषोष्ट्रयोः ।
बाल्यमश्व वृषोष्ट्राणां पंच संवत्सरं मतम् ॥६६१॥
मध्यां यावत्षोडशाब्दं वार्धक्यंतु ततः परम् ।

मनुष्य और हाथी की बाल्यावस्था बीस वर्ष तक की मानी गई है। मध्यम अवस्था साठ वर्ष तक है अस्सी वर्ष तक हाथी मध्यम अवस्था में माना गया है। चौबीस वर्ष की अश्व की परम आयु मानी गई है। पच्चीस वर्ष तक की ऊंट और बैल की परम आयु होती है। अश्व, बैल और ऊंटों की बाल्यावस्था पांच वर्ष तक की मानी गई है। सोलह वर्ष की अवस्था तक इनकी मध्यावस्था है और इसके अनन्तर ये वृद्ध माने गए हैं॥

दंतानामुद्भवै वर्णैरायुर्ज्ञेयं वृषाश्वयोः ।६६२॥
अश्वस्य षट्सितादंताः प्रथमाब्दे भवंतिहि ।
कृष्ण लोहित वर्णास्तु द्वितीयेब्देह्यधो गताः ॥६६३॥
तृतीयेब्देतु सदशौ क्रमात्कृष्णौ षडब्दतः ।
नवमाब्दात्क्रमात्पीतौ तौसितौ द्वादशाब्दतः ॥६६४॥

वृष और अश्व की आयु का पता दांतों के वर्णों से बहुत कुछ लग जाता है। अश्व के प्रथम वर्ष में छः श्वेत दांत निकल आते

हैं। काले कुछ लाल वर्ण दो दांत दूसरे वर्ष नीचे की ओर निकलते हैं। तीसरे वर्ष में बराबर होकर छः वर्ष तक वे दांत काले हो जाते हैं। नवें वर्ष तक पीले और बारह वर्ष की अश्व की अवस्था तक वे नीचे के दो दांत श्वेत हो जाते हैं ॥६६२-६६४॥

दशपंचाब्दतस्तौतु काचाभौक्रमतः स्मृतौ।
अष्टादशाब्दतस्तौ हिमध्वाभौभवतः क्रमात् ॥६६५॥
शंखाभौचैक विंशाब्दाच्चतुर्विंशाब्दतः सदा।
छिद्रं संचलनं पातो दंतानां चत्रिकेत्रिके ॥६६६॥

ये ही दांत अश्व की पन्द्रहवें वर्ष की अवस्था तक काच के समान चमकीले हो जाते हैं। और अट्ठारह वर्ष की अवस्था तक उनकी रंगत मधु की सी हो जाती है। इक्कीस वर्ष तक शंख के वर्ण के हो जाते हैं और चौबीस वर्ष तक उन दांतों में छेद और संचलन, होजाता है। ये तीन २ दांत गिर जाते हैं॥६६५-६६६॥

प्रोथे सवलयस्तिस्रः पूर्णायुर्युस्यवाजिनः।
यथा यथातु हीनास्ताहीनमायुस्तथा तथा ॥६६७॥

जिस अश्व की नासिका के आगे, त्रिवली होवे, वह अश्व, पूर्णायु होता है, परन्तु वे त्रिवली जैसे २ न्यून होती है, उसी तरह अश्व कीं आयु न्यून समझनी चाहिए ॥६६७॥

जानुस्थातात्वोष्ठ वाद्योधूत पृष्ठोजलासनः।
गतिमध्यासनः पृष्ठपातीपश्चाद्गमोर्ध्वपात् ॥६६८॥

सर्पजिह्वश्चर्क्षकांतिर्भीरुरश्चोति निंदितः ।
सच्छिद्रभाल तिलकी निंद्य आश्रयकृत्तथा ॥९९९॥

जो घोड़ा गोड़ों से खड़ा हो जावे, अपने होठो को बजावे, अपनी पीठ कंपावे, और जल में बैठ जावे, जिसकी गति और आसन मध्यम हो, पीठ पर से गिरा देता हो, पीछे हटता हो, ऊपर को उठता हो, जिसकी सर्प की सी जिह्वा हो, रीछ की सी आंखें हों और जो चौंकता हो-ऐसा अश्व, बहुत निन्दित माना गया है। जिसके मस्तक पर छेद वाला तिलक हो, ऐसा अश्व भी निन्दित होता है। यह अपने आश्रय देने वाले स्वामी का नाश करता है ॥

वृषस्याष्टौसितादंताश्चतुर्थेऽब्देऽखिलाः स्मृताः ।
द्वावंत्यौपतितोत्पन्नौ पंचमेऽब्देहि तस्यवै ॥१०००॥
षष्ठेतू पांत्यौ भवतः सप्तमेतत्समीपगौ ।
अष्टमेपतितोत्पन्नौ मध्यमौदशनौखलु १००१॥

वृषभ के चार वर्ष की अवस्था तक आठ सफेद दांत निकल आते हैं। पांचवें वर्ष में इनमें से दो दांत टूट कर फिर दो और निकल आते हैं। इनके पास के छठे वर्ष में दो दांत टूट कर फिर निकल आते हैं। सातवें में उनके पास के टूटते और निकलते हैं और आठवें में बीच के दांत टूट कर निकलते हैं ॥१०००-१००१

कृष्णपीत सितारक्त शंखच्छायौद्विकेद्विके ।
क्रमादब्दे च भवतश्चलनं पतनं ततः ॥१००२॥

दो दो वर्ष के अन्तर पर इन दांतों की काली, पीली, श्वेत और रक्त और शंख के सदृश हो जाती है। इसके अनन्तर दांत हिलने और गिरने लगते हैं ॥१००२॥

उष्ट्रस्योक्त प्रकारेण वयोज्ञानं तुवा भवेत् ।
प्रेरकाऽऽकर्षक मुखोंऽकुशोगज विनिर्ग्रहे ॥१००३॥
हास्तिपकैर्गजस्तेन विनेयः सुगमोयदि ।

ऊंट की अवस्था का ज्ञान भी बैल की भांति ही हो जाता है। हाथी के निग्रह करने का अङ्कुश, पैना और टेढ़ा होना चाहिए। जिस से प्रेरणा और आकर्षण हो सके। हाथीवान उसी अंकुश से अपने हाथी को चलावे, जिससे वह सीधा चलता रहता है॥

खलीनस्योर्ध्व खंडौद्वौपार्श्व गौद्वादशांगुलौ ॥१००४॥
तत्पार्श्वांतर्गताभ्यांतु सुदृढाभ्यां तथैवच ।
वारकाकर्ष खंडाभ्यां रज्ज्वर्थवलयैर्युतौ ॥१००५॥
एवं विधखलीनेन वशीकुर्यात्तुवाजिनम् ।
नासिकाकर्ष रज्ज्वातुवृषोष्ट्रं विनयेद्वशम् ॥१००६॥

खलीन (लगाम) के ऊपर के दो खण्ड, दोनों ओर बारह २ अंगुल के माने गए हैं। उसी के पार्श्व में अत्यन्त दृढ़ रोकने और खैंचने की बलदार रस्सी लगी होनी चाहिए। इस तरह की लगाम से अश्व को रोका जा सकता है। नाक में डाली हुई रस्सीसे वृष

और ऊँट वश में किए जाते हैं। इनके मल साफ करने की तीक्ष्ण अग्र भाग वाली सात दांतों की एक फावड़ी होनी चाहिए । इनके मध्य में रस्सी डालने के स्थान भी होने चाहिए। पूर्वोक्त प्रकार की खलीन (लगाम) से अश्व को वश में करे तथा नासिका के मध्य में डाल कर खैंचने योग्य रस्सी से वृष और ऊँट को वश में करे॥

तीक्ष्णाग्रकः सप्तफालः स्यादेषांमल शोधने।
सुताडनै र्विनेयाहिमनुष्यैः पशवः सदा ॥१००७॥

इन वृष और ऊँट आदि के मल के शोधन के निमित्त भी तीक्ष्ण अग्र भाग वाले सात फाजों की एक फावड़ी होनी चाहिए मनुष्य, पशुओं को अच्छी प्रकार ताड़ना देकर शिक्षित बनाता रहे ॥१००७॥

सैनिकास्तु विशेषेण नते वैंधन दंडतः ।
अनूपेतु वृषाश्वानां गजोष्ट्राणांतु जांगले ॥१००८॥
साधारणे पदातीनां निवेशाद्रक्षणं भवेत्।
शतं शतं योजनांते सैन्यं राष्ट्रेनियोजयेत् ॥१००९॥

सैनिक मनुष्य भी ताड़ना आदि के दण्ड से वश में होते हैं, वे धन दण्ड से वश में नहीं आते हैं, वृष और अश्वों की शिक्षा जल तट प्रदेश, गज तथा ऊँटों की जांगल प्रदेश और पैदल सैनिकों की साधारण जल और स्थलमय प्रदेश में रक्षा हो सकती है। राजा अपने राष्ट्र में एक २ योजन पर सौ २ सैनिकों की टुकड़ियां डाले ॥१००८-१००९॥

गजोष्ट्रवृषभाश्वाः प्राक्श्रेष्ठाः संभार वाहने ।
सर्वेभ्यः शकटाः श्रेष्ठावर्षाकालं विनास्मृताः ॥१०१०

भार के ले चलने में सर्वश्रेष्ठ हाथी और उससे पीछे ऊँट, वृष और अश्व क्रम से माने गए हैं। भार (बोझ) के ले चलने में गाड़ी अच्छी होती है, परन्तु वह वर्षाकाल में अच्छी नहीं मानी गई है ॥१०१०॥

नचाल्प साधनो गच्छेदपिजेतुमरिं लघुम् ।
महतात्यंत साध्यस्तुबलेनैव सुबुद्धियुक् ।१०११॥

शत्रु कितना भी छोटा क्यों न हों-उसके ऊपर थोड़ी सेना लेकर चढ़ाई नहीं करनी चाहिए। बुद्धिमान राजा, बड़ी सेना से ही शत्रु को बिल्कुल जीतने में समर्थ हो सकता है ॥१०११॥

अशिक्षितम सारंच साद्यस्कं बलवच्चतत् ।
युद्धं विनान्यकार्येषु योजयेन्मति मान्सदा ॥१०१२॥

जो सेना अभी अच्छी तरह युद्ध विद्या में निपुण नहीं है, और न उसको युद्ध कौशल की प्राप्ति हुई है, अभी नई भरी गयी है ऐसी बलयुक्त सेना को भी बुद्रिमान् राजा युद्ध कार्य में न लगावे उसे तो किन ही अन्य कार्यों पर नियुक्त रखे ॥१०१२॥

विकर्तुंयततेऽल्पेपि प्राप्ते प्राणात्ययेऽनिशम् ।
नपुनः किंतुबलवान् विकार करणाक्षमः ॥१०१३॥

जब अपने प्राणों का विनाश बिल्कुल अपनी आंखों के आगे नाचने लगता है, तो निर्बल शत्रु भी बिगड़ उठता है, परन्तु जो

बलवान् और बदला चुकाने में समर्थ शत्रु है, वह क्यों न विकार (मुक़ाबिले) के लिए डट कर खड़ा होगा ॥ १०१३॥

अपिबहुबलो शूरोनस्थातुं क्षमतेरणे ।

किमल्प साधनाच्छूरः स्थातुं शक्तोऽरिणासमम् ॥

यदि अधिक सेना लेकर शत्रु पर आक्रमण किया गया है, तो उसका सामना बहुत सी सेना वाला शूरवीर शत्रु भी यकायक नहीं कर सकता है। परन्तु जिसके पास थोड़ी सेना है, वह कितना भी शूरवीर हो—वह तो सामने डट ही कैसे सकता है ॥१०१४॥

सुसिद्धाल्पबलः शूरोविजेतुं क्षमतेरिपुम् ।

महान्सुसिद्धबल युक्छूरः किन्नविजेष्यति ॥१०१५॥

जिस शूरवीर राजा की थोड़ी भी सेना है, परन्तु वह सुशिक्षित है। तो वह शत्रु के जीतने में समर्थ हो सकता है। जिस शूरवीर राजा के पास यदि सुशिक्षित एक बड़ी सेना हो, उसके विजयी होने में तो सन्देह ही क्या किया जा सकता है ॥१०१५॥

मौल शिक्षित सारेण गच्छेद्राजा रणे रिपुम् ।

प्राणात्ययेपि मौलंन स्वामिनं त्यक्तुमिच्छति ॥

पुरानी मूल शिक्षित बलवती सेना लेकर राजा शत्रु पर चढ़ाई करे। जो पुरानी कुल क्रमागत बन्धु बान्धवों की सेना होती है, वह प्राणों के संकट में पड़ने पर भी अपने स्वामी के छोड़ने में समर्थ नहीं होती है ॥१०१६॥

वाग्दंड परुषेणैव भृतिहासेन भीतितः ।
नित्यं प्रवासायासाभ्यां भेदोवश्यं प्रजायते ॥१०१७॥

जो राजा सर्वदा अपने नौकरों के साथ कटु वचन का प्रयोग करता है, उन का वेतन कम कर देता है, भयातुर रखता है, विदेश में भेजता रहता है और सेना से अधिक परिश्रम का काम लेता है, उसकी सेना अवश्य दूसरे राजा से गुप चुप मिल जाती है ॥१०१७॥

बलं यस्यतु संभिन्नं मनागपि जयः कुतः ।
शत्रोः स्वल्पापि सेनाया अतो भेदं विचिंतयेत् ॥

जिसकी सेना में थोड़ी भी फूट पड़ जावे, फिर उसके हाथ विजय नहीं आ सकती है। बुद्धिमान् राजा थोड़ी बहुत शत्रु सेना में फूट अवश्य करवाता रहे या जो कुछ फूट हो चुकी हो, उसको देखकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहे ॥१०१८॥

यथाहि शत्रु सेनाया भेदो वश्यं भवेत्तथा ।
कौटिल्येन प्रदानेन द्राक्कुर्यान्नृपतिः सदा ॥१०१९॥

जिस तरह शत्रु की सेना में शीघ्रातिशीघ्र फूट पड़ सके—उसी उपाय को सोचकर राजा कुटिल चाल या धन दान से शत्रु सेना में फूट पड़वाने का प्रयत्न करे ॥१०१९॥

सेवयाऽत्यंत प्रबलं नत्याचारिं प्रसाधयेत् ।
प्रबलं मान दानाभ्यां युद्धैर्हीन बलं तथा ॥१०२०॥

मैत्र्या जयेत्समबलं भेदैः सर्वान्वशं नयेत् ।
शत्रु संसाधनोपायो नान्यः सुबल भेदतः ॥१०२१॥

जो शत्रु, बहुत ही शक्तिशाली हो—उसको सेवा या नमस्कार से वश में करे। जो केवल प्रबल हो—उसको दान मान से सन्तुष्ट करे और जो अपने से बल में हीन हो—उसको युद्ध के द्वारा वश में करे। जो समान बलशाली हो—उससे मित्रता गांठ लेनी चाहिए अति प्रबल, प्रबल, समबल या हीन बल कैसा भी शत्रु क्यों न हो सब को भेद (फूट) से वश में किया जा सकता है। शत्रु सेना में फूट डलवा देने से उत्तम उपाय शत्रु के जीतने का अन्य कोई नहीं है ॥१०२०-१०२१॥

तावत्परो नीति मान्स्याद्यावत्सु बलवान्स्वयम् ।
मित्रंतावच्च भवति पुष्टाग्नेः पवनो यथा ॥१०२२॥

राजा जब तक बलवान् है, तभी तक उसकी नीति सफल होती रहती है। और उसी समय तक अन्य कोई उसके मित्र होते हैं। बल युक्त जलती हुई आग का ही पवन मित्र होता है, दुर्बल दीपक आदि को तो वह भी बुझा देता है ॥१०२२॥

त्यक्तं रिपुबलं धार्यं न समूह समीपतः ।
पृथङ् नियोजयेत्प्राग्वायुद्धार्थं कल्पयेच्चतत् ॥१०२३॥

शत्रु के द्वारा निकाली हुई सेना को अपनी सेना समूह के समीप न रखे। इस शत्रु सेना को अपनी सेना से पृथक् काम पर नियुक्त करे या सर्व प्रथम इसी को युद्ध में भेज देवे ॥१०२३॥

मैत्र्यमारात्पृष्ठभागे पार्श्वयोर्वाबलं न्यसेत् ।
अस्यतेक्षिप्यते यत्तु मंत्र यंत्राग्निभिश्चतत् ॥१०२४॥
अस्त्रं तदन्यतः शस्त्रमसिकुंतादिकं च यत् ।
अस्त्रंतु द्विविधं ज्ञेयं नालिकं मांत्रिकं तथा ॥१०२५
यदातु मांत्रिकं नास्ति नालिकं तत्र धारयेत् ।
सहशस्त्रेण नृपति र्विजयार्थं तु सर्वदा ॥१०२६॥

अपनी मित्र सेना को अपने समीप पीछले भाग या इधर उधर रखे। जो आयुध, मंत्र यन्त्र और अग्नि से चलाया जावे, वह अस्त्र कहाता है, तथा जो केवल हाथ से चलाया जावे-वह खड्ग, कुन्त आदि आयुध शस्त्र कहाते हैं । अस्त्र नालिक और मांत्रिक भेद से दो तरह के माने गए हैं। जिस स्थान पर मांत्रिक अस्त्र का प्रयोग नहीं करना हो-वहां पर नालिक अस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए। विजय के निमित्त राजा अस्त्र शस्त्रों से सर्वदा सुसज्जित रहे ॥१०२४-१०२६॥

लघु दीर्घाकार धारा भेदैः शस्त्रास्त्र नामकम् ।
प्रथयंति नवं भिन्नं व्यवहाराय तद्विदः ॥१०२७॥

छोटी पैनी बड़ी धार और आकार के भेद से शस्त्र और अस्त्रों के अनेक नाम होते हैं। इन अस्त्र शस्त्रों के जानने वाले विद्वान, व्यवहार के निमित्त उनके बहुत से नाम रख लेते हैं ॥

नालिकं द्विविधं ज्ञेयं बृहत्क्षुद्र विभेदतः ।
तिर्यगूर्ध्वच्छिद्र मूलं नलं पंचवितस्तिकम् ॥१०२८॥

नालिक नामक अस्त्र बृहत् और क्षुद्र भेद से दो प्रकार का होता है। इस नालिक (बन्दूक) के मूल में तिरछा ऊपर की ओर छिद्र होता है और उसकी नाल पांच वितस्ति (बिलन्द) की होती है ॥१०२८॥

मूलाग्रयो र्लक्ष्य भेदि निल विंदु युतं सदा ।
यंत्राघाताग्नि कृद्ग्राव चूर्ण मूलक कर्णकम् ॥१०२९
सुकाष्ठो पांगबुध्नं च मध्यांगुल बिलांतरम् ।
स्वांतेग्नि चूर्ण संधात्री शलाका संयुतं दृढम् ॥१०३०
लघुनालिक मप्येतत्प्रधार्यं पत्तिसादिभिः ।
यथा यथा तुत्वक सारं यथा स्थूल बिलांतरम् ॥

जो नालिक [बन्दूक] उत्तम काष्ठ पर जडी हो । जिसके मध्य का पोल [सुराख] एक अङ्गुल मोटा हो जिसके भीतर अग्नि चूर्ण (बारूद) भरा जाता हो, और दृढ़ शलाका से जिसे दबाया जाता हो-ऐसी लघु नालिका [बन्दूक] को पैदल या घुड़-सवार धारण करे। जिस २ बन्दूक की नाली जितनी दृढ़ हो उसी प्रकार का उसका छिद्र बढ़ता जावेगा। जितनी बन्दूक लम्बी और मुटाई में अधिक होगी-वह उतनी दूर तक का लक्ष्य भेदन करेगी ॥१०२९-१०३१॥

यथा दीर्घं बृहद्गोलं दूर भेदि तथा तथा ।
मूल कीलोद्भमाल्लक्ष्य सम संधान भाजियत ॥

बृहन्नालिक संज्ञं तत्काष्ठ बुध्नविवर्जितम् ।
प्रवाह्यं शकटाद्यैस्तु सुयुक्तं विजय प्रदम् ॥१०३३॥

जिस में मूल कील के उखाड़ने से लक्ष्य भेदन होता है, वह बृहत् नालिक (तोप) कहाती। यह तोप, बन्दूक की तरह काठ पर जड़ी हुई नहीं होती। इसको ४ गाड़ी पर चढ़ाकर रणक्षेत्र में ले जावे–तो यह बहुत ही विजय को प्रदान करती है ॥१०३२-१०३३

सुवर्चिल वणात्पंत पलानि गंध कात्पलम् ।
अंतधू म विपक्वार्कस्नुह्याद्य गारतः पलम् ॥१०३४॥
शुद्धात्संग्राह्य संचूर्ण्य संमील्य प्रपुटेद्रसैः ।
शुद्धार्काणांरसो तस्य शोषयेदातपेन च ॥१०३५॥
पिष्ट्वाशर्कर वच्चै तदग्नि चूर्णं भवेत्खलु ।

सोरे का लवण पांचपल, गन्धक एकपल, मिट्टी में दाब कर बनाए आक और स्नुही (थूहर) के कोयले पल २ भर लेकर इन को पीस ले। फिर उनमें आक के दूध और रसोत के रस का पुट देवे। और धूप में सुखा ले। इसके बाद पीस ले–तो यह अग्नि चूर्ण (बारूद) बन जाता है ॥१०३४-१०३५॥

सुवर्चिल वणाद्भागाः, षड्वा चत्वार एववा ॥१०३६
नालास्त्रार्थाग्नि चूर्णेतु गंधांगारौतु पूर्ववत् ।

सुवर्चि लवण (सोरे) के छः भाग या चार भाग, गन्धक और आक स्नुही के कोयले पल २ भर, को मिलाकर जो अग्नि

चूर्ण [बरूद] बनाया जाता है-यह बन्दूक और तोप में चलाने का अग्नि चूर्ण बनता है ॥१०३६॥

गोलो लोह मयो गर्भ गुटिकाः, केवलोपिवा ॥१०३७
सीसस्य लघुनालार्थे ह्यन्य धातु भवोपि वा ।

लोह सार मयं वापि नालास्त्रं त्वन्यधातुजम् ॥१०३८
नित्य संमार्जन स्वच्छमस्त्र पातिभिरा वृतम् ।

तोप का गोला लोह का होता है गोले की जगह छोटी२ गोली (छर्रे) भी हो सकते हैं। छोटी बन्दूक में सीसे की गोली होती है अथवा सीसे के अतिरिक्त अन्य धातु लोह आदि की भी गोलीं बनायी जाती हैं। बन्दूक की नाल केवल लोह की होती है-या अन्य २ धातु मिला कर भी बनाई जाती है। इन तोपों को नित्य मांज पोंछ कर चमकीली रखना चाहिए। इनके समीप गोलन्दाज सर्वदा बने रहें ॥१०३७-१०३८॥

अंगारस्यैव गंधस्य सुवर्चि लवणस्यच ॥१०३९॥
सिलाया हरितालस्य तथा सीस मलस्यच ।
हिंगुलस्य तथा कांत रजसः कर्परस्यच ॥१०४०॥
जतोर्नील्याश्च सरल निर्यासस्य तथैवच ।
सम न्यूनाधिकैरंशैरग्नि चूर्णान्यनेकशः ॥१०४१॥
कल्पयंतिच तद्विद्याश्चंद्रिका भादिमंतिच ।
क्षिपंति चाग्नि संयोगाद्गोलं लक्ष्येसु नालगम् ॥

नालास्त्रं शोधयेदादौ दद्यात्तत्राग्नि चूर्णकम् ।
निवेशयेत्तं दंडेन नालमूले यथा दृढम् ॥१०४३॥
ततः सुगोलकं दद्यात्ततः कर्णेऽग्निचूर्णकम् ।
कर्ण चूर्णाग्नि दानेन गोलं लक्ष्ये निपातयेत् ॥१०४४

आक तथा स्नुही के कोयले, गन्धक, सोरा, मैनशिल, हड़ताल सीसा, हींगलू, कान्तिसार, खपरिया, लाख, राल, देवदारु का गोंद इनके न्यून अधिक अंश से अनेक प्रकार का अग्नि चूर्ण (दारू) उसके बनाने वाले, बनाते हैं। यह अग्नि चूर्ण चलते ही चांदनी या बिजली की सी चमक कर देता है। जब तोपों पर आग लगाई जाती है तो वे अपनी नाल से गोला छोड़ते हैं। प्रथम नालास्त्र का शोधन करे और फिर उसमें अग्नि चूर्ण भरे। इसके बाद उस में दण्डे से दाब २ कर बारूद को भरे, फिर उसमें गोला भर दे और इसके बाद तोप के कान (छिद्र) में अग्नि चूर्ण (बारूद) भरे। उस छिद्र पर आग लगाने से गोला लक्ष्य पर जाकर लगता है ॥१०३६-१०४४॥

लक्ष्यभेदी यथाबाणो धनुर्ज्याविनियोजितः ।
भवेत्तथातु संधायद्विहस्तश्च शिलीमुखः ॥१०४५॥

जिस प्रकार धनुष पर चढ़ाया हुआ बाण अपने लक्ष्य को बींध लेवे। उसी तरह दो दो हाथ का बाण धनुष पर चढ़ाना चाहिए ॥१०४५॥

अष्टास्रा पृथुबुध्नातुगदा हृदय संमिता ।

पट्टी शात्म समो हस्त बुध्नश्चो भयतोमुखः ॥१०४६॥

आठ कोने की मोटे हत्थे की छाती के बराबर गदा होती है। अपने बराबर दोनों तरफ मुख वाला पट्टा होता है, हाथ में रखने के भाग में दो तरफ मुख होते हैं ॥१०४६॥

ईषद्वक्रश्चैकधारो विस्तारे चतुरंगुलः ।

क्षुरप्रांतोनाभि समोदृढ मुष्टिः सुचंद्ररुक् ॥१०४७॥

खड्गः प्रासश्चतुर्हस्त दंडबुध्नः क्षुराननः ।

दशहस्त मितः कुंतः फालाग्रः शंकुबुध्नकः ॥१०४८॥

कुछ टेढ़ा, एक धार धारी, चार अंगुल चौड़ा, क्षुर के समान तीक्ष्ण, नाभि तक पहुंचा हुआ चन्द्रमा के समान चमकीला, खड्ग होता है। चार हाथ लम्बा दण्ड वाला, क्षुरे के समान तीक्ष्ण, प्रास नामक शस्त्र होता है। दश हाथ के दण्ड में लगा हुआ आगे फलदार कील से युक्त भाला होता है ॥१०४७-१०४८॥

चक्रं षड्हस्त परिधिः क्षुरप्रांतं सुनाभियुक् ।

त्रिहस्त दंडस्त्रिशिखो लोहरज्जुः सपाशकः ॥१०४९॥

छः हाथ की जिसकी परिधि होती है, वह चक्र कहाता है। इसकी धाराएँ भी छुरे के समान पैनी और मध्य भाग से युक्त होता है। तीन हाथ, लम्बे दण्ड वाली, तीन शिखा धारी, फांसी के सहित एक लोह की जंजीर होती है ॥१०४९॥

गोधूमसंमितस्थूल पत्रं लोहमयं दृढम् ।

कवचं सशिरस्त्राणमूर्ध्व काय विशोभनम् ॥१०५०॥

जिसके पत्ते गेहूं-के समान मोटे लोहे के बने हों। वह कवच होता है। जो मस्तक की रक्षा करता रहे-ऐसे कवच को शिरस्त्राण कहते रहते हैं ॥१०५०॥

योवै सुपुष्ट संभारस्तथा षड्गुण मंत्रवित् ।

बह्वस्त्र संयुतो राजा योद्धुमिच्छेत्सएवहि ॥१०५१॥

अन्यथा दुःखमाप्नोति स्वराज्याद्भ्रश्यतेपिच ।

जिस राजा के पास बहुत सी युद्ध सामग्री हो । जो सन्धि आदि षड़गुणों को जानता हो। जिसके पास बहुत से अस्त्र शस्त्र हों वही राजा शत्रु से युद्ध करने की इच्छा करे। यदि इसके विपरीत राजा करेगा-तो वह दुःख भोगेगा या राज्य से भ्रष्ट हो जावेगा ॥

शत्रु भाव समापन्नोरुभयोः संयतात्मनोः ॥१०५२॥

अस्त्राद्यैः स्वार्थसिद्ध्यर्थं व्यापारोयुद्ध मुच्यते ।

मंत्रास्त्रैर्दैविकं युद्धं नालाद्यस्त्रैस्तथाऽऽसुरम् ॥

शत्रुबाहु समुत्थंतु मानवं युद्धमीरितम् ।

जिन दो राजाओं में शत्रु भाव की उत्पत्ति हो जावे। और जो दोनों टकराने को उद्यत हों। ये दोनों शस्त्रास्त्रसे जब अपनी २ विजय का उद्योग करते हैं-इसे ही युद्ध कहते हैं। मांत्रिक अस्त्रों से जो युद्ध होता है, वह दैविक कहाता है, नालिक अस्त्रों से होने वाला

युद्ध आसुर कहाता है। शत्रुओं के भुजाओं के बल से शस्त्र चला कर जो युद्ध किया जाता है—यह मानव युद्ध होता है ॥१०५२-१०५३

एकस्य बहुभिः सार्धं बहूनां बहुभिश्चवा ॥१०५४॥

एकस्यैकेनवाद्वाभ्यांद्वयोर्वातद्भवेत्खलु।

कालं देशं शत्रुबलं दृष्ट्वा स्वीयबलं ततः ॥१०५५॥

उपायान्षड्गुणं मंत्रं संभूयाद्युद्ध कामुकः।

शरद्धेमंत शिशिर कालो युद्धेषु चोत्तमः ॥१०५६॥

वसंतो मध्यमो ज्ञेयोऽधमो ग्रीष्मः स्मृतः सदा।

वर्षासुन प्रशंसंति युद्धं सामस्मृतं तदा ॥१०५७॥

एक वीर का बहुतों के साथ बहुत वीरों का बहुत से वीरों के साथ, एक का एक के साथ तथा दो का दो के साथ युद्ध होता है। जो राजा, युद्ध के लिए उद्यत हो—वह देश, काल, शत्रु बल, आत्म बल, उपाय, सन्धि आदि गुण युक्त, मन्त्र बल—इन सबका विचार करे। युद्ध के लिए शरद् हेमन्त या शिशिर काल उत्तम माना गया है। वसन्त ऋतु का समय मध्यम काल है। ग्रीष्म ऋतु में अधम काल माना गया है। वर्षा ऋतु में कभी युद्ध नहीं करना चाहिए। वह समय तो सन्धि करने का होता है १०५४-१०५७

युद्ध संभार संपन्नो यदाधिक बलो नृपः।

मनोत्साही सुशकुनोत्पाती कालस्तदाशुभः ॥१०५८॥

जब राजा, युद्ध के सामान से सुसज्जित हो। सेना बहुत संगृहीत हो। मन में युद्ध का उत्साह हो और शुभ शकुन हो रहे हों–ऐसे काल को युद्ध के लिए शुभ माना गया है ॥१०५८॥

कार्येऽत्यावश्यके प्राप्ते कालोनोचेद्यदा शुभः।

विधाय हृदिविश्वेशं गेहे चिह्निमियात्तदा ॥१०५६॥

नकाल नियमस्तत्र गोस्त्री विप्रविनाशने।

यदि अत्यन्त आवश्यक कार्य आ पड़े और शुभ काल उपस्थित न हो, तो हृदय में परमात्मा का ध्यान करके घर में कोई चिन्ह करके चल देवे। गौ स्त्री और ब्राह्मण की रक्षा के निमित्त काल की प्रतीक्षा उत्तम नहीं है ॥१०५६॥

यस्मिन्देशे यथाकालं सैन्य व्यायाम भूमयः ॥१०६०

परस्य विपरीतश्च स्मृतो देशः सउत्तमः।

जिस देश में अपनी सेना के व्यायाम (कवायद) को अच्छी भूमि मिल जावे और शत्रु को न प्राप्त हो सके वह प्रदेश युद्ध को उत्तम माना गया है ॥१०६०॥

आत्मनश्च परेषांच तुल्य व्यायाम भूमयः ॥१०६१॥

यत्र मध्यम उद्दिष्टो देशः शास्त्र विचिंतकैः।

जिस भूमि में अपने लिए और शत्रु के लिए–एक सी सेना की भूमि सुलभ हो–उस प्रदेश को शास्त्र के विचारने वाले लोगों ने मध्यम प्रदेश माना है ॥१०६१॥

आराति सैन्य व्यायामस्तु पर्याप्त महीतलः ॥१०६२॥
आत्मनो विपरीतश्च सर्वे देशोऽधमः स्मृतः ।

शत्रु सेना के व्यायाम को जिस प्रदेश में पुष्कल भूमि प्राप्त हो और अपनी सेना के व्यायाम (कवायद) के लिए कोई स्थान न मिले, वह युद्ध के लिए अधम देश माना गया है ॥१०६२॥

स्वसैन्यात्तु तृतीयांश हीनं शत्रु बलंयदि ॥१०६३॥
अशिक्षित मसारंवा साद्यस्कं स्वजयायन ।

यद्यपि शत्रु की सेना का भाग अपने से तृतीयांश कम हो, परन्तु अपनी सेना अशिक्षित, असार (बलहीन) और नयी हो-तो विजय कभी नहीं हो सकेगी ॥१०६३॥

पुत्र वत्पालितं यत्तु दान मान विवर्द्धितम् ॥१०६४॥
युद्ध संभार संपन्नं स्वसैन्यं विजयप्रदम् ।

जिस सेना को पुत्र की भांति पाला हो। दान मान से बढ़ाया हो। जो युद्ध की सामग्री से सुसम्पन्न हो-वह सेना शीघ्र विजय करने में समर्थ होती है ॥१०६४॥

संधिंच विग्रहं यानमासनंच समाश्रयम् ॥१०६५॥
द्वैधीभावंच संविद्यान्मंत्रस्यै तांस्तु षड्गुणान् ।

सन्धि, विग्रह, यान आसन, समाश्रय और द्वैधी भाव—ये मंत्र के छः गुण माने गए हैं ॥१०६५॥

याभिः क्रियाभि र्बलवान्मित्रतां याति वैरिणः ॥
साक्रिया संधिरित्युक्ता विमृशेतांतु यत्नतः ।

बलवान् राजा, बलवान् शत्रुओं से जिन क्रियाओं से मित्र बन जावे वह क्रिया सन्धि कहाती है। राजा इसका सर्वदा प्रयत्न करता रहे ॥१०६६॥

विकर्षितः सन्नाधीनो भवेच्छत्रुस्तु येनवै ॥१०६७॥
कर्मणा विग्रहस्तंतु चिंतयेन्मंत्रिभि र्नृपः ।

जिस कर्म द्वारा दबाया हुआ शत्रु अपने अधीन हो जावे, उसे विग्रह कहते हैं। राजा इसका विचार मन्त्रियों के साथ करे ॥

शत्रुनाशार्थ गमनं यानंस्वाभीष्ट सिद्धये ॥१०६८॥
स्वरक्षणं शत्रु नाशो भवेत्स्थानात्तदासनम् ।

शत्रु के नाश के निमित्त अपने विजय के लिए जो उसपर चढ़ाई की जाती है। वह यान कहाता है। जिस स्थान पर बैठने से अपनी रक्षा और शत्रु का नाश सम्भव हो, उस जगह बैठने को आसन कहा है ॥१०६८॥

यैर्गुप्तो बलवान्भूयाद्दुर्बलोपि सआश्रयः ॥१०६९॥
द्वैधीभावः स्वसैन्यानां स्थापनं गुल्मगुल्मतः ।

जिन मित्रों से सुरक्षित होकर दुर्बल राजा भी बलवान् हो जावे, वह आश्रय माना गया है। अपनी सेना को शत्रु और मित्र दोनों के स्थानों पर नियुक्त करना द्वैधी भाव कहाता है ॥१०६९॥

बलीयसाभियुक्तस्तु नृपो नान्यप्रति क्रियः ॥१०७०॥
आपन्नः संधि मन्विच्छेत्कुर्वाणः कालपालनम् ।
एक एवोपहारस्तु संधिरेषमतोहिनः ॥१०७१॥

जब किसी राजा पर बलवान शत्रु आक्रमण कर दे और उस समय जब अन्य कोई उपाय दिखाई न देवे-तो विपत्ति में उलझा हुआ राजा, उससे सन्धि कर लेवे और फिर शत्रु के विपरीत समय की प्रतीक्षा करता रहे। सन्धि कर लेना ही शत्रु की एक भेंट है। और समय के ऊपर इसे कर लेना चाहिए यह हमको भी सम्मत है ॥१०७०-१०७१॥

उपहारस्य भेदास्तु सर्वेन्ये मैत्र वर्जिताः ।
अभियोक्ता बलीयस्त्वाद लब्ध्वान निवर्तते ॥१०७२॥

अन्य जितने भी उपहार (भेंट) शत्रु को दी जाती हैं, उनमें मित्रता का अभाव रहता है। आक्रमण कर्ता बलवान् होता है, वह बिना कुछ लिए कभी नहीं लौट सकता है ॥१०७२॥

उपहाराद्दते यस्मात्संधिरन्योन विद्यते ।
शत्रोर्बलानुसारेण उपहारं प्रकल्पयेत् ॥१०७३॥

इस तरह भेंट देकर सन्धि करने के सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है या उपहार के सिवा सन्धि अन्य कुछ नहीं है। शत्रु की जितनी शक्ति हो, उसको देखकर उपहार की कल्पना करनी चाहिए ॥१०७३॥

सेवां वापि च स्वीकुर्याद्द्यात्कन्यां भुवं धनम् ।
स्व सामंतांश्च संधीयान्मंत्रेणान्य जयायवै ॥१०७४॥

इस दशा में शत्रु राजा की सेवा भी स्वीकार करले या उसे कन्या पृथिवी और धन तक दे देवे । शत्रु के विजय के लिए अपने समीप के सामन्त राजाओं से सन्धि करके शत्रु का सामना करना भी उचित उपाय है ॥१०७४॥

संधिः कार्योप्य नार्येण संप्राप्योत्सादयेद्द्विसः ।
संघातवान्यथा वेणुर्निबिडैः कंटकैर्वृतः ॥१०७५॥
नशक्यते समुच्छेत्तुं वेणुः संघात वांस्तथा ।

सन्धि तो अनार्य राजा से भी कर लेनी चाहिए । जब सन्धि हो जाती है, तो उससे अन्य शत्रु नष्ट हो जाते हैं । जब वेणु (बांसों) का समूह बँध जाता है और वह कांटों से घिर जाता है, उसे कोई काट नहीं सकता है । जिस तरह संघात धारी कांटों युक्त बांस नहीं काटा जा सकता–इसी तरह अन्याय से मिल जाने पर अन्य शत्रु राजा को नहीं उखाड़ सकते हैं ॥१०७५॥

बलिना सहसंधाय भये साधारणे यदि ॥१०७६॥
आत्मानं गोपयेत्काले बह्व मित्रेषु बुद्धिमान् ।

यदि राजा को एक साधारण भय खड़ा होगया हो–अर्थात् सब ओर से भय उठ खड़ा हुआ हो, तो बहुत से शत्रुओं के दबाने पर बुद्धिमान् राजा, समयानुसार अपनी रक्षा करे ॥१०७६॥

बलिना सहयोद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ॥
प्रतिवातं हीनघनः कदाचिदपि सर्पति ।

बलवान के साथ युद्ध करना चाहिए इसका तो कोई उदाहरण ही, नहीं है। प्रचण्ड वायु की ओर कभी मेघ जाता हुआ नहीं देखा गया है ॥१०७७॥

बलीयसि प्रणमतां काले विक्रमतामपि ॥१०७८॥
संपदोन विसर्पंति प्रतीपमिव निम्नगाः ।

बलवान् शत्रु को समय पर प्रणाम करो और फिर समय आने पर उससे युद्ध ठान बैठो। ऐसा करने वाले राजाओं की कभी सम्पत्ति विपरीत नहीं होती है, जैसे नदी कभी उलटी नहीं बहती है ॥१०७८॥

राजानगच्छेद्विश्वासं संधितोपिहि बुद्धिमान् ॥१०७९॥
अद्रोह समयं कृत्वा वृत्रमिंद्रः पुराऽवधीत् ।

जो बुद्धिमान राजा है। वह सन्धि करके भी किसी का विश्वास नहीं करता है। इन्द्र ने वृत्रासुर से वैर नहीं रखने की सन्धि करके भी उसे मार गिराया था—यह पूर्वकाल की कथा प्रसिद्ध है॥

आपन्नोभ्युदया कांक्षी पीड्यमानः परेणवा ॥१०८०॥
देशकाल बलोपेतः प्रारभेतच विग्रहम् ।

जो विपत्ति में फंस गया है, परन्तु अपना अभ्युदय चाहता है। शत्रु द्वारा जिसको दबाया जा चुका है। वह राजा देश काल

के अनुसार सेना से सम्पन्न होकर शत्रु के साथ युद्ध छेड़ सकता है ॥१०८०॥

प्रहीन बलमित्रंतु दुर्गस्थं द्यंतरागतम् ॥१०८१॥
अत्यन्त विषयासक्तं प्रजाद्रव्यापहारकम् ।
भिन्न मंत्रि बलं राजा पीडयेत्परिवेष्टयन् ॥१०८२॥
विग्रहः सच विज्ञेयो ह्यन्यश्च कलहः स्मृतः ।

जिस शत्रु राजा की सेना और मित्र निर्बल पड़ चुके हों, किसी दुर्ग में बन्द होकर बैठा हो। दो शत्रुओं से घिरा हुआ हो, या अत्यन्त भोग विलास में फंसा हो, जो प्रजा के द्रव्य का अपहरण कर रहा हो। मन्त्री और सेना में जिसके फूट पड़ी हो, ऐसे शत्रु को घेर कर उसे वश में कर लेवे। ऐसा करने को ही युद्ध कहते हैं। इससे पूर्व दशा कलह कहाती है ॥१०८१-१०८२॥

बलीयसात्यल्प बलः शूरेण नच विग्रहम् ॥१०८३॥
कुर्याच्च विग्रहे पुंसां सर्वोनाशः प्रजायते ।
एकार्थाभिनिवेशित्वं कारणं कलहस्यवा ॥१०८४॥
उपायांतर नाशेतु ततो विग्रहमाचरेत् ।
विगृह्य संधाय तथा संभूयाथ प्रसंगतः ॥१०८५॥
उपेक्षयाच निपुणै र्यानं पंच विधं स्मृतम् ।

जो हीन बल होकर बलवाले शूरवीर के साथ युद्ध करता है उस लड़ाई में पुरुषों का सर्वनाश हो जाता है किसी एक ही

वस्तु की अभिलाषा करने को ही लड़ाई कहते हैं। जब दूसरा कोई उपाय न हो तो लड़ाई करें और लड़ाई को मिलकर इकट्ठा होकर करने को पांच प्रकार का यान कहते हैं ॥१०८३-१०८५॥

विगृह्ययातिहि यदा सर्वाञ्छत्रु गणान्बलात् ॥१०८६

विगृह्ययानं यानज्ञैस्तदाचार्यैः प्रचक्षते।

जब राजा कोई युद्ध का कारण बनाकर शत्रुओं पर चढ़ाई कर देता है, तो राजनीति के विद्वान आचार्य इस यान को विगृह्ययान कहते हैं ॥१०८६॥

अरि मित्राणि सर्वाणि स्वमित्रैः सर्वतोबलात् ॥

विगृह्यचारि भिर्गंतु विगृह्य गमनंतुवा।

किसी आचार्य का मत है कि शत्रु के सारे मित्रों को अपने मित्रों के साथ बलपूर्वक लड़ाकर जो उनपर चढ़ाई करता है इसे विगृह्यान कहते हैं ॥१०८७॥

संधायान्यत्र यात्रायां पार्ष्णि ग्राहेण शत्रुणा ॥

संधाय गमनं प्रोक्तं तज्जिगीषोः फलार्थिना।

अपने पीछे रहने वाले शत्रु से सन्धि करके अन्य शत्रु पर चढ़ाई करना-सन्धायगमन कहाता है। विजयाभिलाषी राजा इस ढंग से अधिक फल प्राप्ति की आशा करते हैं ॥१०८८॥

एको भूपोयदैकत्र सामंतैः सांपरायिकैः ॥१०८९॥

शक्ति शौर्य युतै र्यानं संभूय गमनंहि तत्।

जब एक राजा अपने युद्ध निपुण शक्ति और शौर्य सम्पन्न सामन्तों के साथ मिलकर शत्रु पर चढ़ाई करता है, तो इसे संभूय-गमन कहते हैं ॥१०८९॥

अन्यत्र प्रस्थितः संगादन्यत्रैवच गच्छति ।।१०९०॥
प्रसंगयानं तत्प्रोक्तं यानविद्भिश्च मंत्रिभिः ।

किसी प्रसङ्ग से अन्य ओर जा रहे थे और कारणवश अन्य राजा पर चढ़ाई करदो जावे-इसे यान के जानने वाले मन्त्रिगण प्रसङ्गयान कहते हैं ॥१०९०॥

रिपुं या तस्य बलिनः संप्राप्य विकृतं फलम् ॥
उपेक्ष्य तस्मिन् तद्यानमुपेक्षायान मुच्यते ।
दुर्वृत्तेऽप्यकुलीनेतो बलंदातरिरज्यते ।।१०९२॥

जब शत्रु बिगड़ गया हो, तो उस पर बलवान राजा की चढ़ाई उपेक्ष्यमान कहाती है। क्योंकि यह चढ़ाई शत्रु की उपेक्षा के कारण से की गई है। जो राजा दुराचारी और अकुलीन हो, तो सेना की चढ़ाई करने पर, शत्रु-प्रजा चढ़ाई करने वाले की ओर झुक पड़ती है ॥१०९१-१०९२॥

हृष्टं कृत्वास्वीयबलं पारितोष्य प्रदानतः ।
नायकः पुरतोयायात्प्रवीर पुरुषावृतः ।।१०९३॥

अपनी सेना को धन दान आदि से सन्तुष्ट करके और आदर सत्कार से प्रसन्न बनाकर उत्तम २ वीर पुरुषोंकी सेना लेकर सेनापति शत्रु देश पर चढ़ाई करे ॥१०६३॥

मध्ये कलत्रं कोशश्च स्वामी फल्गुच यद्धनम् ।
ध्वजिनींच सदोद्युक्तः संगोपायेद्दिवा निशम् ॥

अपनी सेना के मध्य में स्त्रीजन, कोश (खजाना) स्वामी (राजा) साधारण सेना और धन (सामान) को रखे । इस प्रकार चढ़ाई करता हुआ सेनापति, रात दिन अपनी सेना की रक्षा की ओर प्रवृत्त रहे ॥१०६४॥

नद्यद्रि वन दुर्गेषु यत्र यत्र भयं भवेत् ।
सेनापतिस्तत्र तत्र गच्छेद्व्यूह कृतै र्बलैः ॥१०६५॥

नदी, पर्वत, वन, और दुर्गम स्थानों में जहां २ सेना को भय हो, वहीं पर सेनापति, अपनी सेना का व्यूह बनाकर बड़ी सावधानी से यात्रा करे ॥१०६५॥

यायाद्व्यूहेन महतामकरेण पुरोभये ।
श्येनेनोभय पक्षेण सूच्यावा धीरवक्त्रया ॥१०६६॥

जब सामने से शत्रु के भय की आशङ्का-हो तो सेनापति, मकर व्यूह बनाकर चले अथवा दोनों पक्ष प्रबल वाले श्येनव्यूह या पैनी धार वाले सूची व्यूह से गमन करे ॥१०६६॥

पश्चाद्भयेतु शकटं पार्श्वयो र्वज्र संज्ञिकम् ।
सर्वतः सर्वतो भद्रं चक्रं व्यालमथापिवा ॥१०६७॥

यदि पीछे से भय उपस्थित होने की आशङ्का हो-तो शकट व्यूह बनाया जावे। यदि दोनों पार्श्वों से भय खड़ा हो गया हो वज्र संज्ञक व्यूह बनाना चाहिए। यदि सब ओर से भय आने वाला दिखाई दे तो, सर्वतो भद्र नामक व्यूह को सेनापति बनावे अथवा चक्रव्यूह या काल व्यूह बनाया जावे ॥१०६७॥

यथा देशं कल्पयेद्वा शत्रु सेना विभेदकम्।
व्यूह रचन संकेतान्वाद्य भाषा समीरितान् ॥१०६८॥
स्वसैनिकै विनाकोपि न जानाति तथा विधान।
नियोजयेच्च मतिमान् व्यूहान्नानाविधान्सदा ॥

इस प्रकार जैसा देश हो- उसी तरह का व्यूह बनाना उचित है। जिससे शत्रु सेना का भेदन हो सके। बाजों की भाषा से मकर आदि व्यूह रचलेने के संकेत पूर्व से ही नियत रखने चाहिए। इन संकेतों को अपनी सेना के लोगों के सिवा अन्य कोई न जान सके। बुद्धिमान राजा ऐसे समयों पर अनेक प्रकार के व्यूहों को रचता रहे ॥१०६८-१०६९॥

अश्वानांच गजानांच पदातीनां पृथक् पृथक्।
उच्चैः संश्रावयेद्व्यूहं संकेतान्सैनिकान्नृपः ॥११००॥

घुड़सवार, गजारोही, और पैदल सैनिकों को राजा, व्यूह रचना के संकेतों को उच्चस्वर में सुनवा देवे ॥११००॥

वाम दक्षिण संस्थोवा मध्यस्थोवाग्र संस्थितः।
श्रुत्वातान्सैनिकैः कार्यमनुशिष्टं यथा तथा ॥११०१॥

इस समय राजा जैसे उचित होवे, बांयी, दांयी ओर बीच में या अग्रभाग में स्थिति हो जावे। व्यूह रचना के संकेतों को सुनते ही सैनिक शिक्षा के अनुसार फौरन ही, व्यूह रचना कर डाले ॥११०१॥

संमीलन प्रसरणं परिभ्रमण मेवच ।
आकुंचनं तथा यानं प्रयाणम पयानकम् ॥११०२॥
पर्यायेणच सां मुख्यं समुत्थानंच लुंठनम् ।
संस्थानं चाष्ट दलवच्चक्र वद्गोल तुल्यकम् ॥११०३॥

इसी तरह सैनिक लोग, संकेतों के अनुसार मिलना हो-मिल जावे, फैलना हो फैल जावे। चारों ओर घूम जावें सुकुड़ जावें, पीछे हट जावें। क्रम से सन्मुख आवें, खड़े हो जावें, लौटने लग पड़ें, अष्टदल बनाकर खड़े हो जावें, चक्रकी सी गुलाई में स्थित हो जावें ॥११०२-११०३॥

सूचीतुल्यं शकटवदर्धचन्द्र समंतुवा ।
पृथग्भवन मल्पाल्पैः पर्यायैः पंक्तिवेशनम् ॥११०४॥
शस्त्रास्त्रयो धारणंच संधानं लक्ष्य भेदनम् ।
मोक्षणंच तथास्त्राणां शस्त्राणां परिघातनम् ॥

कभी सूची व्यूह, शकटव्यूह, अर्धचन्द्रव्यूह, आदि बना लेने चाहिए। यदि थोड़ी २ सेना के बटजाने का संकेत हो तो वैसा करलेना चाहिए। क्रमवार पंक्ति बनाकर बैठ जाना चाहिए।

शस्त्रास्त्र का धारण, धनुष पर बाण से जान लक्ष्यभेदन, अस्त्रों का मोक्षण, शस्त्रों का परिचालन-ये सब कुछ संकेत पाते ही कर डालना चाहिए ॥११०४-११०५॥

द्राक् संधानं पुनः पातो ग्रहो मोक्षः पुनः पुनः ।
स्वगूहनं प्रतीघातः शस्त्रास्त्र पद विक्रमैः ॥११०६॥

संकेत के अनुसार शीघ्र २ बाणों का चढ़ाना, आघात करना, बाण लेना, बार २ छोड़ना, अपने को छुपाना तथा शस्त्रास्त्र के दाव पेचों से उनका आघात करना चाहिए ॥११०६॥

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा पंक्तितो गमनं ततः ।
तथा प्राक् भवनंचापसरणं तूपसर्जनम् ॥११०७।

दो तीन या चार सेना की पंक्ति बनाकर गमन करना, कभी आगे होना, कभी पीछे होना और कभी पृथक २ हो जाना उचित है ॥११०७॥

अपसृत्यास्त्र सिद्धयर्थ मुपसृत्य विमोक्षणे ।
प्राक् भूत्वामोचये दस्त्रंव्यूहस्थः सैनिकः सदा ॥
आसीनः स्याद्विमुक्तास्त्रः प्राग्वाचापसरेत्पुनः ।
प्रागासीनं तूपसृत्योदृष्ट्वास्वास्त्रं विनोदयेत् ॥११०९॥

अस्त्रों की सिद्धि के लिए पीछे हटना, अस्त्रों के मोक्षण के लिए आगे हट जाना चाहिए। व्यूह में स्थित होकर सैनिक सर्वदा

आगे बढ़कर ही अस्त्र को छोड़ें, अस्त्र के छोड़ने पर सैनिक बैठ जावें अथवा आगे की ओर बढ़ जावें। आगे बढ़कर जब देखें, कि शत्रु की सन्मुख स्थिति है। तभी अपने अस्त्र को छोड़ना चाहिए ॥११०८-११०९॥

एकैकशो द्विशो वापि संघशो बोधितो यथा।
क्रौंचानां खेगतिर्यादृक्पंक्तितः संप्रजायते ॥१११०॥
तादृक् संरचयेत्क्रौंच व्यूहं देश बलं यथा।
सूक्ष्मग्रीवं मध्यपुच्छं स्थूलपक्षंतु पंक्तितः ॥११११॥

जिस प्रकार आकाश में क्रौञ्च पक्षी, एक २ दो २ या अनेक पंक्ति बांधकर क्रमसे जाते हैं, उसी प्रकार संकेत होते ही सैनिक पंक्ति बांध कर चल देवें। देश और सेना के बल के अनुसार यह जो व्यूह रचना है, वह क्रौञ्च व्यूह कहाती है। इसकी ग्रीवा पतली, पूंछ मध्यम और पक्ष मोटे होवें, ऐसी पंक्ति होनी चाहिए ॥१११०-११११॥

बृहत्पक्षं मध्यगल पुच्छेश्येनं मुखेतनु।
चतुष्पान्मकरोदीर्घ स्थूलवक्त्र द्विरोष्ठकः ॥१११२॥

जिसके पक्ष विशाल हों, गल और पुच्छ मध्यम हों। मुख पतला हो-ऐसा भी श्येन व्यूह होता है। जिसके चार भाग हों, दीर्घ और स्थूल मुख हो तथा दो ओष्ठ हों-वह मकर व्यूह होता है ॥१११२॥

सूची सूक्ष्म मुखो दीर्घ सम दंडांत, रंध्रयुक् ।
चक्रव्यूह श्चैकमार्गो ह्यष्टधाकुंडली कृतः ॥१११३॥

जिसका मुख सूक्ष्म हो, समान रूप में लम्बा विस्तार रहे, बीच में रन्ध्रय हो, वह सूची मुख होता है। आठ कुण्डली खाकर बना हुआ एक मार्ग का चक्रव्यूह होता है ॥१११३॥

चतुर्दिक्ष्वष्ट परिधिः सर्वतो भद्र संज्ञकः ।
अमार्गश्चाष्टवलयी गोलकः सर्वतोमुखः ॥१११४॥

चारों ओर जिसमें आठ परिधि हों-वह सर्वतो भद्र होता है। आठ वलय में मार्ग रहित या गोल मण्डल वाला सब ओर मुख वाला भी सर्वतो भद्र व्यूह होता है ॥१११४॥

शकटः शकटाकारो व्यालो व्यालो कृतिः सदा ।
सन्यमल्पं बृहद्वापि दृष्ट्वा मार्गं रणस्थलम् ॥
व्यूहै व्यूहेन व्यूहाभ्यां संकरेणापि कल्पयेत् ।

शकट (गाड़ी) के समान आकार धारी शकटव्यूह और काल के समान आकृतिधारी कालव्यूह होता है। सेना की अधिकता न्यूनता मार्ग और रणस्थल को देखकर एक व्यूह, दो व्यूह अनेक व्यूह तथा मिश्रित व्यूह रच लेने चाहिए ॥१११५॥

यंत्रास्त्रैः शत्रुसेनाया भेदोयेभ्यः प्रजायते ॥१११६॥
स्थलेभ्यस्तेषु संतिष्ठेत्ससैन्यो ह्यासनंहि तत् ।

जिस जगह यन्त्रों के अस्त्रों से शत्रु सेना का भेदन हो जावे, उन स्थलों में सेनापति, सेना सहित स्थित होवे, इसे ही आसन कहते हैं ॥१११६॥

तृणान्न जल संभाराये चान्ये शत्रपोषकाः ॥१११७॥
सम्यङ्निरुध्यतांयत्नात्परितश्चिरमासनात् ।

तृण, अन्न, जल आदि सामग्री तथा अन्य शत्रुपोषक साधनों को वहां चिरकाल तक स्थिति राजा सब ओर से बड़े प्रयत्न के रोक देवें ॥१११७॥

विच्छिन्नवीविधासारं प्रक्षीणयव सेंधनम् ॥१११८॥
विगृह्य माणप्रकृतिं कालेनैव वशंनयेत् ।

इस प्रकार शत्रु के अनेक प्रकार के वस्तु आने के साधन घास, ईन्धन, नष्ट हो जाते हैं। राजा जहां तक हो शत्रु के देश में उनके मन्त्री आदि में भी कलह करवा देवे। ऐसा करने से राजा, थोड़े काल में ही शत्रु को वश में कर सकता है ॥

अरेश्च विजिगीषोश्च विग्रहे हीय मानयोः ॥१११६॥
संधाय यदवस्थानं संधायासन मुच्यते ।

जब विजेता और शत्रु, दोनों लड़कर क्षीण हो चुके हों, उस समय एक से सन्धि करके जो स्थित होना है, यह संधाय संज्ञक आसन कहाता है ॥१११६॥

उच्छिद्यमानो बलिनानि रुपाय प्रतिक्रियः ॥११२०॥
कुलोद्भवं सत्यमार्यमाश्रयेत बलोत्कटम् ।
विजिगीषोस्तुसाह्यार्थाः सुहृत्संबंधि बांधवाः ॥

जब शत्रुओं द्वारा राजा की जड़ उखाड़ दी गई हो । राजा को कोई उपाय नहीं सूझता हो उस समय कुलीन, आर्य, सत्यवादी बलवान राजा का आश्रय लेवे । विजेता राजा के ही मित्र सम्बन्धी और बान्धव सहायक होते हैं । जिन को अपनी भूमि का कुछ भाग दिया हो या जो भूमि में अंश भोक्ता हों, इनके आश्रय में चले जाने को आश्रय कहते हैं या ऐसे ही किसी दृढ़ दुर्ग में चले जाने को भी विद्वानों ने आश्रय माना है ॥११२०-११२१॥

प्रदत्तभूतिकाह्यन्ये भूपाअंश प्रकल्पिताः ।
सैवाश्रयस्तु कथितो दुर्गाणिच महात्मभिः ॥११२२॥

जब अपनी कार्य सिद्धि का राजा को कोई उपाय दिखाई न पड़े उस समय राजा समयानुकूल काक के नेत्र के समान दोनों ओर का वर्ताव करता रहे. जिसका किसी को पता न हो ॥

अनिश्चितोपायकार्यः समयानुचरोनृपः ।
द्वैधी भावेन वर्ततका काक्षिव दलक्षितम् ।११२३॥
प्रदर्शयेदन्यकार्य मन्यमालंब येच्चवा ।
सदुपायैश्च सन्मंत्रैः कार्यसिद्धरथोद्यमैः ॥११२४॥
भवेदल्प जनस्यापि किंपुन नृपतेर्नहि ।

राजा को चाहिए कि वह अन्य कार्य करता ना दिखाई देवे-और अन्य कार्य कर डाले। उत्तम उपाय, उत्तम मन्त्रणा और उद्योगों से साधारण जन के भी कार्य हो जाते हैं, फिर राजा के कार्य सिद्ध न हो सकेंगे-ऐसा तो विचार भी नहीं करना चाहिए ॥११२४॥

उद्योगेनैव सिध्यंति कार्याणि न मनोरथैः ॥११२५॥
नहि सुप्त मृगेंद्रस्यनिपतंति गजामुखे।

जितने भी कार्य हैं, वे उद्योग से ही सिद्ध होते हैं, मनोरथ से काम नहीं हुआ करते। सोते हुए सिंह के मुख में कहीं हाथी स्वयं आकर गिरते नहीं देखे गए हैं ॥११२५॥

अयोभेद्यमुपायेन द्रवता मुपनीयते ॥११२६॥
लोकप्रसिद्ध मेवैतद्वारिवह्ने र्नियामकम्।
उपायोप गृहीतेन तेनैतत्परिशोष्यते ॥११२७॥

लोहा बड़ा कठिन होता है, परन्तु वह भी उपाय से पिघल जाता है। लोक में यह प्रसिद्ध है कि पानी आग को बुझा देता है। परन्तु यदि उपाय से काम किया जावे, तो आग सारे पानी को सुखा डालती है ॥११२६-११२७॥

उपायेनपदं मूर्ध्निन्यस्यते मत्तहस्तिनाम्।
उपायेषूत्तमोभेदः षड्गुणेषु समाश्रयः ॥११२८॥

मदोन्मत्त हाथियों के मस्तक पर भी उपाय के द्वारा पैर रखा जाता है। इन उपायों का सर्वोत्तम उपाय भेद है और छः गुणों में उत्तम गुण आश्रय माना गया है ॥११२८॥

कार्यौद्वौ सर्वदातौतु नृपेण विजिगीषुणा ।
ताभ्यां विनानैव कुर्याद्युद्धं राजा कदाचन ॥११२६

विजयाभिलाषी राजा को भेद और आश्रय इन दोनों का अवलम्बन करना चाहिए। इनके ग्रहण किए बिना राजा को कभी शीघ्रता से युद्ध नहीं कर बैठना चाहिए। ११२६॥

परस्परं प्राति कूल्यं रिपुसेनप मंत्रिणाम् ।
भवेद्यथा तथा कुर्यात्तत्प्रजायाश्च तत्स्त्रियाः ॥११३०॥

जिस तरह शत्रु सेनापति और मन्त्रियों तथा प्रजा और रनिवास की स्त्रियों से राजा का विरोध हो जावे, उसी तरह के उपायों का विजयाभिलाषी राजा को अवलम्बन करना चाहिए ॥

उपायान्षड्गुणान्वीक्ष्यशत्रोः स्वस्यापिसर्वदा ।
युद्धं प्राणात्यये कुर्यात्सर्वस्व हरणेसति ॥११३१॥

राजा अपने शत्रु के सामादि उपाय और सन्धि आदि छः गुणों की ओर देखता रहे। जब तक सर्वस्वापहरण या प्राण संकट उपस्थित न हो जावे, तब तक युद्ध को टालना ही चाहिए ॥

स्त्री विप्राभ्युप पत्तौच गोविनाशेपि ब्राह्मणैः ।
प्राप्ते युद्धे क्वचिन्नैव भवेदपि पराङ्मुखः ॥११३२॥

युद्धमुत्सृज्ययो याति सदेवै र्हन्यते भृशम् ।

स्त्री और ब्राह्मणों के साथ संघर्ष चल रहा हो, ऐसे समय पर युद्ध उपस्थित हो जावे, तो राजा को कभी इस युद्ध से टलना नहीं चाहिए। जो राजा ऐसे धर्म युद्धों को छोड़कर चला आता है। उसका देवता बिल्कुल विनाश कर देते हैं ॥१ ३२॥

समोत्तमाधमै राजात्वाहूतः पालयन्प्रजाः ॥११३३॥
ननिवर्तेत संग्रामात्क्षात्र धर्म मनुस्मरन् ।

प्रजा का पालन करना राजा का परम धर्म है। जब किसी राजा को कोई युद्ध के लिए ललकारे तो वह छोटा बड़ा या बराबर का कैसा ही क्यों न हो, अपने क्षात्र धर्म का स्मरण करके राजा को उससे भिड़ जाना चाहिए युद्ध से कभी पीछे नहीं हटना चाहिए॥ १३३॥

राजानं चापयोद्धारं ब्राह्मणांचा प्रवासिनम् ॥११३४॥
निगीलति भूमिरेतौ सर्पो बिलशयानिव ।

युद्ध से पीछे हटने वाले राजा और परदेश में नहीं जाने वाले ब्राह्मण को भूमि इस तरह निकल जाती है, जैसे सर्प बिल-शायी चूहों को निगल जाता है ॥११३४॥

ब्राह्मणस्यापि चापतौ क्षत्र धर्मेण वर्ततः ॥११३५॥
प्रशस्तं जीवितं लोके क्षत्रंहि ब्रह्म संभवम् ।

ब्राह्मण भी कठिनाई आने पर क्षत्रिय धर्म का आश्रय लेवे। इस तरह करना ही ब्राह्मण का सर्वश्रेष्ठ जीवन है। क्षत्रिय धर्म की तो उत्पत्ति ही ब्राह्मण धर्म से हुई है ॥११२५॥

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्या मरणं भवेत् ॥११३६॥
विसृजञ्श्लेष्म पित्तानि कृपणं परिदेवयन् ।

जो क्षत्रिय, कफ पित्त उगलता हुआ, हाय ! हाय ! चिल्लाता हुआ शय्या पर मरता है, यह उसके लिए महान् पाप माना गया है ॥११३६॥

अविक्षतेन देहेन प्रलयं योधि गच्छति ॥११३७॥
क्षत्रियो नास्यतत्कर्म प्रशंसंति पुराविदः ।

जो क्षत्रिय, शस्त्रों से अक्षत देह के सहित मृत्यु को प्राप्त होता है। विद्वान् मनुष्य, ऐसे क्षत्रिय के कर्म की प्रशंसा नहीं करते अर्थात् वह क्षत्रिय निन्दनीय होता है ॥११३७॥

नगृहे मरणं शस्तं क्षत्रियाणां विनारणात् ॥११३८॥
शौंडीराणाम शौंडीरमधर्मं कृपणंचयत् ।

क्षत्रियों को तो रण के सिवा घर में मरना श्रेयस्कर ही नहीं माना गया है। रणकुशल वीरों को रण में अकुशल कहलाना या कृपणता (हीनता) दिखाना बहुत ही अधर्म है ॥

रणेषु कदनं कृत्वा ज्ञातिभिः परिवारितः ॥१३९॥
शस्त्रास्त्रैः सुविनिर्भिन्नः क्षत्रियो वध मर्हति ।

रण में विध्वंस उड़ाकर अपने बन्धु बान्धवों से घिरा हुआ, शस्त्रास्त्रोंसे विक्षत क्षत्रिय को युद्ध भूमि में ही मरना चाहिए ॥

आहवेषु मिथोन्योन्यं जिघांसंतो महीक्षितः ॥११४०॥
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यांत्य पराङ्मुखाः ।

जो क्षत्रिय राजा युद्धों में परस्पर एक दूसरे को मारते हुए और पूरी शक्ति लगा कर युद्ध करते हुए मरजाते हैं, वे बिना रोक टोक के स्वर्ग में घुसे चले जाते हैं ॥११४०॥

भर्तुरर्थेचयः शूरो विक्रमेद्वाहिनी मुखे ॥११४१॥
भयान्नविनिवर्तेत तस्य स्वर्गोह्यनंतकः ।

जो शूरवीर अपने स्वामी के कार्य के लिए सेना के अग्रभाग में लड़कर मर जाता है और भय से नहीं लौटता-उसको अनन्त-काल के लिए स्वर्ग की प्राप्ति होती है ॥११४१॥

आहवे निहतं शूरं नशोचेत कदाचन ॥११४२॥
निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यः पूतोयाति सलोकताम् ।

जो शूरवीर युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुआ हो, उसकी कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। वह सब पापों से छुटकारा पाकर पवित्र हो जाता है। और उत्तम स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करता है ॥११४२॥

वराप्सरः सहस्राणि शूरमायो धने हतम् ॥११४३॥
त्वरमाणाः प्रधावंति मम भर्ता भवेदिति ।

जब शूरवीर मरकर जाता है, तो स्वर्गलोक में सहस्रों उत्तम उत्तम अपसरायें शीघ्रता से दौड़ती हैं, कि मैं इसको अपना पति बनाऊंगी ॥

मुनिभि दीर्घ तपसा प्राप्यते यत्पदं महत् ॥११४४॥
युद्धाभिमुख निहतैः शूरैस्तद्द्रागवाप्यते ।

मुनि लोग, बहुत लम्बे तप से जिस पद को पाते हैं। युद्ध में सन्मुख लड़कर मरते हुए शूरवीर, उनको शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं ॥११४४॥

एतत्तपश्च पुण्यंच धर्मश्चैव सनातनः ॥११४५॥
चत्वार आश्रमास्तस्य योयुद्धेन पलायते ।

यही तप और पुण्य है, यही सनातन धर्म है। यही चारों आश्रम हैं, जो युद्ध में पीछे नहीं हटना है ॥ ११४५॥

नहि शौर्यात्परं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥११४६॥
शूरः सर्वं पालयति शूरेसर्वं प्रतिष्ठितम् ।

शूरवीरता से अधिक श्रेष्ठ वस्तु त्रिलोकी में कुछ नहीं है। शूरवीर सबकी रक्षा कर सकता है और शूरवीर में ही सब कुछ स्थित है ॥११४६॥

चराणामचराअन्नं अदंष्ट्रा दंष्ट्रिणामपि ॥११४७॥
अपाणयः पाणिमतामन्नं शूरस्य कातराः ॥

चर जीवों के अचर भक्ष्य हैं। दांत वालों के बिना दांत वाले भोजन माने गए हैं। हाथ वालों के, हाथ हीन वश में हो जाते हैं तथा शूरवीर के, कायर दास होते हैं ॥११४७॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमंडल भेदिनौ ॥११४८॥
परिव्राड् योग युक्तोयो रणे चाभि मुखं हतः ।

दो पुरुष ही इस सूर्य मण्डल के भेदन करने वाले होते हैं, एक तो योग युक्त सन्यासी और दूसरा वही शूरवीर, जो रण में सन्मुख मृत्यु पाता है ॥११४८॥

आत्मानं गोपयेच्छक्तो वधेनाप्याततायिनः ॥
सुविद्यो ब्राह्मण गुरुर्युयुधे श्रुति दर्शनात् ।

जिस मनुष्य में शक्ति है, वह आततायी (दुष्ट) का वध करके अपनी रक्षा करे। बड़े विद्वान ब्राह्मणों के गुरू द्रोणाचार्य ने वेद की आज्ञा से ही युद्ध किया था ॥११४९॥

आततायित्व मापन्नो ब्राह्मणः शूद्रवत्स्मृतः ॥११५०॥
नाततायि वधे दोषो हंतुर्भवति कश्चन ।

यदि ब्राह्मण भी घातक आततायी होकर मारने आवे-तो उसे भी शूद्र ही समझना चाहिए। जो आततायी को मार देता है, उसके मारने का कोई दोष, मारने वाले को नहीं लगता, प्रत्युत पुण्य होता है ॥११५०॥

उद्यम्य शस्त्र मायातं भ्रूण मप्याततायिनम् ॥११५१॥
निहत्य भ्रूणहानस्या दहत्वा भ्रूणहा भवेत् ।

जो बालक भी शस्त्र उठाकर मारने आ रहा हो, तो उसे मार देना चाहिए। उसके मारने से भ्रूण हत्या नहीं होती, अपितु उसके नहीं मारने से भ्रूण हत्या का पाप लगता है ॥११५१॥

अपसर्पतियो युद्धाज्जीवितार्थी नराधमः ॥११५२॥
जीवन्नेव मृतः सोपि भुंक्ते राष्ट्र कृतं त्वघम् ।

जो नीच पुरुष, जीवन की अभिलाषा से युद्ध से पीछे हट जाता है, वह जीता ही मृतक है। वह सारे राष्ट्र के पाप का भोगने वाला होता है ॥११५२॥

मित्रंवा स्वामिनंत्यक्त्वा निर्गच्छतिरणाच्चयः ॥
सोंते नरक मायाति सजीवो निंद्यते ऽखिलैः ।

जो कायर, अपने मित्र या स्वामी को छोड़कर रण से बाहर चला जाता है, वह अन्त में नरक जाता है और जीवितावस्था में सब लोग उसकी निन्दा करते हैं ॥११५३॥

मित्रमापद्गतं दृष्ट्वा सहायंन करोतियः ॥११५४॥
अकीर्तिं लभते सोऽत्रमृतो नरक मृच्छति ।

जो कायर अपने मित्र को आपत्ति में देख कर सहायता नहीं करता है, वह अकीर्ति पाता है और मरकर नरक जाता है ॥

विस्रंभाच्छरणं प्राप्तं यः संत्यजति दुर्मतिः ॥११५५॥
सयाति नरके घोरे यावदिंद्राश्चतुर्दश ।

जो भयातुर विश्वास करके किसी की शरण में आया और वह दुर्मति, कायर, यदि उसका परित्याग कर देता है, वह चौदह इन्द्रों तक घोर नरक में वास करता है ॥११५५॥

सुदुर्वृत्तं यदाक्षत्रं नाशयेयुस्तु ब्राह्मणाः ॥११५६॥

युद्धं कृत्वापि शस्त्रास्त्रैं र्नतदा पाप भाजिनः ।

जिस दुराचारी क्षत्रिय का ब्राह्मण, युद्ध करके शस्त्रास्त्रों से विनाश कर दे-तो उनको इसका पाप नहीं होता है ॥११५६॥

हीनं यदा क्षत्रकुलं नीचै र्लोकः प्रपीड्यते ॥११५७॥

तदापि ब्राह्मणा युद्धे नाशयेयुस्तु तान्ध्रुवम् ।

जब क्षत्रिय वंश दुर्बल पड़ जावे, और दुष्ट लोग प्रजा को पीड़ा पहुंचाने लगें, तो ब्राह्मण मिलकर उन दुष्ट लुटेरों का वध करदें, यही उनका निश्चित धर्म है ॥११५७॥

उत्तमं मांत्रिकास्त्रेण नालिकास्त्रेण मध्यमम् ॥११५८

शस्त्रैः कनिष्ठयुद्धं तु बाहुयुद्धं ततोऽधमम् ।

मांत्रिक अस्त्रों का युद्ध उत्तम कहाता है, नालिक (तोप आदि) अस्त्रों का युद्ध मध्यम है। शस्त्रों द्वारा किया जाने वाला युद्ध कनिष्ठ युद्ध होता है और बाहुयुद्ध तो अधम युद्ध है ॥११५८॥

मंत्रेरित महाशक्ति बाणाद्यैः शत्रुनाशनम् ॥११५९॥

मांत्रिकास्त्रेण तद्युद्धं सर्वयुद्धोत्तमं स्मृतम् ।

मन्त्रों से प्रेरित करके महाशक्तिशाली बाण आदि का जो फेंकना या शत्रु का विनाश करना है, मांत्रिक युद्ध कहाता है, जो सर्वोत्तम युद्ध माना गया है ॥११५९॥

नालाग्नि चूर्ण संयोगाल्लक्षेगोल निपातनम् ॥११६०॥
नालिकास्त्रेण तद्युद्धं महाह्रासकरं रिपोः।

नालिक (बन्दूक-तोप) अस्त्र में अग्निचूर्ण (बारूद) भरकर जो लक्ष्य पर गोलिका मारता है, यह नालिकास्त्र युद्ध है, इससे भी शत्रु का बहुत बड़ा विध्वंस होता है ॥११६०॥

कुंतादि शस्त्र संघातै रिपूणां नाशनं चयत् ॥११६१॥
शस्त्रयुद्धं तुतज्ज्ञेयं नालास्त्राऽभावतः सदा।

कुन्त आदिक शस्त्र समूह से जो शत्रुओं का विनाश किया जाता है, वह शस्त्र युद्ध है। यह युद्ध तोप बन्दूक के अभाव में करना चाहिए ॥११६१॥

कर्षणैः संधि मर्माणां प्रति लोमानुलोमतः ॥११६२॥
बंधनै र्घातनं शत्रो र्युक्त्यातद्बाहु युद्धकम्।

उलट पलट रूप से शत्रुओं को खैंच खांचकर उसके सन्धि मर्मों को आघात पहुंचा कर जो शत्रु का युक्ति से बंधन या मारण है। वह बाहुयुद्ध कहाता है ॥११६२॥

नालास्त्राणि पुरस्कृत्य लघूनि च महांति च ॥११६३
तत्पृष्ठगांश्च पादातान् गजाश्वान्पार्श्वयोः स्थितान्
कृत्वा युद्धं प्रारभेतभिन्नामात्य बलारिणा ॥११६४॥

बड़े तोप आदि छोटे बन्दूक आदि नालिक अस्त्रों को आगे करके उनके पीछे पैदल सेना लगानी चाहिए और अगल बगल

में हाथी और अश्वों के सवार चलने उचित हैं। शत्रु की सेना और मन्त्रियों में फूट करवा कर इस तरह सेना का सञ्चालन करके विजयाभिलाषी को चढ़ाई करनी चाहिए ॥११६३-११६४॥

सांख्येन सुप्रपातेन पार्श्वाभ्याम पयानतः ।

युद्धानुकूल भूमेस्तु यावल्लाभस्तथा विधम् ॥

सांख्य (मोर्चेबन्दी) और प्रपात (हमले) तथा इधर उधर की भाग दौड़ के द्वारा युद्धानुकूल भूमि में तब तक युद्ध करे, जब तक विजय प्राप्त न हो जावे ॥११६४॥

सैन्यार्धांशेन प्रथमं सेनयो र्युद्ध मीरितम् ।

अमात्य गोपितैः पश्चादमात्यैः सह तद्भवेत् ॥११६६

नृप संगोपितैः पश्चात्स्वतः प्राणात्ययेच तत् ।

इस युद्ध में प्रथम सेना के अर्ध २ भागों का युद्ध होना चाहिए। इसके पश्चात् अमात्यों से सुरक्षित सेना के साथ शत्रु अमात्यों का युद्ध होना चाहिए। इसके बाद राजा से सुरक्षित सेना का युद्ध हो। जब राजा के प्राणों पर आ बने-तो पीछे राजा युद्ध करे ॥११६६॥

दीर्घाध्वनि परिश्रांतं क्षुत्पिपासा हित श्रमम् ॥

व्याधि दुर्भिक्ष मरकैः पीडितं दस्युबिद्रुतम् ।

पंक पांसु जलं स्कंध व्यस्तंवा सातुरं तथा ॥११६८

प्रसुप्तं भोजने व्यग्रम भूयिष्ठम संस्थितम् ।
घोराग्नि भय वित्रस्तं वृष्टि वात समाहतम् ॥११६९॥

एवमादिषु जातेषु व्यसनैश्च समाकुलम ।
स्वसैन्यं साधुरक्षेत्तु परसैन्यं विनाशयेत ॥११७०॥

लम्बे चौड़े मार्ग में चलने से थकी हुई, भूख प्यास से व्याकुल, व्याधि, दुर्भिक्ष, महामारी आदि से पीड़ित, दस्युओं से दबाई हुई, कीचड़ मिटी जल आदि से पीड़ित, बिखरी हुई या घबराई हुई, सोती हुई, भोजन में व्यग्र, थोड़ी संख्या में रही हुई, इधर उधर घूमती हुई इस प्रकार के व्यसनों में फंसी हुई शत्रु सेना के विजेता, राजा मार लेवे तथा अपनी सेना को इन झंझटों से बचाता रहे ॥११६७-११७०॥

उपायान्षड्गुणान्मंत्रं शत्रोः स्वस्यापि चिंतयेत् ।
धर्मयुद्धैः कूटयुद्धैं र्हन्यादेवरिपुं सदा ॥११७१॥

अपने शत्रु के सामादि उपाय, मन्त्र और सन्धि आदि गुणों की ओर दृष्टि देखे। धर्म युद्ध हो या कूट-युद्ध किसी भी तरह शत्रु को मार गिराना चाहिए ११७१॥

याने सपाद भृत्यातु स्वभृत्या वर्धयन्नृपः ।
स्वदेहं गोपयन युद्धे चर्मणा कवचेन च ॥११७२॥

राजा यान (चढ़ाई) के समय नौकरों (सिपाही) की तनख्वाह सवाई करदेवे। राजा या सेनापति युद्ध में अपनी रक्षा कवच और ढाल से अच्छी तरह करता रहे ॥११७२॥

पाययित्वा मदं सम्यक सैनिकाञ्छौर्यवर्धनम् ।
नालास्त्रेण च खड्गाद्यैः सैनिकैर्दारयेदरीन् ॥

राजा अपने सेनिकों को शौर्य वर्धक मदिरा अच्छी तरह पिलावे। इसके बाद बन्दूक आदि अस्त्र और खड्ग आदि शस्त्रों से सैनिकों द्वारा शत्रुओं को चिरवाकर फिकवा देवे ॥११७३॥

कुंतेन सादिं बाणेन रथिनं रथ गोपिच ।
गजो गजेन यातव्यस्तुरगेण तुरंगमः ।११७४॥

कुन्तधारी वीर घुड़सवार के सन्मुख पहुंच जावे। रथ की रक्षा करने वाले रथी के सन्मुख धनुष बाणधारी जावे। गजरोही गजारोही और अश्वारोही अश्वारोही के सन्मुख पहुंच कर युद्ध करे ॥११७४॥

रथेन चरथौ योज्यः पत्तिना पत्तिरेवच ।
एकेनैकश्च शस्त्रेण शस्त्र मस्त्रेण वास्त्रकम् ॥११७५॥

इसी तरह रथी की टक्कर रथी से और पैदल की पैदल से लड़ाई होनी चाहिए। एक शस्त्रधारी से एक वीर और एक अस्त्रधारी से एक अस्त्रधारी वीर लड़े यही धर्मयुद्ध है ॥११७५॥

नचहन्यात्स्थला रूढंनक्लीबंन कृतांजलिम् ।
नमुक्त केश मासीनं नत वास्मीति वादिनम् ॥

जो वीर अपने वाहन के नष्ट हो जाने पर भूमि में स्थित होगया हो, जो दीनता कर रहा हो, हाथ जोड़ रहा हो, जिसके

बाल खुल गए हों, जो चुपचाप बैठगया हो और मै तो तुम्हारा दास हूं, इस तरह कह रहा हो, उसका बध नहीं करना चाहिए ॥

नसुसन्नं विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नयुध्यमानं पश्यंतं युध्यमानं परेणाच ॥११७७॥

अत्यन्त थके हुए, कवचहीन नग्न शस्त्र-रहित, युद्ध से उदासीन, दर्शक, अन्य के साथ युद्ध कर रहा हो ऐसे वीर को भी नहीं मारना चाहिए ॥११८७॥

पिबंतं नच भुंजानमन्य कार्या कुलंचन ।
नभीतं न परावृत्तं सतांधर्म मनुस्मरन् ॥११७८॥

जो कुछ खा भी रहा हो तथा अन्य कार्य में असक्त हो, भयातुर, युद्ध से पराङ्मुख, मनुष्य को शूरवीर न मारे। इसी तरह सज्जनों के मार्ग की रक्षा होती है ॥११७८॥

वृद्धोबालोन हंतव्यो नैवस्त्री केवलो नृपः ।
यथायोग्यंहिसंयोज्यनिघ्नन्धर्मोन हीयते ॥११७९॥

वृद्ध और बालक को भी नहीं मारना चाहिए। न स्त्री और न अकेले राजा पर हाथ छोड़ना उचित है। यथायोग्य शस्त्र आदि से सुसज्जित करके युद्ध धर्मानुसार किसी के मार देने पर धर्म का नाश नहीं होता है ॥११७९॥

धर्मयुद्धे तु कूटेवैनसंति नियमा अमी ।
न युद्धं कूट सदृशं नाशनं बलवद्रिपोः ॥११८०॥

ये सारे नियम धर्म युद्ध के बताए गए हैं, कूट युद्ध इन नियमों का पता नहीं लगता है, बलवान् शत्रु के विनाश का उपाय कूट युद्ध से अधिक कोई उत्तम नहीं है ॥११८०॥

रामकृष्णेंद्रादि देवैः कूटमेवादृतं पुरा ।

कूटेन निहतो वालिर्यवनो नमुचिस्तथा ॥११८१॥

पूर्वकाल में ऐसे समयों पर राम, कृष्ण और इन्द्रादि देवों ने कूट युद्ध का ही अवलम्बन किया है। कूट युद्ध से ही बालि-काल यवन और नमुचि दैत्य मारा गया था ॥११८१॥

प्रफुल्लवदने नैव तथा कोमलया गिरा ।

क्षुर धारेण मनसा रिपोश्छिद्रं सुलक्षयेत् ॥११८२।

प्रसन्नमुख बनाकर और कोमल वाणी बोलकर तथा मन को छुरे की धार के समान तीक्ष्ण करके शत्रु को मार लेने के मर्म स्थानों को ओर देखता रहे ॥११८२॥

मंचासीनः शतानीकः सेना कार्यं विचिंतयन् ।

सदैव व्यूह संकेत वाद्यशब्दांत वर्तिनः ॥११८३॥

सैकड़ों सेना का अधिपति राजा, किसी ऊंचे मंच पर बैठ कर अपनी सेना के कार्य को सोचता रहे और बाजों के संकेतों से नियत किए व्यूह बनाने के उपायों को करता रहे ॥११८३॥

संचरेयुः सैनिकाश्च राजराष्ट्र हितैषिणः ।

भेदितां शत्रुणादृष्ट्वास्वसेनांयातयेच्चताम् ।११८४॥

राजा और प्रजा के हित की अभिलाषा में तत्पर सैनिक रणस्थल में इधर उधर घूमे। यदि शत्रु ने अपनी सेना में फूट डलवादी या युद्ध द्वारा उसका कोई भाग भंग कर दिया-तो राजा उसको देखकर प्रयत्न पूर्वक उसकी रक्षा करे ॥११८४॥

प्रत्यग्रे कर्मणि कृतेयोधैर्दद्याद्धनं चतान् ।
पारितोष्यं वाधिकारं क्रमेतार्हं नृपः सदा ॥११८५॥

जिस योधा ने आगे बढ़कर वीर कर्म कर दिखाया है, उसको दान से सन्तुष्ट करे। ऐसे योग्य वीर को कोई पारितोषिक (इनाम) और अधिकार यथायोग्य देना चहिए ॥११८५॥

जलान्न तृण संरोधैः शत्रून्सं पीड्ययत्नतः ।
पुरस्ताद्विष मेदेशे पश्चाद्धन्यात्तु वेगवान् ॥११८६॥

जल, अन्न, और शत्रु के तृण आदि पर घेरा डालकर बड़े प्रयत्न के साथ शत्रु को पीड़ा पहुंचावे। वेगशाली राजा विषम प्रदेश में पहुंचे हुए शत्रु को आगे पीछे से घेर कर मार लेवे ॥

कूट स्वर्ण महादानै र्भेदयित्वा द्विषद्बलम् ।
नित्य विस्रं भर्सं सुप्तं प्रजागरकृतश्रमम् ॥११८७॥
विलोभ्यापि परानीकम प्रमत्तो विनाशयेत् ।
तत्सहाय बलं नैवव्यसनाप्तमपि क्वचित् ॥११८८॥

बनावटी सुवर्ण के दान से शत्रु की सेना को तोड़ लेवे। शत्रु सेना जब विश्वास में आकर निश्चेष्ट हो जावे और जागने

के श्रम से व्याप्त हो, तब शत्रु सेना को लोभ देकर बड़ी सात्र-घाती से विजेता राजा उसका नाश कर देवे। यदि शत्रु की सहायक सेना संकट में भी फंस जावे, तो भी उसको न मारे, क्योंकि वह तो शीघ्र अपनी ओर मिलाई जा सकती है॥

स्वसमीपतरं राज्यं नान्यस्माद्ग्राहयेत्क्वचित् ।
क्षणं युद्धाय सज्येतक्षणं चापसरेत्पुनः ॥११८६॥

अकस्मान्निपतेद्दूराद्दस्यु वत्परितः सदा ।
रूप्यं हेमच कूप्यं च योयज्जयति तस्यतत् ॥११९०॥

अपने समीप पड़े राज्य को कभी शत्रु राजा के हाथ में न आने देवे। राजा क्षणभर में युद्ध के लिए तय्यार हो जावेऔर क्षणभर में युद्ध से पीछे हट जावे। ऐसी चेष्टा दिखावे। कभी शत्रु सेना पर डाकुओं की तरह किसी भी मार्ग से छापा मार देवे। चांदी, सोना और अन्य वस्तुएँ जिसने जीतलीं, वे उसकी ही हो जाती हैं

दद्यात्कार्यानुरूपं च हृष्टो योधान्प्रहर्षयन् ।
विजित्यैव रिपूनेवं समादद्यात्करं तथा ॥११९१॥

राज्यांशंवा सर्व राज्यं नंदयीततः प्रजाः ।
तूर्यं मंगल घोषेणस्वकीयं पुरमाविशेत् ॥११९२॥

विजय के अनन्तर प्रसन्न हुआ राजा, अपने योधाओं को प्रसन्न करता हुआ, उनके वीर कर्म के अनुसार उनको पुरस्कार देवे। विजिगीषु राजा, इस प्रकार शत्रुओं को जीतकर उनसे

कर ग्रहण करता रहे। यदि उचित हो तो शत्रु के राज्य का कोई भाग उससे छीना जा सकता है, या उसके सारे राज्य का अपहरण किया जा सकता है। इसके पीछे शत्रु राज्य की प्रजा को आनन्दित करने के उपाय करे। विजय के अनन्तर तूर्य आदि बाजों के मङ्गलीक शब्दोंसे अपने प्रदेश में प्रवेश करे॥११६१-११६२

तत्प्रजाः पुत्रवत्सर्वाः पालयीतात्मसात्कृताः
नियोजयेन्मंत्रिगणम परं मंत्र चिंतने ॥११६३।

शत्रु की प्रजा को अपने अधीन करके उस सारी प्रजा को पुत्र की तरह पालता रहे। वहां मन्त्र चिन्तन में प्राचीन मन्त्रिमण्डल को हटाकर अन्य मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति कर देवे॥

देशे कालेच पात्रेच ह्यादि मध्याव सानतः।
भवेन्मंत्र फलंकीदृगुपायेन कथंत्विति ॥११६४॥

देश, काल और पात्र की योग्यता से आदि मध्य और अन्त में किस उपाय से मन्त्र की कैसे सिद्धि होगी—यह भी राजा विचारे॥११६४॥

मंत्र्याद्यधिकृतः कार्यं युवराजाय बोधयेत्।
पश्चाद्राज्ञेतुतैः साकं युवराजो निवेदयेत् ॥११६५॥

मन्त्री आदि अधिकारी जन, अपने २ कामों की रिपोर्ट युवराज को देवें। उन मन्त्रियों को साथ लेकर युवराज, उनके काम की सूचना राजा को देवे॥११६५॥

राजा संशासयेदादौ युवराजं ततस्तुसः ।
युवराजो मंत्रिगणान्राजाग्रे तेधिकारिणः ॥११९६॥

राजा अपनी आज्ञा युवराज को सुनावे। युवराज मन्त्रियों को उसकी सूचना देवे। मन्त्री लोग, राजा की उपस्थिति में ही उस शासन को अधिकारी जनों को सुना देवें ॥११९६॥

सद सत्कर्म राजानं बोधयेद्धि पुरोहितः ।
ग्रामाद्बहिः समीपेतु सैनिकान्धार येत्सदा ॥११९७॥

पुरोहित राजा को अच्छे बुरे कर्म का बोध करावे अर्थात् राजा ने यह काम अच्छा किया है या इसका फल बुरा उत्पन्न होगा—इसका ज्ञान करा देवे। गांव के बाहर समीप में ही, राजा अपने सैनिकों की छावनी डलवा देवे ॥११९७॥

ग्राम्य सैनिकयो र्नस्यादुत्त मर्णाध मर्णता ।
सैनिकार्थं तु पण्यानि सैन्ये संधारयेत्पृथक् ॥११९८

गांव के निवासी और सैनिकों का परस्पर लेन देन नहीं होना चाहिए। सैनिकों की आवश्यकता के लिए सेना में ही पृथक् बाजार लगवा देना चाहिए ॥११९८॥

नैकत्र वासयेत्सैन्यं वत्सरंतु कदाचन ।
सेना सहस्रं सज्जंस्यात्क्षणात्सं शासयेत्तथा ॥११९९

एक वर्ष से अधिक एक सेना को एक स्थान पर न रहने देवे। सहस्रों की संख्या में एक क्षण में ही सुसज्जित हो जावे, इस प्रकार की सेना को सुशिक्षा दी हुई होनी चाहिए ॥११९९॥

संशासयेत्स्व नियमान्सैनिकानष्ट मेदिने।
चंडत्वमाततायित्वं राज कार्ये विलंबनम् ॥१२००॥
अनिष्टो पेक्षणं राज्ञः स्वधर्म परिवर्जनम् ।
त्यजंतु सैनिका नित्यं संल्लापम पिवापरैः ॥१२०१॥

आठवें दिन सैनिकों को उनके नियमों की शिक्षा देते रहना चाहिए। कोप करना, घातक बनना, राजा के काम में बिलम्ब करना, राजा के अनिष्ट की उपेक्षा करना, अपने धर्म को त्याग देना—इन बातों का सैनिक सर्वदा त्याग कर देवे। इसी तरह शत्रु सेना के लोग या अन्य जनों से सैनिक बात चीत न करे ॥१२००-१२०१॥

नृपाज्ञया विना ग्रामं न विशेयुः कदाचन ।
स्वाधिकारि गणस्यापिह्यपराधं दिशंतुन ॥१२०२॥

राजा की आज्ञा के बिना कभी गांव में प्रवेश न करे तथा अपने अधिकारी गण के अपराधों की कभी चर्चा न करे ॥१२०२

मित्रभावेन वर्तध्वं स्वामि कृत्येसदा ऽखिलाः ।
सूज्ज्वलानिचरक्षंतु शस्त्रास्त्र वसनानि च ॥१२०३॥

सब लोग, स्वामि के कार्य में मित्र बनकर कार्य करें, चाहे परस्पर सैनिकों में कुछ वैमनस्य भी क्यों न होवे। सैनिक लोग, अपने अस्त्र शस्त्र और वस्त्रों को सर्वदा उज्जवल रखें ॥१२०३॥

अन्नंजलं प्रस्थमात्रं पात्रं बह्वन्न साधकम् ।
शासना दन्यथा चारान्विनेष्यामिय मालयम् ॥१२०४

अन्न और जल का सेरभर का पात्र सैनिकों को देवे या जिसमें बहुत अन्न आजावे, ऐसा पात्र उनके पास होवे। जो मेरी आज्ञा को नहीं मानेगा, उनको मारकर यमराज के यहां पहुंचा दिया जावेगा ॥१२०४॥

भेदयित्वा रिपुधनं गृहीत्वा दर्शयंतुमां ।
सैनिकै रभ्य सेन्नित्यं व्यूहाद्यनु कृतिं नृपः ॥१२०५॥

शत्रु का भेदन करके शत्रु के धन का ग्रहण करो और मुझे दिखाओ-ऐसा राजा, कथन करे। राजा सैनिकों के साथ नित्य व्यूह आदि रचना का अभ्यास करता रहे ॥१२०५॥

तथाऽयनेयने लच्यमस्त्रपातैर्विभेदयेत् ।
सायं प्रातः सैनिकानां कुर्यात्संगणनं नृपः ॥१२०६॥

स्थान २ पर लच्य बनावे और अस्त्र छोड़ कर उनका भेदन करे। राजा, सायंकाल और प्रातःकाल अपने सैनिकों की गणना किया करे ॥१२०६॥

जात्या कृतिवयो देश ग्राम वासान्वि मृश्यच ।
कालं भृत्यवधिं देयं दत्तं भृत्यस्य लेखयेत् ॥१२०७॥

भृत्य (सिपाही) की जाति, आकृति, अवस्था, देश, ग्रामवास, नौकरी का समय, मासिक या वार्षिक भृति देने योग्य, या दी हुई, भृति (वृत्ति) का राजा अपने पास लिख रखे ॥१२०७॥

कतिदत्तंहि भृत्येभ्यो वेतने पारितोषिकम् ।
तत्प्राप्ति पत्रं गृह्णीयाद्दद्याद्वेतन पत्रकम् ॥१२०८॥

वेतन के, अन्तर्गत सेवक को कितने पारितोषिक मिले—यह भी लिखे। पारितोषिक मिलने की चिट्ठी उससे लेकर उसके पारितोषिक चुकाने की रसीद उसे बना देवे ॥१२०८॥

सैनिकाः शिक्षितायेयेतेषु पूर्णाभृतिः स्मृता ।
व्यूहाभ्यासे नियुक्तायेतेष्वर्धां भृतिमावहेत् ॥१२०९॥

जिन सैनिकों की शिक्षा पूर्ण हो चुकी, उनको पूरी भृत्ति (तनख्वाह) मिलनी चाहिए। जो सैनिक, व्यूह निर्माण के अभ्यास में नियुक्त हैं, उनको आधी वृत्ति मिलनी चाहिए ॥१२०९॥

असत्कर्त्राश्रितं सैन्यं नाशयेच्छत्रुयोगतः ।
नृपस्या सद्गुणरताः के गुणद्वेषिणोनराः १२१०॥
असद्गुणोदासीनाः केहन्यात्तान्वि मृशन्नृपः ।
सुखा सक्तांस्त्यजेद्भृत्यान्गुणिनोपिनृपः सदा ॥

शत्रु से मिलकर कौन सेना असत्कर्म में प्रवृत्त हो रही है, इसका पता लगाकर उसका नाश करे। कौन मनुष्य, राजा के असद् गुणों की प्रवृत्ति में तत्पर है और कौन राजा के गुणों में द्वेष करता है। राजा के असद्गुणों में प्रवृत्त होने पर कौन उदासीन बैठा रहता है, इन सबकी पड़ताल करके, उनको मरवा डाले। सुखासक्त (ऐय्याश) गुणवान् सेवकों का भी राजा परित्याग करदे ॥१२१०-१२११॥

सुस्वांत लोक विश्वस्ता योज्यास्त्वंतः पुरादिषु ।
धार्याः सुस्वांत विश्वस्ताधनादि व्यय कर्मणि ॥१२१२

जिनको राजा ने स्वयं जांच लिया हो, उनही विश्वासी लोगों को अन्तःपुर (रनिवास) कार्य में नियुक्त करे । इसी तरह धन आदि के व्यय कर्म में भी अपने अनुभव में आए हुए विश्वासी भृत्यों को नियुक्त करे ॥१२१२॥

तथाहि लोको विश्वस्तो बाह्यकृत्ये नियुज्यते ।
अन्यथा योजितास्ततु परिवादाय केवलम् ॥१२१३॥

जिन मनुष्यों पर अच्छी तरह विश्वास जम गया है । उनको ही राज्य के बाहरी कामों में भी लगावे । यदि अविश्वासी लोगों को राज्य के काम पर लगाया जावेगा—तो केवल-निन्दा ही होगी ॥१२१३॥

शत्रु संबंधिनो ये ये भिन्ना मंत्रिगणादयः ।
नृपदुर्गुणतो नित्यं हृतमाना गुणाधिकाः ॥१२१४॥

जिन मन्त्रि गणों का शत्रु से सम्बन्ध हो गया है, इससे भेद को प्राप्त हो गए, राजा अपने कठोर चित्त से उन गुणशाली भृत्यों के मान का भी अपहरण करले अर्थात् उनको अधिकार से हटादे ॥१२१४॥

स्वकार्य साधकायेतु सुभृत्या पोषयेच्चतान् ।
लोभेना सेवनाद्भिन्नास्तेष्वर्धां भृतिमावहेत् ॥१२१५

अपने कार्य के साधक, जो भी भृत्य हों—उनको अच्छी तरह पुष्ट करे। जो लोभपरायण होकर सेवा में आनाकानी करते हों—उनकी आधी भृत्ति (तनख्वाह) कर देनी चाहिए ॥१२१५॥

शत्रुत्यक्तान्सुगुणिनः सुभृत्यान्पालयेन्नृपः ।

परराष्ट्रेहृते दद्याद्भृतिं भिन्नावधि तथा ॥१२१६॥

जिन गुणवान् सेवकों को शत्रु ने निकाल दिया हो, उनको राजा दान मान के साथ अपने पास रखे। जब शत्रु का राष्ट्र जीत लिया जावे, तो उनको बिना काल की अवधि के कोई जागीर दे देवे ॥१२१६॥

दद्यादर्धांतस्य पुत्रेस्त्रियै पाद मितांकिल ।

हृतराज्यस्य पुत्रादौ सद्गुणे पाद संमितम् ॥१२१७॥

उन शत्रु भृत्यों के नष्ट होने पर उनके पुत्रों को आधी भृति और स्त्रियों को चौथाई भृति (वृत्ति) देनी उचित है। जिस राजा का राज्य छीना है, उसके यदि पुत्र उत्तम रीति से सहयोगी होकर रहें–तो उनको एक चौथाई भाग का स्वामी बना देवे ॥

दद्याद्वातद्राज्य तस्तुद्वात्रिंशांशं प्रकल्पयेत् ।

हृतराज्यस्य निचितं कोशं भोगार्थ माहरेत् ॥१२१८॥

यदि पुत्र की अभी परीक्षा नहीं की गई–तो उसे राज्य का बत्तीसवां भाग देवे और उसके सञ्चित कोष को अपने काम में लेने को लदवा लेवे ॥१२१८॥

कौसीदं वातद्धनस्य पूर्वोक्ताधं प्रकल्पयेत् ।
तद्धनं द्विगुणं यावन्नत दूर्ध्वं कदाचन ॥१२१६॥

पूर्वोक्त कोश के धन के आधे धन का व्याज पूर्व राजा के पुत्र को तब तक दिया जावे, जब तक मूल धन से दुगुनी रकम पहुंचे। इससे अधिक नहीं देना चाहिए ॥१२१६॥

स्वमहत्त्वद्योतनार्थं हृतराज्यान्प्रधारयेत् ।
प्राङ्मानैर्यदि सद्वृत्तान्दुर्वृत्तांस्तु प्रपीडयेत् ॥१२२०॥

अपने गौरव प्रदर्शन करने के निमित्त जिनका राज्य छीना है, उनको भी कुछ वृत्ति देकर अपने साथ रखे। यदि वे लोग, ढंग से चलें—तो उनको फिर उनके राज्य पर बैठा दे और जो कूट चाल चलें, तो उनको कैदखाने में डालकर पीड़ा पहुंचावे ॥

अष्टधादश धावापिकुर्यात् द्वादशधापिवा ।
यामिकार्थ महोरात्रं यामिकान्वीक्ष्यनान्यथा ॥१२२१

आठ, दस, या बारह पहरेदार रात दिन में एक स्थान पर पहरा देने के लिए नियत किए जावें, इन यामिकों को अच्छी तरह पड़ताल लेवे, बिना पड़ताले कभी न रखे ॥१२२१॥

आदौ प्रकल्पितानंशान्भजेयुर्यामिकास्तथा ।
आद्यः पुनस्त्वंतिमांशः स्वपूर्वांशं ततोपरे ॥१२२२॥

यामिक (पहरेदार) भी अपने २ नियत किए हुए काल के भागों को ठीक २ पूरा करें। जो सबसे पूर्व के पहर में पहरे पर

लगाया गया है, वही फिर अन्तिम अंश पर लगाया जावे तथा अपने पूर्व अंश को अन्य पूरा करे अर्थात् इस तरह पहरों को को बांटे, जिससे किसी को भी क्लेश न होवे ॥१२२२॥

पुनर्वा योजयेत्तद्वदाद्यं त्यं चांति मेततः ।
स्वपूर्वांशं द्वितीयेह्नि द्वितीयादिः क्रमागतम् ॥१२२३

इसी तरह आदिम–अन्तिम भाग का निश्चय करके पहरा बदल लेवें । दूसरे दिन वह अपने पूर्व भाग पर आवे, जो अन्तिम भाग पर था और जो पूर्व पर था, वह अन्त में चला जावे ॥१२२३

चतुर्भ्यस्त्वधिकान्नित्यं यामिकान्यो जयेद्दिने ।
युगपद्योजयेद्दृष्ट्वा बहून्वाकार्य गौरवम् ॥१२२४॥

एक दिन में चार से अधिक पहरेदार एक स्थान पर लगने चाहिए। किसी कार्य का गौरव देखकर उसपर एकदम अनेक यामिक नियुक्त किए जा सकते हैं ॥१२२४॥

चतुरूनान्यामिकांस्तु कदानैव नियोजयेत् ।
यद्रक्ष्य मुपदेश्यं यदादेश्यं यामिकाय तत् ॥१२२५॥

किसी भी काम में एक दिन में चार से कम एक स्थान पर यामिक नियुक्त न किए जावें, जिसकी रक्षा करनी है, या जो कहने योग्य है—उस बात की यामिक को अवश्य सूचना दे देवे ॥१२२५

तत्समक्षं हि सर्वं स्याद्यामिकोपि च तत्तथा ।
कील कोष्ठेतु स्वर्णादि रक्षेन्नियमितावधि ॥१२२६॥

जो ताला आदि लगाया जावे, वह सब यामिकों के सन्मुख ही होना चाहिए। यामिक भी उसकी पड़ताल कर लेवे। जिस कोठे में कील ताला सांकल आदि लगी हो, उसमें सुवर्ण आदि की नियमानुसार रक्षा की जावे ॥१२२६॥

स्वांशांते दर्शयेदन्ययामिकं तु यथार्थकम्।
क्षणे क्षणे यामिकानां कार्यं दूरात्सु बोधनम् ॥१२२७

जब एक यामिक पहरा बदले, तो उस ताले कोठे के किवाड़ों को दूसरे पहरेदार को अच्छी तरह सम्हलवा देवे। क्षण २ भर में आवाज लगाकर यामिकों को उनके कार्य का बोधन अच्छी तरह करवाते रहना चाहिए ॥१२२७॥

सत्कृतान्नियमान् सर्वान् यदा संपालयेन्नृपः।
तदैव नृपतिः पूज्यो भवेत्सर्वेषु नान्यथा ॥१२२८॥

जब राजा, अपने नियत किए हुए नियमों का पालन करता है। तभी राजा भी पूज्य होता है। अपने नियमों में आलस्य करने से राजा का गौरव नहीं है ॥१२२८॥

यस्यास्ति नियतं कर्म नियतः सद्ग्रहोयदि।
नियतोऽसद् ग्रहत्यागो नृपत्वं सोश्नुतेचिरम् ॥

जिस राजा का कार्य नियम पूर्वक होता है, जिसका आग्रह भी उत्तम है। असद्वस्तु के त्याग में भी जो नित्य उद्यत रहता है, वही राजा बहुत काल तक राज्य भोग सकता है ॥१२२९॥

यस्या नियमितं कर्म साधुत्वं वचनं त्वपि ।
सदैव कुटिलः सस्तुस्त्रपदाद्राग्विनश्यति ॥१२३०॥

जिस राजा के काम नियमपूर्वक नहीं होते–वह बोलने में कितना भी अच्छा क्यों न हो, उसके काम उलटे ही होंगे। ऐसा राजा शीघ्र ही अपने पद से नष्ट हो जाता है ॥१२३०॥

नापि व्याघ्रागजाः शक्ता मृगेंद्रं शासितुं यथा ।
न तथा मंत्रिणः सर्वे नृपं स्वच्छंद गामिनम् ॥

जिस तरह मृगराज के शासन करने में बघेरे और हाथी समर्थ नहीं होते–उसी तरह स्वच्छन्द उन्मार्ग में चलने वाले राजा को कोई मन्त्री आदि नहीं रोक सकता है ॥१२३१॥

निभृताधि कृतास्तेन निःसारत्वंहितेष्वतः ।
गजोनिबध्यते नैवतूल भार सहस्रकैः ॥१२३२॥

उन मन्त्री आदि का तो राजा ने पालन पोषण किया है और उसीने उन्हें अधिकार पर लगाया तब इन मन्त्री आदि से राजा इस तरह नहीं बाँधा जा सकता, जैसे रुई के बहुत से पृथक् २ तारों से हाथी नहीं बाँधा सकता है ॥१२३२॥

उद्धर्तुं द्राग्गजः शक्तः पंकलग्नं गजंबली ।
नीति भ्रष्टनृपं त्वन्ये नृप उद्धारणक्षमः ॥१२३३॥

बलवान् हाथी ही कीचड़ में फंसे हुये हाथी के खैंच लाने में समर्थ होता है नीति भ्रष्ट राजा के उद्धार करने में भी अन्य राजा ही समर्थ हो सकता है ॥१२३३॥

बलवन्नृपभृत्येऽल्पेऽपि श्रीस्तेजोयथा भवेत् ।

तथानहीन नृपतौ तन्मंत्रिष्व पिनो तथा ॥१२३४॥

बलबान राजा के छोटे से भृत्य में भी जो कान्ति और तेज होता है, वह दुर्बल राजा और उसके मन्त्रियों में भी नहीं हो सकता है ॥१२३४॥

बहूनामैकमत्यं हि नृपतेर्बलवत्तरम् ।

बहुसूत्र कृतोरज्जुः सिंहाद्याकर्षणक्षमः ॥१२३५॥

बहुत से मन्त्री आदि की एकता ही राजा के बलवान् होने का कारण है। बहुत से सूत्रों से बटकर बनाई हुई रस्सी ही सिंह आदि के बांधने में समर्थ हो सकती है ॥१२३५॥

हीनराज्यो रिपोर्भृत्योन सैन्यं धारयेद्बहु ।

कोशवृद्धिं सदा कुर्यात्स्वपुत्राद्यभिवृद्धये ॥१२३६॥

जिसका राज्य छिन गया हो और जो शत्रु की सेवा करता हो, वह राजा अधिक सेना न रखे। वह राजा तो अपने पुत्र आदि की वृद्धि के ध्यान से गुप चुप कोश की वृद्धि करता रहे ॥

क्षुधया निद्रया सर्वमशनं शयनं शुभम् ।

भवेद्यथा तथा कुर्यादन्यथा शुदरिद्रकृत् ॥१२३७॥

दिशानया व्ययं कुर्यान्नृपो नित्यं न चान्यथा ।

जब राजा को भूख लगे, तब भोजन और जब नींद आवे तब उसे सो जाना चाहिए, यदि वह ऐसा नहीं करेगा—तो उसको

शीघ्र दरिद्र प्राप्त हो जावेगा। दरिद्री न हो सके, इसी दृष्टि को देखकर राजा नित्य व्यय करता रहे। अधिक व्यय कदापि न करे ॥१२३७॥

धर्मनीति विहीनाये दुर्बला अपि वैनृपाः ॥१२३८॥
सुधर्मबल युग्राज्ञा दंड्यास्ते चौरवत्सदा।

जो राजा, धर्म नीति से विहीन हैं, उनको निर्बल ही समझना चाहिए। धर्म और नीति के बल से सम्पन्न राजा उनको चोर की तरह दण्ड दे सकता है ॥१२३८॥

सर्वधर्मा वनान्नीच नृपोपि श्रेष्ठतामियात् ॥१२३९॥
उत्तमोपि नृपोधर्म नाशनान्नीच तामियात्।

जो राजा प्रजा के सारे धर्मों की रक्षा करता रहता है, वह नीच राजा भी श्रेष्ठ हो जाता है। जो राजा अन्य के धर्मों का नाश करता है, वह उत्तम होकर भी नीच हो जाता है ॥१२३९॥

धर्माधर्म प्रवृत्तौतु नृपएवहि कारणम् ॥१२४०॥
सहिश्रेष्ठतमोलोके नृपत्वंयः समाप्नुयात्।

धर्म और अधर्म की प्रवृत्ति में राजा ही कारण है। जो-मनुष्य, जगत में राजा बन जाता है, वह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है यह सब जानते हैं ॥१२४०॥

मन्वाद्यै राद्दतो योर्थस्तदर्थो भार्गवेणवै ॥१२४१॥
द्वाविंशति शतं श्लोका नीति सारे प्रकीर्तिताः।

जिन राज धर्मों का मनु आदि ने वर्णन किया है उनका ही शुक्राचार्य ने प्रचार किया है। इन्होंने नीति के सारभूत बाईस सौ श्लोक कहे हैं ॥१२४१॥

शुक्रोक्त नीति सारं यश्चिंतयेदनिशं नृपः ॥१२४२॥
व्यवहार धुरं वोढुं सशक्तो नृपतिर्भवेत् ।

जो राजा इस शुक्राचार्य प्रणीत नीति शास्त्र का मनन सर्वदा करेगा, वह राजा अपने राज्य की धुर के वहन करने में अच्छी तरह समर्थ हो सकेगा ॥१२४८॥

नकवेः सदृशी नीतिस्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥१२४३॥
काव्यैव नीतिरन्यातु कुनीतिर्व्यवहारिणाम् ।

शुक्राचार्य के बराबर कोई नीति शास्त्री, तीनों लोक में नहीं है। संसार के व्यवहार के चलाने वाले राजाओं को शुक्रनीति का ही आदर करना चाहिए—अन्य नीति तो बिल्कुल अधूरी और अपूर्ण है ॥१२४३॥

नाश्रयंतिच ये नीतिंमंदभाग्यास्तुते नृपाः ॥१२४४॥
कातर्याद्धन लोभाद्वास्युर्वै नरक भाजनाः ।

जो राजा इस नीति शास्त्र का आश्रय कायरता या धन के लोभ से नहीं करते—वे मन्द भाग्य वाले हैं। वे मरकर अन्त में नरक गामी होते हैं-अथवा इसी लोक में दुःख भोगते हैं।

इति शुक्रनीतौ चतुर्थं मिश्र प्रकरणं समाप्तम् ॥१२४५

इस प्रकार शुक्रनीति का चौथा प्रकरण समाप्त होता है ॥११५५॥

अथनीति विशेष प्रकरणम्

नीति शेषंखिले वक्ष्येह्यखिले शास्त्र संमतम् ।
सप्तांगानां तुराज्यस्यहितं सर्वजनेषुवै ॥१२४६॥

इसके अनन्तर सारे शास्त्रों को अभिमत सारी शेषनीति का वर्णन किया जाता है। इसके अध्ययन से राज्य के सातों अङ्ग और सब जनों का हित सम्पादित होता है ॥१२४६॥

शतसंवत्सरांतेपि करिष्याम्यात्म साद्रिपुम् ।
इति संचित्य मनसा रिपोश्छिद्राणि लक्षयेत ॥१२४७

विजिगीषु राजा, यही सोचता रहे कि सौ वर्ष के अनन्तर भी मैं किसी न किसी दिन शत्रु को वश में कर लूंगा—ऐसा सोचकर वह अपने मन में शत्रु के छिद्र (कमियों) को सर्वदा देखता रहे ॥१२४७॥

राष्ट्र भृत्य विशंकीस्याद्गीत मंत्र बलोरिपुः ।
युक्त्या तथा प्रकुर्वीत सुमंत्रबल युक्स्वयम् ॥१२४८

राजा अपने मन्त्र और सेना को सुगुप्त रखकर शत्रु को मंत्र

और सेनाबल से हीन करदे तथा सारा राष्ट्र और अमात्य-आदि सेवक गण उस शत्रु राजा पर सन्देह करने लगें ॥१२४८॥

सेवया वावणिग्वृत्त्यारि पुराष्ट्रं विसृश्यच ।
दत्ताभयं सावधानो व्यसना सक्तचेतसम् ॥१२४६॥
मार्जारं लुब्धक इवसंतिष्ठन्नाशये दरिम् ।
सेनां युद्धे नियुंजीत प्रत्यनी कविनाशिनीम् ॥१२५०॥

सेवा से या वैश्य वृत्ति (व्यापार) से शत्रु के राष्ट्र में राजा अपने गुप्तचर भेजे । इस तरह राजा सावधान होकर , व्यसनी शत्रु को अभयदान देवे । इस प्रकार प्रच्छन्न आकार से स्थित हुआ राजा शिकार को शिकारी की तरह अपने शत्रु को मारले तथा अपनी सेना को ऐसे मौके पर नियुक्त करे, जिससे शत्रु की सेना विनष्ट होजावे ॥१२४६-१२५०॥

नयुंज्याद्रि पुराष्ट्रस्थां मिथः स्वद्वेषिणीन्नच ।
ननाशयेत्स्वसेनांतु सहसा युद्ध कामुकः ॥१२५१॥

शत्रु के नाश में ऐसी सेना को नियुक्त न करे-जो शत्रु के राष्ट्र में ही किसी प्रकार रह चुकी हो । और न परस्पर द्वेष करने वाले सैनिकों की सेना को इस काम पर लगावे । युद्ध का अभिलाषी राजा, किसी भी छोटे मोटे काम में अपनी सेना का अचानक नाश न करवा देवे ॥१२५१॥

दानमानैर्वियुक्तोपिन भृत्यो भूपतिं त्यजेत् ।
समये शत्रुसान्नैव गच्छेज्जीव घनाशया ॥१२५२॥

उत्तम सेवक दान मान से रहित होकर भी अपने स्वामी को न छोड़े। जीवन और धन की लालसा से सुभृत्य कभी शत्रु के अधीन न होवे ॥१२५१॥

मेघोदकैस्तुया पुष्टिः साकिंनद्यादि वारितः।
प्रजा पुष्टिर्नृप द्रव्यैस्तथा किंधनिनां धनात् ॥१२५३

जो अन्न की पुष्टि मेघ के जल से होती है, नदी आदि से जल से नहीं हो सकती है प्रजा की पुष्टि जो राजा के धन से होती है, वह धनिकों के धन से कदापि नहीं हो सकती ॥१२५३॥

दर्शयन्मार्दवं नित्यं महावीर्य बलोपिच।
रिपुराष्ट्रे प्रविश्यादौतत्कार्ये साधको भवेत् ॥१२५४॥

राजा कितना भी महाबली शक्तिशाली हो, अपनी कोमलता दिखाता रहे, राजा शत्रु के राष्ट्र में घुसकर उसके कार्य का साधक बन जावे ॥१२५४॥

संजात बद्धमूलस्तु तद्राज्यमखिलं हरेत्।
अथ तत् द्विष्टदायादान्सेन पानं शदानतः ॥१२५५॥
तद्राज्यस्य वशी कुर्यान्मूल मुन्मूल यन्बलात्।
तरोः संक्षीण मूलस्यशाखाः शुष्यंति वैयथा ॥

जब राजा की शत्रु के राज्य में मूल बंध जावे-तब वह शत्रु के सारे राज्य का अपहरण कर लेवे। इसके अनन्तर शत्रु के द्वेषी दामाद (बन्धु बान्धवों) और सेनापतियोंको यथाशक्ति भूमि कोश

आदि के अंश का दान देकर उसके राज्य को अपने वश में करले और इस तरह बलपूर्वक शत्रु के मूल को उखाड़ फेंके। जब वृक्ष की जड़ उखड़ जाती है, तो उसकी शाखा और पत्र स्वयं सूख जाते हैं ॥१२५५-१२५६॥

सद्यःकेचिच्चकालेन सेनपाद्याः पतिंविना ।
राज्य वृक्षस्य नृपतिर्मूलं स्कंधाश्च मंत्रिणः ॥१२५७॥
शाखाः सेनाधिपा सेनाःपल्लवाः कुसुमानिच ।
प्रजाः फलानि भूभागा बीजं भूमिः प्रकल्पिता ॥

अपने स्वामी राजा के न रहने पर कोई सेनापति तो फौरन वश में हो जाते हैं और कोई समय पर थोड़े दिन में वश में आजाते हैं। राज्यरूपी वृक्ष का मूल राजा और मन्त्री आदि स्कन्ध होते हैं। सेनापति शाखा माने गए हैं। सेनापति, प्रजा पुण्यभूमि के भागफल, और भूमि बीज होती है ॥१२५७-१२५८

विश्वस्तान्य नृपस्यापिन विश्वासं समाप्नुयात् ।
नैकांतिन गृहे तस्यगच्छेदल्प सहायवान् ॥१२५९॥

विश्वास के योग्य भी अन्य राजा का कभी विश्वास न करे। से सहायक साथ लेकर कभी शत्रु के घर में अकेला न जावे ॥

स्ववेष रूप सदृशान् निकटे रक्षयेत्सदा ।
विशिष्ट चिह्नगुप्तः स्यात्समये ऽन्यादृशोभवेत् ॥

राजा अपने समान वेष भूषा वाले, वीरों को सर्वदा साथ रखे। राजा अपने पास कोई विशेष चिन्ह रखे। समय के ऊपर अन्य वीर का रूप धारण करके शत्रु के घेरे से निकल जावे॥

वेश्याभिश्च नटैर्मद्यै र्गायकैर्मोहयेदरिम्।
सुवस्त्रा भरणैर्नैवन कुटुंबेन संयुतः॥१२६१॥
विशिष्ट चिह्नितो भीतो युद्धे गच्छेन्नवै क्वचित्।
नर्णानासावधानः स्याद्भृत्यस्त्री पुत्र शत्रुषु॥१२६२

शत्रु को वेश्या, नट, मदिरा और गवैयों से मोहित रखे। उत्तम वस्त्र, आभूषण, कुटुम्ब से युक्त होकर राजा कभी युद्ध में न जावे। भृत्य स्त्री पुत्र और शत्रु के विषय में कभी असावधानी न करे। सर्वदा इनसे चौकन्ना बना रहे॥१२६१-१२६२॥

जीवन्सन्स्वामिता पुत्रेन देयाप्य खिलाक्वचित्।
स्वभाव सद्गुणे यस्मान्महाऽनर्थं मदावहा॥१२६३॥

राजा अपने जीवन में कभी सब बातों का अधिकारी पुत्र को न बना देवे। यदि पुत्र सद्गुणी हो–तो भी स्वामिता, उसमें अनर्थ और मद उत्पन्न करके पिता से उसे विरुद्ध कर देगी॥

विष्णवाद्यै रपिनोदत्तास्व पुत्रेस्वाधिकारता।
स्वायुषः स्वल्पशेषेतु सत्पुत्रे स्वाम्यमादिशेत॥१२६४

विष्णु (राम) आदि ने भी अपने पुत्रों को जीवनावस्था में अधिकार नहीं दिए। जब अपनी आयु का बहुत ही थोड़ा भाग शेष रह जावे, तब अपने पुत्र को राज्य का अधिकार दे देवे॥

नाराजकं क्षणमी पराष्ट्रं धर्तुंक्षमाः किल ।
युवराजादयः स्वाम्य लोभंचापल गौरवात् ॥१२६५

ये युवराज आदि राज सेवक, राजा के बिना क्षणभर भी राज्य के चलाने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। क्योंकि स्वामिपन का लालच और बाल सुलभ चपलता कभी राज्य को चलाने नहीं देती है ॥१२६५॥

प्राप्योत्तमं पदं पुत्रः सुनीत्या पालयन् प्रजाः ।
पूर्वामात्येषु पितृवद्गौरवंसं प्रधारयेत् ॥१२६६॥

जब पुत्र को राज्य की प्राप्ति हो जावे, तो वह नीति पूर्वक प्रजा का पालन करे। यह नवीन राजा, पूर्व अमात्यों का पिता के समान आदर सत्कार करता रहे ॥१२६६॥

तस्यापिशासनं तैस्तु प्रधार्यं पूर्वतोधिकम् ।
युक्तं चेदन्यथा कार्यं निषेध्यं कालल्लंबनैः ॥१२६७॥

युवराज पदवी के समय जो शासन मन्त्री आदि मानते थे, उससे भी अधिक अब राजा होजाने पर वे इस नवीन राजा का शासन मानें। परन्तु यह सब कुछ इस नये राजा की आज्ञा उचित हो तो ऐसा करे। यदि अनुचित हो तो मन्त्री आदि कार्य सम्पादनमें इस प्रकार से निषेध करदें ॥१२६७॥

तदनीत्यान वर्तेयुस्तेन साकंध नाशया ।
वर्तंते यदनीत्याते तेन साकं पतंत्यरात् ॥१२६८॥

मन्त्री लोग, धन के लोभ से राजा की अनुचित नीति के साथ न खिच जावें। यदि मन्त्री अन्याय के साथ बर्ताव करेंगे, तो वे राजा को साथ लेकर शीघ्र नष्ट होजावेंगे ॥१२६८॥

कुलभक्तांश्चयो द्वेष्टि नवीनं भजतेजनम् ।

सगच्छेच्छत्रु साद्राजा धन प्राणैर्वियुज्यति ॥१२६९॥

जो राजा, अपने कुल के भक्त सेवकों को छोड़कर नये २ सेवक बनाता है, वह राजा शत्रु के आधीन हो जावेगा और एक दिन उसको धन और प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा ॥१२६९॥

गुणी सुनीतिर्नव्योपि परिपाल्यस्तु पूर्ववत् ।

प्राचीनैः सहतं कार्येह्यनुभूय नियोजयेत् ॥१२७०॥

यदि नवीन सेवक गुणवान् और नीतिमान् है, तो उसका भी प्राचीन सेवकों की तरह आदर करना चाहिए। नवीन सेवक को काम में लगा कर देखलेवे और फिर उसको प्राचीन मन्त्री आदि के साथ में राजा नियुक्त कर देवे ॥१२७०॥

अति मृदुस्तुति नति सेवादान प्रियोक्तिभिः ।

मायिकैः सेव्यते यावत्कार्यं नित्यंसु साधुभिः ॥

मायावी लोग, बड़ी नम्र प्रकृति, स्तुति, नमस्कार, सेवा, दान और प्रिय उक्तियों में (खुशामद की बातों) से तब तक राजा की सेवा करते हैं, जब तक उनका स्वार्थ रहता है, परन्तु सज्जन अपने स्वामी की सर्वदा सेवा में तत्पर रहते हैं ॥१२७१॥

प्रत्यक्षंवा परोक्षंवा सत्य वाग्भिर्नृपोऽपिच ।

याथार्थ्य तस्तयोरी दृगंतरंखभुवोर्यथा ॥१२७२॥

इन मायावी और सज्जनों की बात को राजा यथार्थ रूप से अनुभव करले, कि दुष्टजन सामने ही मीठी २ बातें बनाता है। इस तरह राजा इन सज्जन और दुर्जनों के आकाश और पृथ्वी के समान अन्तर को अच्छी तरह समझ लेवे ॥१२७२॥

मायायाजनका धूर्त जार चोर बहुश्रुताः ।
प्रतिष्ठितो यथा धूर्तोन तथातु बहुश्रुतः ॥१२७३॥

धूर्त, व्यभिचारी, चोर और बहुश्रुत विद्वान, मायावी होते हैं। इनमें भी धूर्त जितना चालाक होता है, उतना बहुश्रुत नहीं होता ॥१२७३॥

परस्वहरणे लोकेजार चोरौतु निंदितौ ।
तावप्रत्यक्षं हरतः प्रत्यक्षं धूर्तएवहि ॥१२७४॥

दूसरे के द्रव्य के अपहरण में चोर जार (व्यभिचारी) बड़े प्रसिद्ध हैं, जिनकी सर्वत्र निन्दा होती है। ये लोग, तो पीछे से द्रव्य का अपहरण करते हैं, परन्तु धूर्त तो प्रत्यक्ष में ही धन का अपहरण कर लेता है ॥१२७४॥

हितंत्वहित वच्चांते अहितं हितवत्सदा ।
धूर्ताः संदर्श यित्वाऽज्ञं स्वकार्यं साधयंतिते ॥१२७५

ये धूर्तजन, मूर्ख राजा के सन्मुख मित्र को शत्रु और शत्रु को मित्र दिखाकर अपना कार्य नित्य गाँठा करते हैं ॥१२७५॥

विस्रंभयित्वा चात्यर्थं मायया घातयन्तिते ।
यस्यचा प्रियमन्विच्छेत्तस्य कुर्यात्सदा प्रियम् ॥१२७६

ये दुर्जन, प्रथम विश्वास उत्पन्न करते हैं, और फिर बिल्कुल

नष्ट कर देते हैं। जिसका अप्रिय करना चाहते हैं, उसके साथ सर्वदा प्रिय भाषण करते रहते हैं ॥१२७६॥

व्याधो मृगवधं कर्तुं गीतं गायति सुस्वरम् ।
मायां विनामहा द्रव्यं द्राङ्न संपाद्यते जनैः ॥१२७७

व्याध, मृग के मारने के लिए मीठे स्वर में गान किया करता है। छल कपट के बिना कौन मनुष्य, धन राशि को बहुत शीघ्र ग्रहण कर सकता है ॥१२७७॥

विना परस्वहरणान्न कश्चित्स्यान्महाधनः ।
माया वातु विनातद्धिन साध्यंस्याद्यथेप्सितम् ॥

अन्य के द्रव्य के अपहरण के बिना कौन दरिद्री बहुत शीघ्र महाधनी बन सकता है। माया (छल कपट) के बिना कभी भी धनापहरण का महान स्वार्थ धूर्त को कभी प्राप्त नहीं हो सकता है

स्वधर्मं परमं मत्वा परस्वहरणं नृपाः ।
परस्परं महा युद्धं कृत्वा प्राणांस्त्यजंत्यपि ॥१२७९

राजा लोग, अन्य के धन के अपहरण करने को ही अपना परम धर्म बना बैठे हैं। ये लोग, अन्य के धन के लालच में महायुद्ध करते हैं, जिसमें इनको अपने प्राणों की भी आहुत दे देनी पड़ती है ॥१२७९॥

राज्ञोयदिन पापं स्याद्दस्यूनामपि नोभवेत् ।
सर्वं पापं धर्मरूपं स्थित माश्रय भेदतः ॥ १२८०॥

यदि इस तरह अन्य के धन के अपहरण में राजाओं को पाप नहीं लगे, तो फिर लुटेरों को ही क्या पाप हो सकता है।

यदि ऐसा हुआ तो बलवान् के पास जाकर तो सारे पाप ही धर्म रूप हो जावेंगे ॥१२८०॥

बहुभिर्यस्तुतोधर्मो निंदितोऽधर्म एवसः ।
धर्मतत्त्वंहि गहनं ज्ञातुं केनापि नोचितम् ॥१२८१॥

जिस कर्म की बहुत से लोग स्तुति करें, वह धर्म और जिसकी बहुत से लोग निन्दा करें, वह अधर्म होता है। धर्म का तत्व बड़ा गहन है, इसको कोई नहीं जान सकता है ॥१२८१॥

अति दानतपः सत्य योगोदारिद्यकृत्त्विह ।
धर्मार्थौ यत्रनस्यातांत द्वाकामं निरर्थकम् ॥१२८२॥

अत्यन्त दान, तप, सत्य और योग ये सब जगत् में दरिद्र उत्पन्न करने वाले हैं। जिस काम में धर्म और (धन) नहीं होता वह निरर्थक समझना चाहिए ॥१२८२॥

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थोन कस्यचित् ।
अतोर्थाययतेतैव सर्वदा यत्नमास्थितः ॥१८८३॥
अर्थाद्धर्मश्च कामश्च मोक्षश्चापि भवेन्नृणाम् ।

पुरुष; धन का दास है, धन किसी का दास नहीं है। यही तो कारण है कि मनुष्य रात दिन धन के कमाने में प्रयत्न करता रहता है। धन से धर्म, काम और मोक्ष-सब कुछ मिल जाते हैं॥

शस्त्रास्त्राभ्यां विनाशौर्यं गार्हस्थ्यंतु स्त्रियंविना ॥१२८४
ऐकमत्यं विना युद्धं कौशल्यं ग्राहकं विना ।
दुःखाय जायते नित्यं सुसहायं विना विपत् ॥१२८५

शस्त्र और अस्त्रों के विना शूरवीरता, स्त्री के विना गृहस्थ

एक लक्ष्य के बिना युद्ध, ग्राहक बिना कुशलता और सहायक के बिना विपत्ति, केवल दुःख के लिये होती है ॥१२८४-१२८५॥

नविद्यतेतु विपदि सुसहायं सुहृत्समम् ।
लघोरप्यप मानस्तु महावैराय जायते ॥१२८६॥

विपत्तिमें उत्तम मित्र ही सहायक होता है, अन्य कोई विपत्ति में साथी नहीं रहता है। क्षुद्र व्यक्ति का अपमान भी महान् वैर के लिए होता है ॥१२८६॥

दानं मानं सत्यशौर्यं मृदुताहि सुहृत्करम् ।
सर्वाना पदिरहसि समाहूयलघून्गुरून् ॥१२८७॥
भ्रातृन्बंधूंश्च भृत्यांश्च ज्ञातीन्सभ्यान्पृथक्पृथक् ।
यथार्हं पूज्य विनतं स्वभीष्टंयाचयेन्नृपः ॥१२८८॥

दान, मान, सचाई, शूरवीरता और कोमलता ये सब मित्रता को उत्पन्न करने वाली हैं। आपत्ति के समय राजा, सब छोटे बड़ों को एकान्त में बुलाकर तथा भ्राता बन्धु, भृत्य, ज्ञाति और सभ्यों को पृथक् २ बुलाकर एवं उनकी यथा योग्य पूजा करके नम्रता के साथ उनके सन्मुख अपने मनोरथ की सिद्धि का प्रस्ताव रखे ॥१२८७-१२८८॥

आपदं प्रतरिष्यामो यूयंयुक्त्या वदिष्यथ ।
भवंतो ममिमत्राणि भवत्सुनास्ति भृत्यता ॥१२८९॥

हे भद्र पुरुषो! तुम लोग, ऐसी युक्ति बताओ, जिससे मैं इन आपत्तियों से मुक्त होजाऊँ। आप लोग तो हमारे मित्र हैं, तुम लोग कोई हमारे भृत्य नहीं हो ॥१२८९॥

नभवत्सदृशास्त्वन्ये सहायाः संतिमेह्यतः ।
तृतीयांशं भृतेर्ग्राह्य मर्धंवा भोजनार्थकम् ॥१२६०॥
दास्याम्यापत्समुत्तीर्णः शेषं प्रत्युपकारवित् ।

तुम्हारे समान अब इस विपत्ति में मेरा अन्य कौन सहायक हो सकता है। अब तुम लोगों को अपनी भृति का आधा या तीसरा अंश और अधिक भोजन (भत्ते) के निमित्त मिला करेगा। मैं तुम्हारे उपकारको नहीं भूलूंगा—और इस विपत्ति से छुटकारा मिलने पर और भी सब कुछ प्रदान करूंगा ॥१२६०॥

भृतिं विनास्वामि कार्यं भृत्यः कुर्यात्समाष्टकम् ॥
षोडशाब्दं धनीयः स्यादितरोर्थानुरूपतः ।
निर्धनैरन्न वस्त्रंतु नृपाद्ग्राह्यं दचान्यथा ॥१२६२॥

यदि सेवक को आपत्काल में राजा की ओर से भृत्ति (नौकरी) न मिले तो भी वह आठ वर्ष तक काम करता रहे। जो भृत्य धनवान हो-वह सोलह वर्ष तक स्वामी के कार्य को बिना वेतन चलावे। अन्य सेवक अपनी शक्ति के अनुसार आपत्काल में राजा की सहायता करें। जो सेवक बिल्कुल निर्धन हो, वह अन्न वस्त्र लेकर राजा की सेवा में तत्पर हो जावें, इस कठिन समय में अधिक लेने की इच्छा न करे ॥१२६१-१२६२॥

यतोभुक्तं सुखं सम्यक्तद्दुःखैर्दुःखितोनचेत् ।
विनिंदति कृतघ्नस्तु स्वामी भृत्योन्य एववा ।

जिसके राज्य में सुख भोगा-यदि उसके दुःख में दुखी न होंगे-तो राजा या अन्य भृत्य उन सेवकों को कृतघ्न बतावेंगे ॥

सकृत्सु भुक्तंयस्यापि तदर्थं जीवितं त्यजेत् ।
भृत्यः सएवसु श्लोको नापत्तौ स्वामिनं त्यजेत् ॥

जिस राजा का कुछ दिन भी अन्न खाया है, उसके लिए भी सेवक का कर्तव्य है कि समय पर प्राण दान करदे। सेवक तो वही श्रेष्ठ है, जो आपत्ति के समय में भी कभी अपने स्वामी का साथ न छोड़े ॥१२६४॥

स्वामी सएवविज्ञेयो भृत्यार्थे जीवितं त्यजेत् ।
नरामसदृशो राजापृथिव्यां नीतिमान भूत् ॥१२६५॥
सुभृत्यता तुयन्नीत्यावानरै रपि स्वीकृता ।

स्वामी भी वही प्रशंसित माना गया है, जो सेवकों के निमित्त अपने प्राणों का भी विसर्जन कर देवे। ऐसा नीतिमान् तो पृथिवी पर रामचन्द्र राजा हुए थे, उनके समान कोई भी ऐसा प्रजापालक राजा नहीं हुआ। रामचन्द्रजी की सुनीति के कारण ही वानरों ने उनकी दासता स्वीकार की ॥१२६५॥

अपिराष्ट्र विनाशाय चोराणामेकचित्तता ॥१२६६॥
शक्ताभवेन्न किंशत्रु नाशाय नृप भृत्ययोः ।

जब राष्ट्र के विनाश के लिए चोर लुटेरे-एकमत होकर चढ़ आते हैं, तो क्या राष्ट्र की रक्षा के निमित्त स्वामी और सेवकों में भी एकमत नहीं होगा। जिसमें शत्रु का नाश करना है ॥१२६६

न कूटनीतिर भवत् श्रीकृष्ण सदृशो नृपः ॥१२६७॥
अर्जुनात् ग्राहितास्वस्य सुभद्रा भगिनी छलात् ।

श्रीकृष्ण के समान कूटनीतिपरायण राजा नहीं हुआ। जिसने अपने बन्धु बान्धवों को चकमा देकर अपनी बहन सुभद्रा को अर्जुन के साथ भगवादी ॥१२६७॥

नीति मतांतु सायुक्तिर्याहि स्व श्रेयसेखिला ॥१२६८
नात्म संगोपने युक्तिं चिंतयेत्स पशोर्जडः ।

नीतिमान लोगों की तो वही उत्तम युक्ति है, जिससे अपना कल्याण हो जावे। जो मनुष्य, अपनी रक्षा की युक्ति का विचार न करे-वह तो पशु से भी अधिक जड़ है ॥१२६८॥

जार संगोपने छद्म संश्रयंति स्त्रियोऽपिच १२६९॥
युक्तिश्छलात्मिका प्रायस्तथा न्यायोजनात्मिका ।
यच्छद्म चारि भवति तेनच्छद्म समाचरेत् ॥१३००

साधारण बुद्धि रखने वाली स्त्रियां भी अपने जार के छुपाने में कितना छल करती हैं। युक्ति में तो प्रायः छल घुसा रहता है। दूसरी धर्मनीति, मिलाप कराने वाली है, जो छल करने वाला हो, उसी के साथ छल करना चाहिए ॥१२६९-१३००॥

अन्यथा शीलनाशाय महतामपि जायते ।
अस्ति बुद्धिमतां श्रेणिर्नत्वेको बुद्धिमानतः ॥१३०१॥

यदि छली के साथ छल न किया जावेगा-तो बड़े२ लोगों का भी विनाश होजावेगा। बुद्धिमान भी बहुत से मनुष्य होते हैं। कोई हम ही अकेले बुद्धिमान् नहीं हैं ॥१३०१॥

देशे कालेच पुरुषे नीतिं युक्तिमनेकधाम् ।
कल्पयंतिच तद्विद्यां दृष्ट्वारुद्धांतु प्राक्तनाम् ॥१३०२

जैसा देशकाल और पुरुष हो-उसी के अनुसार देखकर अनेक प्रकार की युक्ति निकाली जाती हैं। यह सब कुछ अपनी एक युक्ति के रुकने पर दूसरी युक्ति खड़ी की जाती है ॥१३०२॥

मंत्रौषधि पृथग्वेषकालवागर्थ संश्रयात् ।
छद्म संजनयंती हतद्विद्या कुशलाजनाः ॥१३०३॥

जो लोग पाप करने में कुशल हैं, वे मंत्र, औषध, पृथक् २ वेष, काल, वाणी और अर्थ के आश्रय से छल का आश्रय लिया करते हैं ॥१३०३॥

लोकोऽधिकारी प्रत्यक्षं विक्रीतं दत्तमेववा ।
वस्त्र भांडादिकं क्रीतं स्वचिह्नै रं कयेच्चिरम् ॥१३०४

जो मनुष्य, राज्य का अधिकारी है, वह प्रत्यक्ष में बेचे हुए या दिए हुए या खरीदे हुए वस्त्र वर्तन आदि पर अपने नाम का चिन्ह करवा देवे, जिससे धोखा होने की आशंका कम होजावे ॥१३०४॥

स्तेनकूट निवृत्त्यर्थं राजज्ञानं समाचरेत् ।
जडांधबाल द्रव्याणां दद्याद्वृद्धिं नृपःसदा ॥१३०५॥

चोरी और छल का ढंग न बन जावे-इसलिए ऐसी चीजों पर राजा का भी ज्ञान करादे, अर्थात् राजा की भी मुहर लगवा लेवे। जड़, अन्धे और बालक के द्रव्य को राजा सर्वदा व्याज के साथ वापिस लौटावे ॥१३०५॥

स्वीयातथाचसामान्या परकीयातुस्त्रीयथा ।
त्रिविधो भृतकस्तद्वदुत्तमोमध्यमोऽधमः ॥१३०६॥

स्वीया सामान्या और परकीया—जिस तरह तीन तरह की स्त्री होती हैं, उसी तरह उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के नौकर होते हैं॥१०६॥

स्वामिन्ये वानुरक्तोयो भृतकस्तूत्तमः स्मृतः ।
सेवते पुष्ट भृतिदं प्रकरंसचमध्यमः ॥१३०७॥
पुष्टोपि स्वामिनाऽव्यक्तं भजतेन्यं सचाधमः ।
उपकरोत्यप कृतोह्युत्तमोप्यन्यथाधमः ॥१३०८॥

जो सेवक, स्वामी में अनुरक्त होता है, वह उत्तम माना गया गया है। जो अधिक भृति (तनख्वाह) के कारण अच्छी तरह सेवा करे वह मध्यम सेवक है। अपने स्वामी के अच्छी तरह पुष्ट करने पर भी जो अन्य स्वामी से मेल लगाता रहता है। वह अधम है। जो अपकार करने पर भी उपकार करे, वह उत्तम और जो उपकार करने पर भी अपकार करे—वह अधम होता है॥

मध्यमः साम्यमन्विच्छेदपरः स्वार्थतत्परः ।
नोपदेशं विनासम्यक् प्रमाणैर्ज्ञायते खिलम् ॥१३०६॥

जो सेवक अन्य के साथ समानता चाहे, वह मध्यम और जो अपने ही स्वार्थ में तत्पर रहे, वह अधम माना गया है। सेवकों का ज्ञान इन प्रमाणों से नहीं हो सकता, उनका ज्ञान तो कभी समय पर देखने से ही होता है ॥१३०६॥

बाल्यंत्राप्यथ तारुण्यं प्रारंभित समाप्तिदम् ।
प्रायो बुद्धिमतो ज्ञेयंन वार्धक्यं कदाचन ॥१३१०॥

बचपन और युवावस्था ही अपने प्रारम्भित कार्य की समाप्ति के योग्य अवस्था है। बुद्धिमान् को यह समझ लेना चाहिए कि बुढ़ापे में कुछ नहीं हो सकेगा ॥१३१०॥

आरंभंतस्य कुर्याद्धियत्समाप्तिं सुखं व्रजेत् ।
नारंभो बहुकार्याणामेकदैव सुखावहः ॥१३११॥

मनुष्य उसी काम का आरम्भ करे, जिसकी समाप्ति सुखसे हो जावे। एक समय में बहुत से कामों का आरम्भ कभी सुख-दायी नहीं हो सकता ॥१३११॥

नारंभित समाप्तिंतु विनाचान्यं समाचरेत् ।
संपाद्यतेन पूर्वंहिनापरं लभ्यतेयतः ॥१३१२॥

जब तक आरम्भ किए हुए कार्य की समाप्ति न हो जावे, तब तक अन्य कार्य का आरम्भ नहीं करना चाहिए इस तरह तो पूर्व कार्य भी पूरा नहीं हो सकेगा और पीछे आरम्भ किया हुआ कार्य भी पड़ा रह जावेगा ॥१३१२॥

कृतीतत्कुरुते नित्यं येत्समाप्तिं व्रजेत्सुखम् ।
ईर्ष्या लोभोमदः प्रीतिः क्रोधो भीतिश्चसाहसम् ॥
प्रवृत्तिच्छिद्रहेतूनि कार्ये सप्तबुधाजगुः ।

बुद्धिमान मनुष्य, ऐसे ही काम में लगे, जिसकी समाप्ति वह सुख से करले। ईर्ष्या, लोभ, मद, प्रीति, क्रोध, भीति और

साहस ये सात बातें किसी कार्य के बिगाड़ने में कारण हैं। ऐसा बुद्धिमानों का विचार है ॥१३१३॥

यथाछिद्रं भवेत्कार्यं तथैवेह समाचरेत ॥१३१४॥
अविसंवादि विद्वद्भिः कालेतीतेपिचापदि ।

जिस तरह अपने कार्य में कोई त्रुटि उत्पन्न न होवे, उसी तरह कार्य का आरम्भ करना चाहिए। चाहे समय निकल गया हो। आपत्काल चल रहा हो, परन्तु मतभेद से रहित कार्य करने पर उसके पूर्ण होजाने की बहुत कुछ आशा है ॥१३१४॥

दश ग्रामी शतानीकौ परिचारक संयुतौ ॥१३१५॥
अश्वस्थौ विचरेयातां ग्रामपाद्य पिचाश्वगाः ।

दस ग्राम का स्वामी और सेना का सेनापति सेवकों से संयुक्त होकर अश्वों पर चढ़कर गांवों का दौरा करें। इसके साथ घोड़ों के साथ २ चलने वाले पैदल भी होने चाहिए ॥१३१५॥

साहस्रिकः शतग्रामी एकाश्व रथ वाहनौ ॥१३१६॥
सहस्रं ग्रामपो नित्यंनरश्वद्व्यश्व यानगः ।

सहस्र सेना का सेनापति, सौ ग्राम का स्वामी, एक अश्व और रथ के वाहन पर गांवों की पड़ताल को चल देवें। जो सहस्र गांव का अधिपति है, वह दो अश्व और रथ आदि पर अपना दौरा करे ॥१३१६॥

आयुति कोविंशतिभिः सेवकैर्हस्तिना व्रजेत् ॥१३१७॥
अयुतग्रामपः सर्वयानैश्च चतुरश्वगैः ।

जिसके पास दश हजार सेना है, वह सेवकों के साथ हाथी

पर दौरा कर सकता है जिसके पास दश हजार गांव हैं, वह सब तरह के यान लेकर चार २ अश्वों के साथ गमन कर सकता है ॥

पंचायुती सेनपोपि संचरेद्बहु सेवकः ॥१३१८॥
यथाधिकाधिपर्य्यंतुवीद्याधिक्यं प्रकल्पयेत् ।

जिसके पास पचास हजार सेना पद है, वह बहुत से सेवकों के साथ घूम सकता है। इसी तरह जिसका जितना बड़ा अधिकार है, वह उतने ही सेवक और वैसे ही वाहनों से गमन कर सकता है

कल्पयेच्च यथाधिक्यं धनिकेषुगुणिष्वपि ॥१३१६।
श्रेष्ठोनमानहीनः स्यान्न्यूनो मानाधिकोपिन ।
राष्ट्रे नित्यं प्रकुर्वीत श्रेयोर्थी नृपतिस्तथा ॥१३२०॥

इसी तरह धनवान और गुणियों की यात्रा का भी राजा को नियम बना देना चाहिए, कि इतना धनी और इतना गुणी इतने घोड़ों की गाड़ी में निकल सकता है। किसी तरह श्रेष्ठ पुरुष के मान में कमी न आवे और अयोग्य को मान न मिले इस तरह की राजा व्यवस्था करे। अपना कल्याण चाहने वाला राजा, अपने राष्ट्र में इन नियमों का प्रचार करदे ॥१३१६-१३२०॥

हीनमध्योत्तमानांतु ग्रामे भूमिं प्रकल्पयेत् ।
कुड्यं बिना गृहार्थंतु पत्तनेपि नृपः सदा ॥१३२१॥
द्वात्रिंशत्प्रमितैर्हस्तैर्दीर्घार्धा विस्तृताधमा ।
उत्तमादिगुणा मध्यासार्धमानायथार्हतः ॥१३२२॥

कुटुंब संस्थिति समानन्यूनानाधिकापिन ।
ग्रामाद्बहिर्वसे युस्तेयेयेत्त्वधिकृता नृपैः ॥१३२३॥

जो जैसा उत्तम, मध्यम और अधम हो, उसको उसकी प्रतिष्ठा या गुण के अनुसार राज, भूमि का भाग भी प्रदान करे। राजा, परिवार वालों को घर बनाने को नगर में भी भूमि देवे। बत्तीस हाथ लम्बी और सोलह हाथ चौड़ी भूमि घर बनाने को उत्तम लोगों को राजा प्रदान करे। इससे आधे प्रमाण की यथा-योग्य मध्यम और अधम लोगों को दी जावे। यह भूमि प्रत्येक को उसके कुटुम्ब के परिमाण में देनी चाहिए। कुटुम्ब के परि-माण से न्यून और अधिक देना ठीक नहीं है। जिन २ लोगों को राजा ने राज्य में अधिकार दे रखा है, वे गांव के बाहर कोठी बनाकर रहें ॥१३२१-१३२३।

नृपकार्यं विनाकश्चिन्न ग्रामे सैनिको विशेत् ।
तथान पीडयेत्कुत्र कदापि ग्रामवासिनः ॥१३२४॥

राजा के काम के विना कोई सैनिक गांव के भीतर न घुसे, इस तरह कोई भी सैनिक किसी भी ग्रामवासी को पीड़ा न पहुंचाए ॥१३२४॥

सैनिकैर्न व्यवहरेन्नित्यं ग्राम्य जनोपिच ।
श्रावयेत्सैनिकान्नित्यं धर्मं शौर्य विवर्धनम् ॥१३२५

ग्राम के निवासी जन भी सैनिक लोगों से कोई अपना सम्बन्ध न बढ़ावें। सैनिकों को राजा नित्य धर्म सम्बन्धी शूर वीरता के बढ़ाने वाला बातें सुनवावे ॥१३२५॥

सुवाद्य नृत्य गीतानि शौर्य वृद्धिकराण्यपि।
युद्ध क्रियां विनाशौर्यं योजयेन्नान्य कर्मणि ॥१३२६॥

राजा सैनिकों को बाजे, नाच गान भी ऐसे ही सुनने देवे, जिनसे शूरवीरता की वृद्धि होवे, सैनिक भी युद्धके सिवा अन्यत्र कहीं भी अपना शौर्य प्रकट न करें ॥१३२६॥

सत्याचारास्तु धनिका व्यवहारेहतायदि ।
राजा समुद्धरेत्तांस्तु तथान्यांश्च कृषीवलान् ॥१३२७॥

सत्य आचरण वाले, धनिकों का यदि काम धन्धा बिगड़ जावे, या कोई किसान जमींदार नष्ट होने लगे, तो राजा उनकी सहायता करके उनको बिगड़ने न देवे ॥१३२७॥

ये सैन्य धनिकास्तेभ्यो यथार्हां भृतिमावहेत् ।
सारदेश्यंच त्रिंशांशमधिकंतद्धन व्ययात् ॥१३२८॥

जो सेना के अधिकारी, धनी हो गए हों—उनसे राजा यथायोग्य कर ग्रहण करे। जो सेना में मुख्य और देश के हों—उनसे उनके खर्च को बचाकर तीसवां भाग लेना चाहिए ॥१३२८॥

धनं संरक्षयेत्तेषां यत्नतः स्वात्म कोशवत् ।
संहरेद्धनिकात्सर्वं मिथ्याचाराद्धनं नृपः ॥१३२९॥

जब राजा इनसे कर ग्रहण करले, तो इनके धन की भी अपने कोश की भांति रक्षा करे। जो धनवान् अनुचित कर्म में लगा हो, उस पर भी राजा, कर लगा देवे ॥१३२९॥

मूलाच्चतुर्गुणा वृद्धिर्गृहीता धनिकेनच ।
अधमर्णान्नदातव्यं धनिनेतु धनंतदा ॥१३३०॥

जब धनवान, ऋणी मनुष्य से मूल धन से चोगुना धन व्याज में ले चुका हो तो फिर ऋणी को धनी के लिए कुछ भी नहीं देना चाहिए। यही धर्म व्यवस्था है ॥१३३०॥

वसु ग्रहाङ्क भूयुक्ते मासे भाद्रपदे शुभे ।
सम्पत्रामस्य पुत्रेण रामदुर्ग निवासिना ॥
शास्त्रि गङ्गाप्रसादेन, शक्रप्रस्थगतेन च ।
शुक्राचार्य नीति शास्त्रं भाषयालङ्कृतं महत् ॥

इतिश्री शुक्राचार्य निर्मितां शुक्रनीति शास्त्रं समाप्तमभूत् ॥

राजनीति का महान् ग्रन्थ

कौटिल्य अर्थशास्त्र

(मूल संस्कृत और हिन्दी अनुवाद सहित)

यह वही ग्रन्थ है जो पहले जर्मनी में छप कर ७८) में बिकता था आज तो ऐसा मालूम होता है कि जर्मन इसी ग्रन्थ के बल पर युद्ध लड़ रहा हो क्योंकि इस ग्रन्थ में—युद्ध में महीनों भूख प्यास नष्ट करने के कितने ही नुसखे, शत्रु की फौजों को अन्धा, पागल और बेहोश कर देने वाली गैसों के कितने ही नुसखे, आकृति बदल कर शत्रु को धोखे में डालने के कई उपाय, शत्रु की फौजों में अग्नि वर्षा करने वाले नुसखे और साथ ही हजारों बातें राज्य करने की भरी पड़ी हैं।

इसीलिए इस ग्रन्थ को कलकत्ता, बनारस और बम्बई की यूनीवर्सिटियों ने अपनी पाठविधी में स्थान दिया है।

इसी ग्रन्थ के लिए राष्ट्रपति पं० जवाहरलाल जी नेहरू ने लिखा था कि इस अर्थशास्त्र में·····राजाओं, मन्त्रियों, और सलाहकारों के कर्तव्यों का, राज सभा का, शासन विभाग का, व्यापार और व्यवसाय का, ग्राम और नगरों की शासन प्रणाली का, कानून और अदालतों का, सामाजिक रीतिनीति का, स्त्रियों के अधिकारों का, विवाह और विवाहविच्छेद का, टैक्सों का, सेना और नौ-सेना का, युद्ध और सन्धि का, कूटनीति का, कृषि का, कताई और बुनाई का, कलाकारों का और जेल तक का इसमें उल्लेख है इस सूची को मैं और भी बढ़ा सकता हूं।

हमारा दावा है कि आप भी इस ग्रन्थ को पढ़कर बड़े प्रसन्न होंगे। मूल्य ७)

हिन्दू जगत कार्यालय

शामली (जिला मुजफ्फरनगर)